

जैन आगमों में स्वर्ग-नरक की विभावना



चौदह राजु उत्तुंग नभ लोकपुरुष संठान ।
तामे जीव अनादितें भरमत है विन ज्ञान ॥

**जैन आगमों में स्वर्ग-नरक
की
विभावना**

लेखिका

साध्वी डॉ. हेमरेखा श्री

प्रकाशक

श्री विचक्षण स्मृति प्रकाशन

दिव्य-कृपा-वृष्टि

प.पू. समता साधिका, जैन कोकिला, प्रवर्तिनी
स्व. श्री विचक्षण श्री जी म.सा.

प्रेरिका

संघ संगठन प्रेरिका, शासन उत्कर्षिणी प.पू. श्री मनोहर श्री जी म.सा.
शांत स्वभावी प.पू. मुक्तिप्रभा श्री जी म.सा. की चरणाश्रिता
प.पू. डॉ. सुरेखा श्री जी म.सा.

लेखिका

साध्वी डॉ. हेमरेखा श्री

संस्करण

प्रथम सन् 2005

प्रकाशन

श्री विचक्षण स्मृति प्रकाशन, अहमदाबाद, नवरंगपुरा

प्राप्ति स्थान

कुशल विचक्षण संस्कार धाम, सांगानेर, दादाबाड़ी, जयपुर-303902

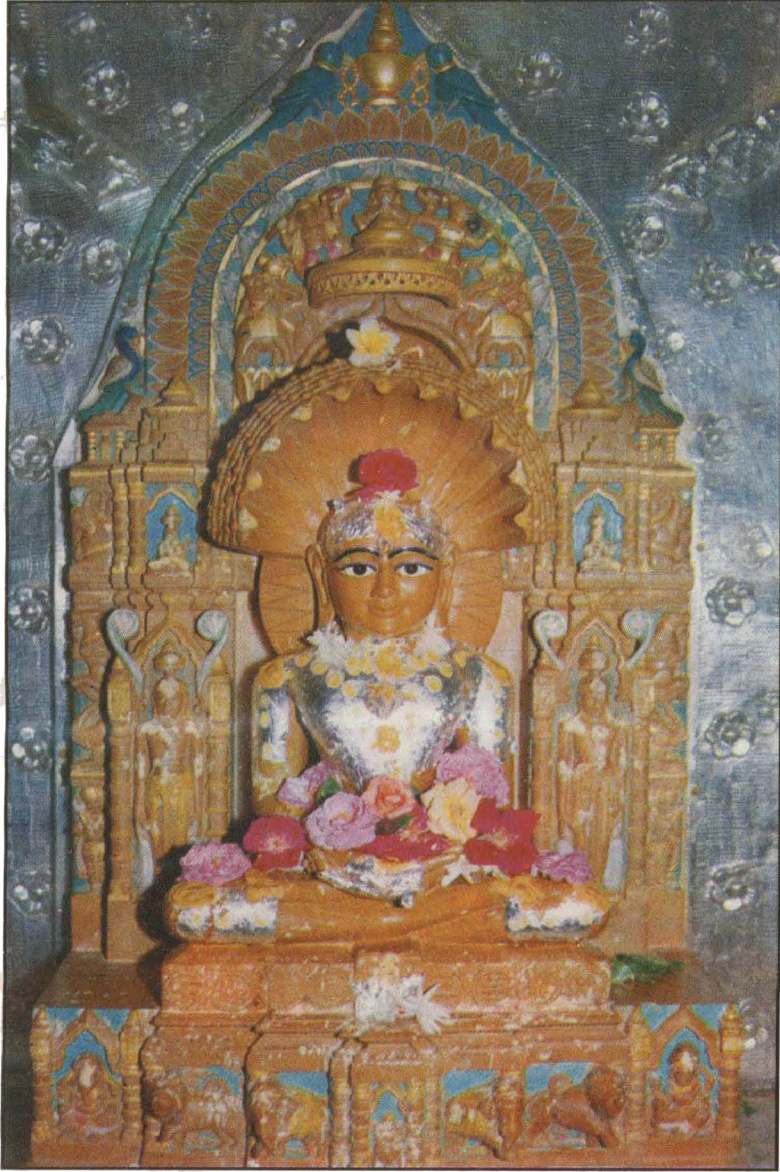
अर्थ सौजन्य

श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ जैन श्वे. मंदिर ट्रस्ट, मालवीय नगर, जयपुर

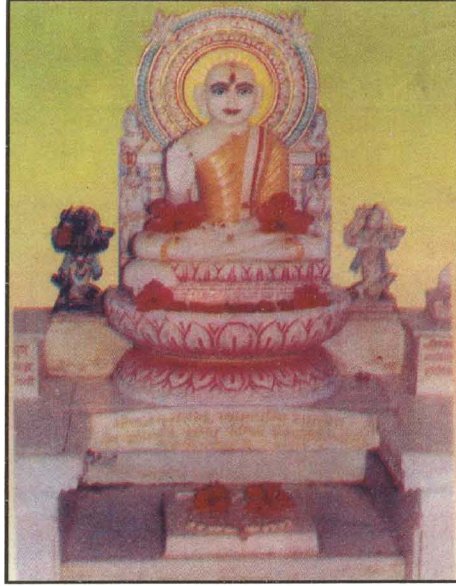
मुद्रक

कोटावाला ऑफसेट, जयपुर

मूल्य : रु. 100/-



श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ भगवान
मालवीय नगर, जयपुर



दादा जिनदत्तसूरि गुरुदेव
दादा साहेब के पगले, अहमदाबाद, नवरंगपुरा



प.पू. विचक्षण श्री जी म.सा.

प्रास्ताविक

विज्ञानवाद के इस युग में धर्म, परलोक, आत्मा और परमात्मा की वैज्ञानिक पद्धति द्वारा सिद्धि करना-करना आज सरल ही नहीं लेकिन अशक्य भी नहीं। इसके लिये प्रबल पुरुषार्थ, अपूर्व साधना और सहृदय आत्मशक्ति की पूर्ण अपेक्षा रहती है।

सभी आगमों में से अपने वक्तव्य में यत्किंचित कहने से पूर्व सर्व प्रथम यही प्रकाशित करूंगी कि “जैन आगमों में स्वर्ग-नरक की विभावना” यह शोध ग्रंथ मेरी किस अन्तःप्रेरणा का सुफल है। लौकिक व्यवहार में स्वर्ग-नरक ये शब्द प्रायः सभी धर्मस्थानों में श्रवणगोचर होते हैं। प्राणी मात्र को सुखी होने की तीव्र कामना होती है। स्वप्न में भी वे दुःखी होने की, दुःख को पाने की इच्छा नहीं रखता है। दुःख आनेवाला है, ऐसा कोई भी चिह्न उसे विदित होते ही प्राणिमात्र आकुल व्याकुल बन जाता है। सभी सुखसाधन की सामग्री निकट होने के बाद भी बिजली की करंट की तरह सुखानुभव दुःखानुभव में पलट जाता है। इसका प्रबल कारण क्या? यह प्रश्न विद्वानों को और मुख को सबको सर्वत्र हमेशा परेशान करता रहता है। फिर भी जैन धर्म के आगम शास्त्रों में और अन्य प्रमाणित ग्रंथों में इस प्रश्न का सरलता से युक्ति और तर्कपूर्ण रीतिसे उत्तर दिया गया है। शुभकर्म के उदय से सभी प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती है। अशुभ के उदय से इच्छा न होने के बाद भी अनेकधा दुःखों को पाकर दुःखी होना पडता है। संसारकी प्रत्येक घटमाला कर्म के उदय से ही अनुकूल और प्रतिकूल चलती रहती है।

दुष्कृत्य नहीं करने जैसा है। पापाचरण करने से जीव को कनिष्ठ नारकी का, तिर्यंच गति का दुःख होता है। वैसे ही सुकृत करने से देव और मानवगति में फल भोगना पडता है। जो वीतराग प्रणित आगमों से जाना जा सकता है। और प्रत्यक्ष में भी विविधता के दर्शन होने से समझा जा सकता है। विश्वभर के प्राणियों में सर्व जीवों की अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न दिखाई देती है। किसीको अत्यंत सुख होता है और कोई को दुःख के पर्वतके नीचे पिस जाना पडता है। संसार के सर्व सुखों का अनुभव करने वाला भी कोई न कोई अंतर-वेदना का अनुभव तो करता ही है इससे फलित होता है कि, विश्व कर्म सत्ता के सिकजे

में घिरा हुआ है। सुख और दुःख धुप-छाया की तरह प्रतिपल प्राप्त करता ही है। कुकृत्य करने से, पाप करने से कटुक, अनिष्ट, भयंकर फल भोगता है। इसी तथ्य का विश्लेषण इस ग्रंथ में प्रस्तुत करने का मैंने प्रयास किया है।

प्रभु कृपा के बिना कोई भी कार्य संभव नहीं हो सकता, तथापि इस शोध कार्य के विषय चयन में सहायता और सत्परामर्श के लिए दिव्य आशीर्वाद-दात्री प्रव. पू. श्री विचक्षणश्रीजी म.सा. ने मुझे परोक्ष रूप से बल दिया। इस ग्रन्थ निर्माण में प. पू. संघ सघटन प्रेरिका मरूवर्या श्री मनोहरश्रीजी. म. सा, पू. विदुषीवर्या श्री मुक्तिप्रभाश्रीजी म. सा., शोधग्रंथ की आद्यप्रेरिका पू. सुरेखाश्रीजी म. सा. ने इस कार्य में सतत प्रेरणा दी। पू. प्रशमरसाश्रीजी म. सा. आदि सभी भगिनियों की सहायता के फलस्वरूप ही यह ग्रन्थ पूर्णता की ओर अग्रसर हुआ है।

प्रस्तुत शोधग्रंथ के विषयचयन से सम्पूर्ण पूर्णाहूति तक मेरे मार्गदर्शक गुजरात युनि. भाषा-साहित्य भवन के प्राकृत-पालि विभाग के पूर्व अध्यक्ष, साहित्यरसिक, आगमज्ञाता, शान्तस्वभावी डॉ. रमणीकभाई म. शाह ने सेवा निवृत्त होने पर भी अपने अमूल्य समय में मुझे मार्गदर्शन और कुशल निर्देशन दिया है। इसलिए आपका आभार व्यक्त करती हूँ।

प्राकृत विभाग के अध्यक्ष डॉ. सलोनीबेन जोशी; संस्कृत और प्राकृत के ज्ञाता अमृतभाई पटेल एवं प्राचीन लिपि विशेषज्ञ लक्ष्मणभाई भोजक, उजमशीभाई कापडिया, डॉ. पारुलबेन, डॉ. वर्षाबेन ग. जानी, तथा ग्रंथपाल करसनभाई वणकर का भी सहयोग मिला। एवं महानिबन्ध के संशोधन में लालभाई दलपतभाई विद्यामंदिर के ग्रंथालय से मुझे जो सहायता प्राप्त हुई है, इन सभी का आभार व्यक्त करती हूँ।

खरतरगच्छ के ट्रस्टीगण तथा पेढी के मुनिम पुनमभाई एवं शशीकांतभाई शाह भी इसमें बहुत मददरूप रहे हैं। रमणीय ग्राफीक्स ने भी सुंदर प्रकार से छापने में सहयोग दिया।

अन्त में एकबार पुनः उन सभी महानुभावों के प्रति साधुवाद व्यक्त करती हूँ जो प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से सहयोगी रहे हैं।

प्रस्तुत शोधग्रंथ में कोई त्रुटि रही हो तो उसके लिए मिच्छामी दुक्कडम्।

—हेमरेखाश्री

अनुक्रमणिका

प्रकरण - १. जैन धर्म एवं साहित्य

पृ.१-३४

- सामान्य इतिहास-कालचक्र-वर्तमान तीर्थंकर चतुर्विंशिका-भगवान महावीर एवं उनकी परंपरा (पृ. १-१०)
- जैन आगम साहित्य-तीन वाचनाएँ-आगमों का परिचय-अनुयोग (पृ. ११-१९)
- जैन धर्म में नव तत्त्व-कर्म-पुनर्जन्म-गति : नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति, देव गति (पृ. १९-३१)

प्रकरण - २. जैन मान्यतानुसार लोक (विश्व) स्वरूप

पृ. ३५-५७

- समग्र लोक का संक्षिप्त परिचय-सामान्य लोक स्वरूप, देवलोक, अधोलोक, मध्यलोक, उर्ध्वलोक, सिद्धलोक (पृ. ३५-४८)
- मनुष्य एवं तिर्यंचों के निवासस्थान (पृ. ४८-४९)
- स्वर्ग और नरक का स्थान वर्णन (पृ. ४९-५२)
- मोक्ष का स्वरूप तथा स्थान (पृ. ५२-५५)

प्रकरण - ३. जैन आगमों में स्वर्ग (देवलोक)

पृ ५८-१९५

- स्वर्ग (देवलोक) का अर्थ; देव शब्द व्युत्पत्ति परक अर्थ (पृ. ५८-६०)
- देवों का जन्म-शारीरिक वर्णन-आयुष्य स्थिति; संहनन; संस्थान; विभूषा; विकुर्वणा; समुद्घात; काय प्रवीचार (पृ. ६०-७३)
- सामान्य विशेषताएँ-गति; शरीरवगाहना; परिग्रह; अभिमान (पृ. ७३-७६)
- अधिक विशेषताएँ-उच्छ्वास; आहार; वेदना; उपपात; अनुभाव; अल्पबहुत्व; दृष्टि; ज्ञान; लेश्या; गुणस्थान; प्रभाव; सुख और ह्युति; इन्द्रियविषय; अंतर; उद्वर्तना; राज्यव्यवस्था; गति-आगति (पृ. ७६-८७)
- देवों के प्रकार :

(१) भवनपति देव और उनके भेद-कुमारनाम की सार्थकता-स्वरूप निरूपण -इन्द्र का स्वरूप निरूपण-सामान्य देवों का स्वरूप निरूपण-इन्द्र का आधिपत्य- चमरेन्द्र की परिषदा का वर्णन-अन्य भवनपति देवेन्द्रों का संक्षिप्त परिचय-निवास-स्थान-भवनों का स्वरूप-वर्ण-आहार-श्वास आदि (पृ. ८८-१०१)

(२) वाणव्यन्तर देव-भेद-प्रभेद-सामान्य देवों का स्वरूप निरूपण-इन्द्र का आधिपत्य-पिशाचेन्द्र काल की परिषदा का वर्णन-व्यन्तर निकाय के इन्द्रों के नाम-इन्द्रों का परिवार-इन्द्रों की देवियाँ के नाम निर्देश-निवास-क्षेत्र-भवनों का स्वरूप-वर्ण और चैत्यवृक्ष-देवों की रुचि-व्यन्तरदेव का मनुष्यों के शरीरों में प्रवेश (पृ. १०२-१११)

(३) ज्योतिष्क देव-देवों के भेद-देवों का स्वरूप-ज्योतिष्केन्द्र का वैभव-इन्द्रों की परिषदा-चन्द्र, इन्द्र की अग्रमिहिषिया-भोगोपभोग-सूर्य; ग्रह की अग्रमिहिषिया-देव और देवियों की स्थिति-उपपात, निवास-स्थान;-विमानों का स्वरूप और प्रमाण-चन्द्र विमान का वहन-देवों की गति; ऋद्धि-ज्योतिष देवों की लोक में संचार विधि-स्थिर ज्योतिष्क-चरज्योतिष्क-कालविभाग-विमानों का विस्तृत वर्णन-चन्द्रादि की संख्या-ग्रहों का नाम निर्देश-नक्षत्र परिचय तालिका-नक्षत्रों के उदय व अस्त का क्रम-ताराओं में वृद्धि-हानि-ताराओं का अंतर (पृ. १०३-१२५)

(४) वैमानिक देव-नाम सार्थकता-विमानों के प्रकार-देवों के भेद-देवों के प्रभेद-स्वरूप निरूपण-देवों के शरीर का वर्णन-निवास-स्थान-विमानों का स्वरूप-विमानों की व्यवस्था-लोकान्तिक देव स्थान, नाम, और जाति-विमानों की मोटाई, ऊँचाई-विमानों का आकार-विमानों के रंग ओर प्रभा-कल्पोपन्न देवों का वर्णन तालिका-विशेष नाम वाले विमान (पृ. १२५-१८६)

प्रकरण - ४. जैन आगमों में नरक

पृ. १९६-२५४

- नरक-सामान्य स्वरूप-लोक में नरक का स्थान-नैरयिक का स्वरूप-उपपात-शरीर अवगाहना आदि (पृ. १९६-२०९)
- नरकभूमि का परिचय-भेद और प्रमाण-आधार (पृ. २०९-२१२)
- नारकियों का निवास स्थान-वर्ण-गन्ध-स्पर्श-संख्या-विशालता-अवगाहना-प्रस्तरों में नरकावास की रचना-पृथ्वियों का विभागवार अंतर-रत्नादिकांडों का बाहुल्य-रत्नप्रभादि में द्रव्यों की सत्ता-द्वीप-समुद्र आदि की नरक में व्यवस्था (पृ. २१२-२२७)
- नारकियों की वेदना-आकार तथा वेदना-उष्ण वेदना-शीत वेदना आदि वेदनाएँ-परस्पर उदीरित वेदना-परमाधामी कृत वेदना (पृ. २२८-२३५)
- नरकावासों के देव और उनके कार्य-नैरयिक के नरक भव का अनुभव-पुद्गल परिणाम का अनुभव-दुःखों में अपवाद-नारकों की मृत्यु (पृ. २३६-२४९)

- प्रकरण - ५. स्वर्ग-नरक विषयक अन्य धर्मों की मान्यताएँ एवं तुलना पृ. २५५-२९१
- वैदिक धर्मानुसार लोक-वर्णन : मर्त्यलोक-नरकलोक-ज्योतिर्लोक-महर्लोक, कर्मभूमि और भोगभूमि, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी काल, वर्षधर पर्वतो पर सरोवर (पृ. २५५-२६२)
 - बौद्ध मतानुसार लोक-वर्णन : लोकरचना-नरकलोक, ज्योतिर्लोक, स्वर्गलोक, क्षेत्रमाप, कालमाप, तुलना और समीक्षा (पृ. २६३-३६७)
 - तिर्यचों विषयक हिन्दु-बौद्ध-जैन मान्यता (पृ. २६७-२६९)
 - वैदिक स्वर्ग-नरक : असुरादि, देव-देवियाँ, उपनिषदों में स्वर्ग-नरक, पुराणों में स्वर्ग-नरक, बौद्ध धर्मपरंपरा में स्वर्ग-नरक, जैन सम्मत स्वर्ग-नरक से तुलना (पृ. २६९-२७८)
 - ईसाई धर्म अन्तर्गत स्वर्ग-नरक की मान्यता (पृ. २७८-२८०)
 - जरथोस्ती धर्मानुसार स्वर्ग और नरक (पृ. २८०-२८४)
 - ईस्लाम धर्म में स्वर्ग और नरक (पृ. २८४-२८७)

संदर्भ ग्रंथ सूचि

पृ. २९२-२९५

चित्रसूचि

चित्र १	:	आगमोक्त चौदह राजलोक का चित्र	पृ. ३५ के सामने
चित्र २	:	उर्ध्वलोक में देवविमानों का आकार एवं स्थान	पृ. ५८ के सामने
चित्र ३	:	अधोलोक में सातों नरक का स्वरूप	पृ. २१२ के सामने
चित्र ४	:	पहली नरक रत्नप्रभा पृथ्वी संपूर्ण चित्र	"
चित्र ५	:	रत्नप्रभा पृथ्वी का दूसरा भाग और तीन प्रस्तरें	"
चित्र ६	:	रत्नप्रभा नरक भूमि के ३ कांड	"
चित्र ७	:	नरक भूमियों में नरकावासों का आधार	"
चित्र ८	:	स्वर्ग और नरक में उत्पात पर्वत होता है।	"
चित्र ९	:	प्रत्येक नरक भूमि के पांच नरकावास; माप और आकार	"
चित्र १०	:	१. महा हिंसा का फल नरक में २. अतिशय विषयाशक्ति का फल नरक में	पृ. २२८ के सामने
चित्र ११	:	१. महा परिग्रह करने का फल नरक में २. महा आरंभ करने का फल नरक में	"

प्रकरण - १

जैन धर्म एवं साहित्य

सामान्य इतिहास :-

किसी भी धर्म के मूल सिद्धान्तों को समझने के पूर्व उसके उद्भव और विकास की कहानी जो उस धर्म/संस्कृति की परम्परा का बोध कराती है, और अनेक प्रकार के ऐतिहासिक सत्य को भी अनावृत्त करती है उसे जानना समझना चाहिए। जैनधर्म का अपना भी इतिहास है, उसके उद्भव और विकास की एक लंबी कथा है, जो उनके प्रवर्तकों/प्रचारकों से सम्बद्ध है। जहाँ तक जैन धर्म के इतिहास की बात है, इस सम्बन्ध में एक लम्बी कालावधि तक भ्रमपूर्ण स्थिति रही है। कोई इसे बौद्ध धर्म की शाखा समझते थे, तो कोई इसे वैदिक क्रियाकांडों के विरोध में उत्पन्न हुआ धर्म मानते थे। कोई भगवान महावीर को इसका संस्थापक मानने की भूल में थे, तो कोई इसके उद्भव का सम्बन्ध भगवान् पार्श्वनाथ से जोड़ते थे। भारतीय इतिहास के क्षेत्र में हुए अधुनातन अन्वेषणों ने उक्त मान्यताओं का निराकरण कर जैन धर्म की प्राचीनता को संपुष्ट किया है।

जैन मान्यता के अनुसार जैन धर्म अनादि से है, जो समय समय पर उत्पन्न होनेवाले चौबीस तीर्थकरों द्वारा प्रवर्तित होता रहा है। चौबीस तीर्थकरों की यह परम्परा अनन्तकालीन है। इस युग में जैन धर्म का प्रवर्तन भगवान् ऋषभदेव ने किया था। इसके प्रमाण स्वरूप पुरातात्विक सामग्री, ऐतिहासिक अभिलेख एवं साहित्यिक संदर्भ उपलब्ध हैं। इन्हीं के आधार पर अनेक प्राच्य व पाश्चात्य विद्वानों ने अपने गवेषणात्मक निष्कर्षों में यह बात स्थापित की है कि जैन धर्म प्रागैतिहासिक/प्राग्वैदिक धर्म है। इसके आद्य प्रवर्तक ऋषभदेव रहे हैं। जैन इतिहास की संक्षिप्त प्रस्तुति के साथ उसकी प्राचीनता का प्रमाणों के साथ यहाँ उल्लेख किया जा रहा है।

शिलालेखीय साक्ष्य :-

जैन धर्म के इतिहास की दृष्टि से कर्लिमाधिपति सम्राट खारखेल द्वारा लिखाया गया उदयगिरि, खंडगिरि के हाथी गुंफा वाला लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'नमो

अरहंतानं, नमो सच्च सिद्धानं' से प्रारम्भ हुए उक्त लेख में जैन इतिहास की व्यापक जानकारी मिलती है। इसमें लिखा है कि महामेघवाहन खारवेल मगधराज पुष्यमित्र पर चढ़ाई कर ऋषभदेव की मूर्ति वापस लाया था। बैरिस्टर श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने उस लेख का गंभीर अध्ययन करके लिखा है—“अब तक के उपलब्ध इस देश के लेखों में जैन इतिहास की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शिलालेख है। इससे पुराण के लेखों का समर्थन होता है। वह राजवंश के क्रम को ईसा से ४५० वर्ष पूर्व तक बताता है। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान महावीर के १०० वर्ष के अनन्तर ही उनके द्वारा प्रवर्तित जैन धर्म राजधर्म हो गया था और इसने उड़ीसा में अपना स्थान बना लिया था”।^१

इस प्रकार ऐतिहासिक खोजों, शिलालेखीय प्रमाणों, पुरातात्विक साक्ष्यों एवं प्राचीन साहित्य के सत्यानुशीलन से ऋषभदेव के साथ-साथ अब जैन धर्म की प्राचीनता को सभी विद्वान के मन्तव्यों से देखेंगे।

विद्वानों के अभिमत :-

कुछ समय पूर्व जैन धर्म के प्रणेता भगवान महावीर को ही माना जाता था और इसे बौद्ध धर्म के पश्चात्कर्ता माना जाता था। किन्तु आधुनिक विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिया कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से प्राचीन है एवं इस के प्रवर्तक भगवान महावीर ही नहीं किन्तु उनसे पूर्ववर्ती पार्श्वनाथ तीर्थंकर थे। विद्वानों की शोध एवं भागवत आदि पुराणों से तो यहां तक सिद्ध हो गया है कि जैन धर्म के प्रवर्तक आदि तीर्थंकर ऋषभदेव थे। इस शोध का श्रेय जर्मन विद्वान स्व. हर्मन याकोबी को है। उनके अनुसार—“इस में कोई सबूत नहीं कि भगवान पार्श्वनाथ जैन धर्म के संस्थापक थे। जैन परम्परा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को जैन धर्म का संस्थापक मानने में एकमत है। अतः इस मान्यता में ऐतिहासिक सत्य की संभावना है।”^२

पाश्चात्य विद्वानों ने ही नहीं भारतीय विद्वान सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन ने इसे और स्पष्ट करते हुए कहा कि “इस बात के प्रमाण पाये जाते हैं कि ई. पूर्व प्रथम शताब्दी में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पूजा होती थी। इस में कोई संदेह नहीं कि जैन धर्म वर्द्धमान और पार्श्वनाथ से पूर्व भी प्रचलित था। यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीनों तीर्थंकरों के नामों का निर्देश है। भागवत पुराण भी इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैनधर्म के

संस्थापक थे ।^{१३}

इस प्रकार जैनेतर साहित्य से भी यह पुष्टि होती है कि 'ऋषभदेव जैन धर्मके संस्थापक थे ।' अतः जैन धर्म, भगवान् महावीर व पार्श्वनाथ से तो अत्यन्त प्राचीन है यह हम निश्चित रूप से कह सकते हैं ।

भगवान् पार्श्वनाथ एवं भगवान् महावीर के समय में जैनधर्म को 'निर्ग्रन्थ धर्म' कहा जाता था । साथ ही इसे श्रमणधर्म भी कहते थे । उस समय एकमात्र जैन धर्म ही श्रमणधर्म न था बल्कि श्रमणधर्म की अन्य शाखाएँ भी भूतकाल में थी और अद्यावधि श्रमण परंपरा की एक शाखा बौद्धधर्म की शाखाएँ जीवित हैं अर्थात् बौद्धधर्म को भी श्रमणधर्म कहा जाता था । किन्तु जैन धर्म या निर्ग्रन्थ धर्म में श्रमणधर्म के सामान्य लक्षणों के होते हुए भी आचार-विचार की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो कि उसे श्रमणधर्म की अन्य शाखाओं से पृथक करती हैं । अब हम देखेंगे कि श्रमणधर्म की क्या विशेषताएँ हैं जो उसे ब्राह्मण धर्म से अलग करती हैं ।

उस समय दो परंपराये प्रचलित थीं-१. ब्राह्मण, २. श्रमण । इन दोनों परंपराओ में ऐसे तो छोटे-बड़े अनेक विषयों में अन्तर है किन्तु विशिष्ट अन्तर यह है कि ब्राह्मण-वैदिक परंपरा वैषम्य पर प्रतिष्ठित है तो श्रमण परंपरा साम्य पर अधिष्ठित है ।

यह वैषम्य और साम्य मुख्यतया तीन बातों में देखा जाता है—१. समाजविषयक; २. साध्यविषयक; ३. प्राणीजगत के प्रति दृष्टि विषयक । समाजविषयक वैषम्य का अर्थ है कि समाज रचना में तथा धर्माधिकार में वर्ण का जन्मसिद्ध श्रेष्ठत्व व मुख्यत्व तथा इतर वर्णों का ब्राह्मण की अपेक्षा कनिष्ठत्व व गौणत्व । ब्राह्मण धर्म का वास्तविक साध्य है अभ्युदय, जो कि ऐहिक समृद्धि, राज्य और पुत्र पशु आदि के नानाविध लाभों में तथा इन्द्रपद, स्वर्गीय सुख आदि नानाविध पारलौकिक फलों के लाभों में समाता है । अभ्युदय का साधन मुख्यतया यज्ञधर्म अर्थात् नानाविध यज्ञ है ।^{१४} इस धर्म में पशु-पक्षी आदि की बलि अनिवार्य मानी गई है और कहा गया है कि वेदविहित हिंसा धर्म का ही हेतु है । इसके विधान में बलि किये जाने वाले निरपराध पशु-पक्षी आदि के प्रति स्पष्टतया आत्मसाम्य के अभाव की अर्थात् आत्म-वैषम्य की दृष्टि है । इसके विपरीत उक्त तीनों बातों में श्रमण धर्म का साम्य इस प्रकार है— श्रमण धर्म

समाज में किसी भी वर्ण का जन्मसिद्ध श्रेष्ठत्व न मानकर, गुण-कर्मकृत ही श्रेष्ठत्व व कनिष्ठत्व मानता है। इसलिए वह समाज रचना तथा धर्माधिकार में जन्मसिद्ध वर्णभेद का आदर न कर के गुण कर्म के आधार पर ही सामाजिक व्यवस्था करता है। अतएव उनकी दृष्टि में एक सद्गुणी शुद्र भी दुर्गुणी ब्राह्मण से श्रेष्ठ है। और धार्मिक क्षेत्र में योग्यता के आधार पर हर एक वर्ण का पुरुष या स्त्री समान रूप से उच्च पद के अधिकारी है। श्रमणधर्म का अन्तिम साध्य ब्राह्मण धर्म की तरह अभ्युदय न होकर निःश्रेयस है। जिसका अर्थ है कि ऐहिक पारलौकिक नानाविध सब लाभों का त्याग सिद्ध करने वाली ऐसी स्थिति, जिस में पूर्ण साम्य प्रकट होता है और कोई किसी से कम योग्य या अधिक योग्य नहीं रहने पाता। जीव जगत के प्रति श्रमण धर्म की दृष्टि पूर्ण आत्मसाम्य की है, इस में भी किसी देहधारी का किसी भी निमित्त से किया जाने वाला वध आत्मवध जैसा ही माना गया है और वध मात्र को अधर्म का हेतु माना है।

ब्राह्मण धर्म का मूल था ब्रह्मन्-उससे ब्राह्मण परंपरा विकसित हुई। इधर श्रमण परंपरा 'सम'-साम्य, शम अथवा श्रम से विकसित हुई। ब्रह्मन् के यों तो अनेक अर्थ हैं किन्तु प्राचीन अर्थ दो हैं- १) स्तुति-प्रार्थना; २) यज्ञ-यागादि कर्म। वैदिक मंत्रों एवं सूक्तों के आधार पर जो नाना प्रकार की स्तुतियाँ व प्रार्थना की जाती है वह तथा इन्हीं मंत्रों के विनियोग वाला यज्ञ-यागादि कर्म 'ब्रह्मन्' कहलाता है। इन ऋचाओं का पाठ करने वाला पुरोहित वर्ग एवं यज्ञयागादि संपादित करने वाला पुरोहित वर्ग ब्राह्मण कहलाता है-यह हुई वैदिक परंपरा।

जहाँ वैदिक परंपरा में एकमात्र पुरोहित बनने का या गुरुपद का अधिकार ब्राह्मण वर्ग को दिया गया, ठीक इसके विपरीत श्रमण परंपरा में कहा गया कि सभी सामाजिक स्त्री-पुरुष सत्कर्म एवं धर्मपद के समान रूप से अधिकारी हैं। जो प्रयत्न एवं पुरुषार्थ से योग्यता प्राप्त करता है वह वर्ग एव लिंगभेद के होने पर भी गुरुपद का अधिकारी हो सकता है। यह सामाजिक एवं धार्मिक समता की मान्यता ब्राह्मण धर्म की मान्यता से पूर्णतया विरुद्ध थी। इस तरह ब्राह्मण व श्रमणधर्म का वैषम्य और साम्यमूलक इतना विरोध है कि जिससे दोनों धर्मों के बीच संघर्ष होता रहा है, जो कि सहस्रों वर्षों के इतिहास में लिपिबद्ध है। यह विरोध ब्राह्मणकाल में भी था, और बुद्ध और महावीर के समय में भी था और उनके पश्चात् भी चलता आया है।

श्रमण संप्रदाय की शाखाएँ और प्रतिशाखाएँ अनेक थीं, जिनमें सांख्य, जैन, बौद्ध, आजीवक आदि भी समाविष्ट होते थे। अन्य शाखाएँ तो शनैः शनैः वेदमूलक हो गईं किन्तु जैन और बौद्ध इनसे अछूती रहीं। ऋषभदेव, पार्श्वनाथ और अंतिम तीर्थंकर महावीर जो परंपरा के थे वह परंपरा आगे चलकर निर्ग्रन्थ नाम से प्रसिद्ध हुई। श्रमण परंपरा में जीवनमुक्त मुख्य धर्मप्रणेता को-धर्म-प्रवर्तक को 'जिन' कहा जाता था। वैसे जिन भी अनेक हुए हैं—सच्चक, बुद्ध, गोशालक और महावीर। किंतु आज जिन कथित जैन धर्म कहने से मुख्यतया निर्ग्रन्थ धर्म अथवा भगवान महावीर जिसके अंतिम तीर्थंकर थे वही धर्म का ही बोध होता है, जो रागद्वेष के विजय पर ही मुख्यतया बल देता है। जैनधर्म श्रमणधर्म भी है और निर्ग्रन्थ धर्म जितना प्राचीन है।

इस प्रकार ऋषभदेव से महावीर तक जैन धर्म की इस ऐतिहासिक परंपरा से स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म भारत का प्राचीनतम धर्म रहा है और उसने व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व की दृष्टि से जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं वे आज भी उतने ही प्रासंगिक और उपयोगी है जितने उस समय थे।

प्राचीनता के साथ से काल और कालचक्र किसे कहते हैं उसके भेद कितने ? उसमें तीर्थंकर जन्म कब होता है ? यह अब देखेंगे।

काल :-

जिसका कार्य नये को पुराना बनाना है उसे काल कहते हैं। वर्तमान-भूत-भविष्य काल, बाल्यकाल, यौवन काल आदि इसके पर्याय हैं। किसी भी पदार्थ के बनने के समय का पता काल से लगता है अथवा कोई चीज कब बनी थी, कब बनी है या बनेगी इत्यादि का ठोस ज्ञान काल से प्राप्त होता है।

कालचक्र :-

कालचक्र की चर्चा अर्धमागधी जैन आगम साहित्य में उत्सर्पिणी काल और अवसर्पिणी काल के रूप में भी उपलब्ध होती है। जिस तरह घड़ी के बारह अंको में से ६ पूर्व दिशा में और ६ पश्चिम दिशा में विभाजित होने पर घड़ी के दो भाग स्पष्ट दिखते हैं। उसी तरह कालचक्र को भी पूर्वार्ध के ६ और पश्चिमार्ध के ६ विभागों में विभाजित करने पर उस प्रत्येक विभाग को 'आर' (काल-खण्ड) कहा जाता है। कालचक्र के प्रमुख दो विभाग होते हैं।

एक अवसर्पिणी काल, दूसरा उत्सर्पिणी काल । प्रत्येक के छः छः भाग (आरे) होते हैं । अवसर्पिणी काल और उत्सर्पिणी काल मिलकर एक कालचक्र पूर्ण होता है ।^६

जैनों की कालचक्र की कल्पना बौद्ध और हिंदू कालचक्र की कल्पना से भिन्न है । किन्तु इन सभी में इस बात को लेकर समानता है कि इन सभी कालचक्र के विभाजन का आधार सुख-दुःख एवं मनुष्य के नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास की क्षमता को बनाये रखता है ।

अवसर्पिणी काल :-

जिस कालखण्ड में प्रत्येक समय पर शुभ पुद्गलों की हानि एवं अशुभ पुद्गलों की वृद्धि हो रही हो उस काल को अवसर्पिणी काल कहते हैं ।

छह आरों के नाम निम्नुसार है :- (१) सुषम सुषम (२) सुषम (३) सुषम दुःषम (४) दुःषम सुषम (५) दुःषम (६) दुःषम दुःषम ।

(१) सुषम सुषम :-

चार कोडा कोडी सागरोपम के आरे में मनुष्यों का देहमान ३ कोस, आयुष्य ३ पल्योपम और उसके शरीर में २५६ पसलियाँ होती है । उनकी इच्छा-आकांक्षाएँ दस प्रकार के कल्पवृक्ष पूर्ण करते हैं । उन्हें तीन-तीन दिन के अन्तर से आहार की इच्छा होती है । कल्पवृक्ष के फल इतने रसप्रचुर, स्वादिष्ट और शक्तिवर्धक होते हैं कि तुअर के दाने जितना आहार ग्रहण करने मात्र से संतोष होता है । स्वयं के आयुष्य के ६ मास शेष रहे हो तब युगलिनी एक युग (पुत्र-पुत्री)को जन्म देती है और ४९ दिन तक उनका पालन पोषण करती है । तत्पश्चात् नवजात युगल स्वावलंबी होकर स्वतंत्र घूमता है । उनके माता-पिता की मृत्यु, आयुष्य पूर्ण होने के समय एक छींक और एक जंभाई आने से होती है । वे अल्प विषयी और अल्प कषायी होने के कारण देवगति प्राप्त करते हैं । इस आरे में सुख ही सुख होता है ।

(२) सुषम :-

कालमान तीन कोडाकोडी सागरोपम । देह, बुद्धि, बल, आयुष्य, कांति, पृथ्वी आदि के रस में एवं सारभूत पदार्थों के गुणों में उत्तरोत्तर हानि । देहमान २ कोस, आयुष्य २ पल्योपम और १२८ पसलियों से युक्त शरीर । आहारेच्छा

दो दिन के बाद आहार मात्र बेर जितनी । संतान पालन ६४ दिन । दूसरी बातें प्रथम आरे के समान ही होती है । इस आरे में लोग सुखी होते हैं ।

(३) सुषम दुःषम :-

कालमान २ कोडाकोडी सागरोपम । जिसमें सुख अधिक और दुःख कम होता है । देहमान १ कोस, आयु १ पल्योपम तथा ६४ पसलियाँ । आहारेच्छा एक दिन बाद । आहार आँवले जितना । पुत्र-पुत्री पालन ७९ दिन । दूसरी बातें प्रथम आरे के समान । विशेष में इस आरे के जब ८४ लाख पूर्व, ३ वर्ष ८॥ महिने शेष रहते हैं तब प्रथम तीर्थकर देव का जन्म होता है । उत्तरोत्तर हानि वाले काल के प्रभाव से कल्पवृक्षों की महिमा धीरे-धीरे नष्ट होती जाती है । जनसमुदाय के खाने के लिए धान्य की उत्पत्ति होती है । बादर (स्थूल) अग्नि प्रकट होती है । युगलिकों की प्रार्थना पर प्रथम तीर्थकर साधु होने से पूर्व राजा बन कर शिल्पादि कलाओं का प्रकटीकरण करते हैं । फलस्वरूप जनसमुदाय नीति नियमादि का पालन करते हुए सात्विक जीवन व्यतीत करते हैं । प्रथम तीर्थकर के निर्वाण के अनन्तर तीन वर्ष ८॥ महिने के बाद चौथे आरे का प्रारम्भ होता है । तीसरे आरे में ही युगलिकों की उत्पत्ति क्रमशः क्षीण हो जाती है । एक चक्रवर्ती भी इसी आरे में जन्म धारण करता है । तीर्थकर नाम कर्म के उदय से तीर्थ स्थापना होने के बाद मोक्षगमन का भी प्रारम्भ हो जाता है ।

(४) दुषम सुषम :-

कालमान ४२ हजार वर्ष न्यून १ कोडाकोडी सागरोपम । मनुष्य की आयु-पूर्व क्रोड वर्ष । शरीरमान ५०० धनुष्य । आहारादि अनियमित । युगलिकों की उत्पत्ति न होना । इसी आरे में शेष तेईस तीर्थकर, ग्यारह चक्रवर्ति, और नौ बलदेव, नौ बासुदेव तथा नौ प्रति वासुदेव होते हैं । इस आरे में जन्मे हुए आत्माओं का मोक्ष पांचवें आरे में हो सकता है ।

(५) दुःषम :-

अंतिम तीर्थपति के मोक्ष-गमन के पश्चात् इसका आरम्भ होता है । इसका कालमान २१ हजार वर्ष का है । प्रारंभ में देहमान ७ हाथ । आयु १२५ वर्ष । पसलियाँ १६ । आहारादि अनियमित । इस आरे के अन्त तक जिनशासन २१ हजार वर्ष तक चलेगा । उत्सूत्र प्ररूपणा अधिक होगी । परस्पर मैत्री भाव में कमी आएगी । उन्नति-अवनति का क्रम सतत चलता रहेगा । पाखंडियों की पूजा

में अभिवृद्धि । संयमी जन अनेक कष्ट सहन कर के भी प्रभु का शासन अविचल अटल अचल रखेंगे । आराधक आत्माएँ आराधना कर स्वहित एवं परहित साधते रहेंगे । कषायों की उत्तरोत्तर वृद्धि । काम-आसक्ति में वृद्धि । मद-अभिमान वश संघर्ष में वृद्धि । शहर ग्राम में परिवर्तित होंगे और ग्राम श्मशान में । कुलीन स्त्रियाँ आचारहीन होगी । सुकुलोत्पन्न प्रायः दास दासी बनेंगे और हीन कुलवाले धर्म रसिक तथा साधका राजा यम जैसे क्रूर होंगे । विनय मर्यादा का ह्रास । गुणवानों की निंदा । क्षुद्र जंतुओं की अधिक उत्पत्ति । अकाल विशेष पड़ेंगे । लोभी लालचियों में निरंतर वृद्धि । मत-मतांतरों की विशेष उत्पत्ति । मिथ्यामतों में वृद्धि । देवताओं का प्रत्यक्ष न होना ।

विद्याओं के प्रभाव में हानि । दूध, दही, घृत, धान्यादी उत्तम पदार्थों के सत्त्व में कमी । मानव के आयुष्य-प्रमाण में कमी । सुशील, सरल स्वभाववालों की कमी । कपटी-कुशील कदाग्रहियों में वृद्धि । इस प्रकार यह काल अधिक दुःखमय और विषमताओ से भरा-भरा होगा । वर्तमान में यही आरा चल रहा है ।

(६) दुःषम दुःषम :-

कालमान २१ हजार वर्ष । इस काल में मानवदेह १ हाथ । पसलियाँ ८ । आहारादि की इच्छा अमर्याद और अनियमित । दिन में सख्त ताप, रात में भयंकर शीत । महल और मकान सब नष्ट होने जाने से मानव जाति वैताढ्य पर्वत के उत्तर और दक्षिण में गंगा-सिंधु के आमने सामने के तटपर जो ३६+३६ बिले हैं उसमें वास करेगी । बिलवासी मानव मछलियाँ और जलचरों को पकडकर रेती में दबाएँगे । दिन के प्रचंड ताप में भून जाने पर रात में उसका भक्षण करेंगे । परस्पर क्लेश करनेवाले, दीन-हीन, दुर्बल, दुर्गंध, रोगिष्ठ, अपवित्र, नग्न आचारहीन और माता बहन-पत्नी के प्रति विवेकहीन । छह वर्ष की बालिका गर्भ धारण कर बालकों को जन्म देगी । स्त्रीयाँ सुअर के सदृश अधिकाधिक बच्चे पैदा कर महाक्लेश का अनुभव करेंगी । धर्म पुण्य रहित । अतिशय दुःख के कारण अशुभ कर्म उपाजन कर जीव नरक तिर्यचादि गति प्राप्त करेंगे । इस आरे में दुःख ही दुःख है ।

इस प्रकार सुख-दुःख का स्वरूप अवसर्पिणी काल में होता है । उत्सर्पिणी काल में सुख में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है । अवसर्पिणी काल में दुःख का

ह्रास होता है। सभी आरों का काल प्रमाण भी इसी प्रकार होता है।

इस प्रकार अवसर्पिणी काल के १० क्रोडा क्रोडी सागरोपम वर्ष और उत्सर्पिणी काल के १० क्रोडा-क्रोडी सागरोपम वर्ष को मिलाकर कुल २० क्रोडा क्रोडी सागरोपम वर्ष का एक काल-चक्र होता है। ठीक उसी तरह अवसर्पिणी के ९ क्रोडा क्रोडी और उत्सर्पिणी के ९ क्रोडा क्रोडी कुल १८ क्रोडाक्रोडी सागरोपम काल तक ५ भरत ५ ऐरावत क्षेत्र धर्म से रहित हो जाते हैं। महाविदेह में सदा काल धर्म विद्यमान रहता है।

वर्तमान तीर्थकरोका में कौन से आरे में जन्म, उनकी व्यवस्था किस प्रकार होती है उसका उल्लेख अब किया जा रहा है।

वर्तमान तीर्थकर-चतुर्विंशिका

जैन धर्म अनुसार प्रत्येक काल में तीर्थकर जन्म लेते हैं। अनंत काल तक होते रहेंगे। वर्तमान काल-प्रवाह में चौबीस तीर्थकर हुए हैं। जैन मत में यह काल युगलियों का काल था। वर्तमान अवसर्पिणी के तीसरे 'सुषम-दुःषम' आरे के उपसंहार काल में कल्पवृक्षों की शक्ति क्षीण होने से जीवनोपयोगी सामग्री का धीरे-धीरे अभाव होने लगा, जिससे जन-जीवन अस्त-व्यस्त और संत्रस्त होने लगा। उसकी व्यवस्था के लिए कुलकर हुए। कुलकर अर्थात् कुलों की स्थापना और व्यवस्था करनेवाला। ये कुलकर ९ हुए।

अन्तिम कुलकर 'नाभि' थे। और उन्हीं के सुपुत्र ऋषभदेव थे। जो प्रथम तीर्थकर थे। जैन-परम्परा में तीर्थकरो का स्थान सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपरि रहा है। युगलियों की प्रार्थना पर प्रथम तीर्थकर साधु होने से पूर्व राजा बन कर शिल्पादि कलाओं का प्रकटीकरण करते हैं। फलस्वरूप जनसमुदाय नीति नियमादि का पालन करते हुए सात्त्विक जीवन व्यतीत करता है। जनसमुदाय के खाने के लिए धान्य की उत्पत्ति का साधन, बादर(स्थूल) अग्नि प्रकट करनी और जीवनोपयोगी साधनों के उत्पादन और संरक्षण का सब प्रकार से क्रियात्मक निर्देश तीर्थकर करते हैं। तीर्थकर स्वयं संबुद्ध होते हैं।

अवसर्पिणी काल में धर्मतीर्थ के आद्य-प्रवर्तक भगवान ऋषभदेव हुए। इन चौबीस तीर्थकरो में से किसी भी तीर्थकर ने पूर्ववर्ती तीर्थकर से विरासत के रूप में कुछ भी ज्ञान-निधि प्राप्त नहीं की। और न संघ-व्यवस्था के संबन्ध

में भी एक दूसरे से कुछ भी ग्रहण किया था । इतिहास के पृष्ठ इस बात के साक्षी हैं कि भगवान् महावीर के समय भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमण, श्रमणियाँ, श्रावक और श्राविकाओं की अविच्छिन्न धारा चल रही थी । पर महावीर ने इस परम्परा को स्वीकार नहीं किया । केवलज्ञान-केवलदर्शन होने के पश्चात् उन्होंने नये संघ का प्रवर्तन किया, और जो पार्श्वनाथ की परम्परा के सन्त थे, उन्होंने महावीर की परम्परा को ग्रहण किया । इससे यह सिद्ध है कि प्रत्येक तीर्थंकर की स्वतंत्र व्यवस्था होती है ।

भगवान् महावीर एवं उनकी परंपरा :-

भगवान् महावीर के निर्वाणोपरान्त उनके गणधर गौतम जैन संघ के नायक बने । भगवान् महावीर का शिष्यत्व ग्रहण करने के पूर्व वह वेद-वेदान्त के ज्ञाता प्रकाण्ड ब्राह्मण पण्डित थे । भगवान् महावीर के निर्वाण के दिन ही इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ । १२ वर्ष तक संघ इनके नेतृत्व में रहा । तत्पश्चात् महावीर संवत् १२ (ई० पू० ५१५) में निर्वाण को प्राप्त हुए । उनके बाद सुधर्माचार्य को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ । २२ वर्षों तक संघ इनके नेतृत्व में रहा । उनके निर्वाण के उपरान्त जम्बू स्वामी संघ के नायक बने । ये चंपा नगरी में एक कोट्याधीश श्रेष्ठी के पुत्र थे और महावीर स्वामी के प्रभाव से शिष्य हो गये थे । उन्होंने ३९ वर्ष तक धर्म प्रवचन दिया और अन्त में मथुरा के चौरासी नामक स्थान पर उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया । उनके पश्चात् क्रमशः विष्णुकुमार, नन्दिपुत्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली हुए, जिनके नेतृत्व में संघ चला । इन पाँचों का कालयोग १०० वर्ष होता है । इन्हें सम्पूर्ण श्रुत का ज्ञान था ।^{१०}

इन में अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु का जैन धर्म के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है । इनके पूर्व समस्त जैन संघ अखंड और अविभक्त था । उनके समय में बारह वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा और संघभेद का सूत्रपात हो गया ।^{११} यह जैन इतिहास में प्रसिद्ध बात है ।

सभी श्रुतज्ञान को सूत्रबद्ध किस प्रकार किया गया, कितनी वाचनाएँ हुईं, आगम साहित्य को पुस्तकारुढ किसने किया, ये सब हकीकतें संक्षिप्त में हम देखेंगे ।

जैन आगम साहित्य

जैनधर्म दर्शन, साहित्य और संस्कृति का मूल आधार आगम साहित्य हैं। आगम साहित्य की सुदृढ़ नींव पर ही जैनदर्शन व संस्कृति का सुनहरा भव्य-प्रासाद खड़ा है। जैन आगम श्रमण भगवान महावीर की वीतराग वाणी का अपूर्व खजाना है।

वैदिक परम्परा में जो स्थान वेद का है, बौद्ध परम्परा में जो स्थान त्रिपिटक का है, ईसाई धर्म में जो स्थान बाईबिल का है, ईस्लाम धर्म में जो स्थान कुरान का है वही स्थान जैन-परम्परा में आगम-साहित्य का है।

वेद तथा बौद्ध और जैन आगम-साहित्य में महत्त्वपूर्ण भेद यह रहा है कि वैदिक परम्परा के ऋषियों ने शब्दों की सुरक्षा पर अधिक बल दिया जबकि जैन और बौद्ध परम्परा में शब्दार्थ पर अधिक बल दिया गया है।

वेद के शब्दों में मंत्रों का आरोपण किया गया है, जिससे शब्द तो सुरक्षित रहे, पर उसका अर्थ नष्ट हो गया। जैन आगम साहित्य में मंत्र-शक्ति का आरोप न हेने से शब्दार्थ पूर्ण रूप से सुरक्षित रहा है।

वेद किसी एक ऋषि विशेष के विचारों का प्रतिनिधित्व नहीं करते, जबकि जैन गणिपिटक एवं बौद्ध त्रिपिटक क्रमशः भगवान महावीर और तथागत बुद्ध की वाणी का प्रतिनिधित्व करते हैं। जैन आगमों के अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर रहे हैं और सूत्र के रचयिता गणधर हैं।^{१९}

जैन संस्कृति अध्यात्म प्रधान है। जैन आगमों में अध्यात्म का स्वर प्रधान रूप से झंकृत हो रहा है, जबकि वेदों में लौकिकता का स्वर मुखरित रहा है। यहाँ पर यह बात भी विस्मृत नहीं होनी चाहिए कि आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व अणु-विज्ञान, जीव-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान आदि के सम्बन्ध में जो बातें जैन आगमों में बताई गई हैं, उन्हें पढ़कर आज का वैज्ञानिक भी विस्मित है। जैन आगम साहित्य का इन अनेक दृष्टियों से भी महत्त्व रहा है।^{१९}

जैन सांस्कृतिक इतिहास और विकास में आगमिक साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आगमिक साहित्य दो भाषाओं में निबद्ध है—अर्धमागधी और शौरसेनी। भगवान महावीर का मूल उपदेश अर्धमागधी में हुआ था। भगवान महावीर की शिष्यपरम्परा ने भी जन सामान्य में मानवता एवं सदाचार के प्रचार के लिए इसी

भाषा का व्यवहार किया। वर्द्धमान महावीर के उपदेशों का संग्रह उनके समसामयिक शिष्य-गणधरों ने किया। उन गणधरों द्वारा रचित ग्रन्थ श्रुत कहलाते हैं। श्रुत शब्द का अर्थ है - सुना हुआ अर्थात् जो गुरुमुख से सुना गया हो। भगवान महावीर के उपदेश उनके शिष्य-गणधरों ने सुने और गणधरों से उनके शिष्यों ने। इस प्रकार शिष्य-प्रशिष्यों के श्रवण द्वारा प्रवर्तित होने से श्रुत कहलाया और यही श्रुत आगे जाकर आगम के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आगमों को श्रुतज्ञान अथवा सिद्धांत भी कहा जाता है।

आगम-साहित्य की तीन वाचनायें

(ईसवी सन् के पूर्व ५वीं शताब्दी से लेकर ईसवी सन् की ५ वीं शताब्दी तक)

जैन परंपरा के अनुसार अर्हत् भगवान ने आगमों का प्ररूपण किया और उनके गणधरों ने इन्हें सूत्ररूप में निबद्ध किया।^{१२}

प्रथम वाचना :-

भगवान महावीर^{१३} के लगभग १६० वर्ष पश्चात् (ईसवी सन् के पूर्व लगभग ३६७ में) चंद्रगुप्त मौर्य के काल में मगध में भयंकर अकाल पड़ा, जिससे अनेक जैन भिक्षु भद्रबाहु के नेतृत्व में समुद्रतट की ओर प्रस्थान कर गये। बाकी बचे हुए स्थूलभद्र (स्वर्गगमन महावीर निर्वाण के २१६ वर्ष पश्चात्) के नेतृत्व में वहीं रहे। अकाल समाप्त हो जाने पर स्थूलभद्र ने पाटलिपुत्र में जैन श्रमणों का एक सम्मेलन बुलाया। जिसमें श्रुतज्ञान को व्यवस्थित करने के लिये खंड-खंड करके ग्यारह अंगों का संकलन किया गया। लेकिन दृष्टिवाद किसी को याद नहीं था इसलिए पूर्वों का संकलन नहीं हो सका। चतुर्दश पूर्वधारी केवल भद्रबाहु थे। वे उस समय नेपाल में महाप्राण की साधना कर रहे थे। ऐसे समय में संघ की ओर से पूर्वों का ज्ञान-संपादन करने के लिये कुछ साधुओं को नेपाल भेजा गया। लेकिन इनमें से केवल स्थूलभद्र ही टिक सके, बाकी लौट आये। स्थूलभद्र पूर्वों के ज्ञाता तो हो गये किन्तु किसी दोष के प्रायश्चित्त स्वरूप भद्रबाहु ने अंतिम चार पूर्वों के अध्यापन के लिये मना कर दिया। इसी समय से शनैः-शनैः पूर्वों का ज्ञान नष्ट होता चला गया। जो कुछ भी उपलब्ध हुआ उसे पाटलिपुत्र के सम्मेलन में सिद्धांत के रूप में संकलित कर लिया गया। यही जैन आगमों की पाटलिपुत्र वाचना अथवा प्रथम वाचना कही जाती है।^{१३}

दूसरी वाचना :-

कुछ समय पश्चात् महावीरनिर्वाण के लगभग ८२७ या ८४० वर्ष बाद (ईसवी सन् ३००-३१३में) आगमों को सुव्यवस्थित रूप देने के लिये आर्य स्कंदिल के नेतृत्व में मथुरा में एक दूसरा सम्मेलन हुआ। इस समय एक बड़ा अकाल पड़ा जिससे साधुओं को भिक्षा मिलना कठिन हो गया और आगमों का अभ्यास छुट जाने से आगम नष्टप्राय हो गये। दुर्भिक्ष समाप्त होने पर इस सम्मेलन में जिसे जो स्मरण था, उसे कालिक श्रुत के रूप में एकत्रित कर लिया गया। इसे माथुरी वाचना के नाम से कहा जाता है। कुछ लोगों का कथन है कि दुर्भिक्ष के समय श्रुत का नाश नहीं हुआ, किन्तु आर्य स्कंदिल को छोड़कर अनेक मुख्य-मुख्य अनुयोगधारियों को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा।^{१४}

तृतीय वाचना :-

इसी समय नागार्जुनसूरि के नेतृत्व में वलभी में एक और सम्मलेन हुआ। इसमें, जो सूत्र विस्मृत हो गये थे उन्हें स्मरण करके सूत्रार्थ की संघटनापूर्वक सिद्धांत का उद्धार किया गया।

इन दोनों वाचनाओं का उल्लेख ज्योष्करंडकटीका आदि ग्रंथों में मिलता है। ज्योतिष्करंडकटीका के कर्ता आचार्य मलयगिरि के अनुसार अनुयोगद्वार आदि सूत्र माथुरी वाचना और ज्योतिष्करंडक वलभी वाचना के आधार से संकलित किये गये हैं। उक्त दोनों वाचनाओं के पश्चात् आर्य स्कंदिल और नागार्जुनसूरि परस्पर नहीं मिल सके और इसीलिये सूत्रों में वाचनाभेद स्थायी बना रह गया।^{१५}

तत्पश्चात् लगभग १५० वर्ष बाद, महावीरनिर्वाण के लगभग ९८०या ९९३ वर्ष पश्चात् (ईस्वी सन् ४५३-४६६ में) वलभी में देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में चौथा सम्मेलन बुलाया गया। इस संघसमवाय में विविध पाठान्तर और वाचनाभेद आदि का समन्वय करके माथुरी वाचना के आधार से आगमों को संकलित कर उन्हें लिपिबद्ध कर दिया गया। जिन पाठों का समन्वय नहीं हो सका उनका 'वायणान्तरे पुण', 'नागार्जुनीयास्तु एवं वदन्ति' इत्यादि रूप में उल्लेख किया गया।^{१६} दृष्टिवाद फिर भी उपलब्ध न हो सका, अतएव उसे व्युच्छिन्न घोषित कर दिया गया। इसे जैन आगमों की अंतिम वाचना कहते हैं। श्वेतांबर सम्प्रदाय द्वारा मान्य वर्तमान आगम इसी संकलना का परिणाम है।^{१७}

४५ आगमों का परिचय

उपरोक्त वाचना के बाद जो ग्रंथ आगम मे प्रसिद्ध है वे प्राचीनकाल में 'श्रुत' और 'सम्यक् श्रुत' से प्रसिद्ध थे । अब यहाँ पर श्वेताम्बर संप्रदाय मान्य ४५ आगमों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है ।

द्वादशांग (बारह अंग)

जैन शास्त्रों में सबसे प्राचीन ग्रंथ अंग हैं । इन्हे वेद भी कहा गया है^{१८} (ब्राह्मणों के प्राचीनतम शास्त्र भी वेद कहे जाते हैं)। ये अंग बारह है, इसलिये इन्हें द्वादशांग कहा जाता है । द्वादशांग का दूसरा नाम गणपिटक है(बौद्धों के प्राचीनशास्त्र को त्रिपिटक कहा जाता है)। ये अंग भगवान महावीर के उपदेशों को गणधरों द्वारा सूत्र रूप से गुंफित किये गये हैं । बारहवें अंग का नाम दृष्टिवाद है, जिसमें चौदह पूर्वों का समावेश है । यह लुप्त हो गया है, इसलिये आजकल ग्यारह ही अंग उपलब्ध हैं । इन अंगों के विषयों का वर्णन समवायांग और नन्दीसूत्र में उपलब्ध होता है । इनमें प्राचीन जैन परंपरा, अनुश्रुतियाँ, लोक-कथाएँ, तत्कालीन रीतिरिवाज, धर्मोपदेश की पद्धतियाँ, आचार-विचार, संयम पालन विधि जैसे अनेक विषय समाविष्ट हैं । जिसके अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक व्यवस्था विषयक जानकारी प्राप्त होती है ।

११ अंगो के नाम :-

१) आचार २) सुयगड ३) ठाणांग ४) समवाय ५) वियाहपण्णत्ति ६) णायाधम्मकहा ७) उवासगदसा ८) अंतगडदसा ९) अणुत्तरोववाइयदसा १०) पण्हावागरणाइं ११) विवागसुय १२) दिट्ठिवाय ।

द्वादश उपांग

वैदिक ग्रंथों में पुराण, न्याय और धर्मशास्त्र को उपांग कहा है । चार वेदों के भी अंग और उपांग होते हैं । शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छंद, निरुक्त और ज्योतिष ये छह अंग है, तथा पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र उपांग । बारह अंगो की भाँति बारह उपांगो का उल्लेख भी प्राचीन आगम ग्रंथो में उपलब्ध नहीं होता । नन्दीसूत्र (४४) में कालिक और उत्कालिक रूप में ही उपांगो का उल्लेख मिलता है । अंगों की रचना गणधरों ने की है और उपांगो की स्थविरो ने, इसलिये भी अंगों और उपांगो का कोई संबंधविशेष सिद्ध नहीं होता । यद्यपि कुछ आचार्यों ने अंगो

और उपांगो का संबंध जोड़ने का प्रयत्न किया है, लेकिन विषय आदि की दृष्टि से इनमें कोई संबंध प्रतीत नहीं होता । १२ उपांग निम्न है :-

(१) उववाइय; (२) रायपसेणइय; (३) जीवाजीवाभिगम; (४) पन्नवणा; (५) सूरियपन्नत्ति; (६) जम्बुद्वीवपन्नत्ति; (७) चन्दपन्नत्ति; (८) निरयावलिया; अथवा (कप्पिया) (९) पुप्फिया; (१०) कल्पवडंसिया; (११) पुप्फचूला; और (१२) वण्हदसा ।

दस पड़णग (दस प्रकीर्णक)

नंदीसूत्र के टीकाकार मलयगिरि के अनुसार तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण करके श्रमण प्रकीर्णकों की रचना करते हैं, अथवा श्रुत का अनुसरण करके वचनकौशल से धर्मदेशना आदि के प्रसंगे से श्रमणों द्वारा कारित रचनायें प्रकीर्णक कही जाती हैं । महावीर के काल में प्रकीर्णकों की संख्या १४,००० बताई गई है । आजकल मुख्यतया निम्नलिखित दस प्रकीर्णक उपलब्ध हैं :- (१) चउसरण, (२) आउरपच्चक्खाण, (३) महापच्चक्खाण, (४) भत्तपरिण्णा (५) तन्दुलवेयालिय (६) संथारग; (७) गच्छयार; (८) गणिविज्जा; (९) देविदथय (१०) मरणसमाही ।^{१९}

छेदसूत्र

छेदसूत्र जैन आगमों का प्राचीनतम भाग होने से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इन सूत्रों में साधु और साध्वियों के प्रायश्चित्त की विधि का वर्णन है । ये सूत्र चारित्र की शुद्धता स्थिर रखने में कारणभूत हैं, इसलिये इन्हे उत्तमश्रुत कहा है (जम्हा एत्थ सपायच्छित्तो विधी भण्णत्ति, जम्हा य तेण चरणविसुद्धी करेत्ति, तम्हा तं उत्तमसुतं-निशीथ, १९ उद्देशक, ६१८४ भाष्यगाथा की चूर्णी, (पृ० २५३) । छेदसूत्रों में जैन भिक्षुओं के आचार-विचार संबंधी नियमों का विवेचन है, जिसे भगवान महावीर और उनके शिष्यों ने देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार श्रमण सम्प्रदाय के लिये निर्धारित किया था । बौद्धों के विनयपिटक से इनकी तुलना की जा सकती है । छेदसूत्रों के गंभीर अध्ययन के बिना कोई आचार्य अपने संघाड़े (भिक्षु सम्प्रदाय) को लेकर ग्रामानुग्राम विहार नहीं कर सकता, गीतार्थ नहीं बन सकता तथा आचार्य और उपाध्याय जैसे उत्तरदायी पदों का अधिकारी नहीं हो सकता । निशीथ के भाष्यकर्ता ने छेदसूत्रों को प्रवचन का रहस्य प्रतिपादित कर गुह्य बताया है ।^{२०} जैसे कच्चे घड़े में रक्खा हुआ जल घड़े को

नष्ट कर देता है, उसी प्रकार इन सूत्रों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का रहस्य अल्प सामर्थ्यवाले व्यक्ति के नाश का कारण होता है। छेदसूत्र संक्षिप्त शैली में लिखे गये हैं। इनकी संख्या छह हैं- (१) निसीह; (२) महानिसीह; (३) ववहार;^{२१} (४) दसासुयक्खंध; (५) कल्प; (६) पंचकल्प; ।

मूलसूत्र

बारह उपांगों की भाँति मूलसूत्रों का उल्लेख भी प्राचीन आगम ग्रंथों में देखने में नहीं आता।^{२२} इन ग्रंथों में साधु-जीवन के मूलभूत नियमों का उपदेश है, इसलिये इन्हें मूलसूत्र कहा है। कुछ लोग उत्तराध्ययन, आवश्यक और दशवैकालिक सूत्रों को ही मूलसूत्र मानते हैं, पिंडनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति को मूलसूत्रों में नहीं गिनते। इनके अनुसार पिंडनिर्युक्ति दशवैकालिकनिर्युक्ति का और ओघनिर्युक्ति आवश्यकनिर्युक्ति का ही एक अंश है। कुछ विद्वान् पिंडनिर्युक्ति को मूलसूत्रों में सम्मिलित कर मूलसूत्रों की संख्या चार मानते हैं। ओर कुछ पिंडनिर्युक्ति के साथ ओघनिर्युक्ति को भी शामिल कर लेते हैं। कहीं पक्खियंसुत्त का नाम भी लिया जाता है। आगमों में मूलसूत्रों का स्थान कई दृष्टियों से बहुत महत्व का है। इनमें प्राप्त उत्तराध्ययन और दशवैकालिक जैसे सूत्र जैन आगमों के प्राचीनतम सूत्रों में गिने जाते हैं, और इनकी तुलना सुत्तनिपात, धम्मपद आदि प्राचीन बौद्धसूत्रों से की जाती है। मूलसूत्र निम्नलिखित चार हैं :-

१) उत्तराध्ययन (२) आवश्यक ३) दशवैकालिक और ४) पिंडनिज्जुति अथवा ओघनिर्युक्ति

चूलिकासूत्र-नन्दी और अनुयोगद्वार

नन्दी की गणना अनुयोगद्वार के साथ की जाती है। ये दोनों आगम अन्य आगमों की अपेक्षा अर्वाचीन मान्य किये गये हैं। नन्दी के कर्ता दूष्यगणि के शिष्य देववाचक हैं। कुछ लोग देववाचक और देवर्धिगणि क्षमाश्रमण को एक ही मानते हैं। लेकिन यह ठीक नहीं है, दोनों की गच्छ परम्परायें भिन्न-भिन्न हैं। जिनदासगणि महत्तर ने इस सूत्र पर चूर्णी तथा हरिभद्र और मलयगिरि ने टीकायें लिखी हैं।^{२३}

आगमों की सामान्य व्याख्या

आप्त वचन जो हैं, वही आगम है। जैन संमत आप्त कौन हैं ? जिसने रागद्वेष पर विजय पा लिया है ऐसे तीर्थंकर, जिन, सर्वज्ञ भगवान आप्त हैं।

(नंदीसुत्र ४०) अर्थात् जिनोपदेश ही जैन आगम हैं । इसीलिए मुख्यतः जिनों का उपदेश-जैनागम प्रमाण माना जाता है ।^{१४} भगवान महावीर के उपदेश को उनके गणधरों ने सूत्रबद्ध किया था ।^{१५} इसलिए आगमों को गणिपिटक भी कहते हैं । आगम शब्दवाच्य एक ग्रंथ नहीं है पर अनेक ग्रंथों का समुदाय है ।

श्वेतांबर संप्रदाय के मतानुसार आगमों की संख्या ४५ है ।

वह निम्न प्रकार :-

११ अंग + १२ उपांग + १० प्रकीर्णक + ६ छेदसूत्र + ४ मूलसूत्र + २ चूलिका= ४५ आगम

अनुयोग

अनुयोग का स्वरूप :-

जैन साहित्य में 'अनुयोग' के दो रूप मिलते हैं^{१६}— (१) अनुयोग-व्याख्या (२) अनुयोग-वर्गीकरण

किसी भी पद आदि की व्याख्या करने उसका हार्द समझने/समझाने के लिए (१) उपक्रम, (२) निक्षेप, (३) अनुगम और (४) नय इन चार शैलियों का आश्रय लिया जाता है । 'अनुयोजनमनुयोग'(अणुजोअणमणुओगों) सूत्र का अर्थ के साथ सम्बन्ध जोडकर उसकी उपयुक्त व्याख्या करना, इसका नाम है- अनुयोग व्याख्या (जम्बूदीव पण्णत्ति वृत्ति) ।

अनुयोग-वर्गीकरण का अर्थ है-

अभिधेय(विषय) की दृष्टि से शास्त्रों का वर्गीकरण करना । जैसे अमुक अमुक आगम, अमुक अध्ययन; अमुक गाथा, अमुक विषय की है । इस प्रकार विषय वस्तु की दृष्टि से वर्गीकरण करके आगमों का गम्भीर अर्थ समझने की शैली अनुयोग वर्गीकरण पद्धति है ।

प्राचीन आचार्यों ने आगमों को गंभीर अर्थ के सरलतापूर्वक समझाने के लिए आगमों का चार अनुयोगों में वर्गीकरण किया है—

१. चरणकरणानुयोग
२. धर्मकथानुयोग
३. गणितानुयोग

४. द्रव्यानुयोग

१. चरणकरणानुयोग :-

इसमें आत्मा के मूलगुण-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, संयम, आचार, व्रत, ब्रह्मचर्य, कषाय-निग्रह, तप, वैयावृत्य आदि तथा उत्तरगुण-पिण्डविशुद्धि, समिति, गुप्ति, भावना, प्रतिमा, इन्द्रिय-निग्रह, अभिग्रह, प्रतिलेखन आदि का वर्णन है ।

आगम :- आचारांग, प्रश्नव्याकरण, दशवैकालिक, निशीथ, व्यवहार बृहत्कल्प, तथा दशाश्रुतस्कन्ध-ये चार छेदसूत्र तथा आवश्यक का इस अनुयोग में समावेश होता है ।

२. धर्मकथानुयोग :-

इसमें दया, अनुकम्पा, दान, शील, क्षान्ति, ऋजुता, मृदुता आदि धर्म के अंगों का विश्लेषण है, जिसके माध्यम मुख्य रूप से छोटे बड़े कथानक हैं ।

आगम :- ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुतरौपपातिकदशा एवं विपाक, औपपातिक, राजप्रश्रीय, निरयावली, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका एवं वृष्णिदशा, उत्तराध्ययन आदि ।

३. गणितानुयोग :-

इसमें मुख्यतया गणित-सम्बद्ध, ज्योतीष सम्बद्ध अर्थात् विश्वरचना संबंधी वर्णन है ।

आगम :- सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति तथा चन्द्रप्रज्ञप्ति । जैन परंपरानुसार चारों गति के जीव जहाँ रहते हैं ? उसको लोक कहते हैं । लोक कैसा है, उसका प्रमाण क्या है ? उसका आकार कैसा है ? सभी का विवेचन विस्तृत रूप से उल्लेख इस अनुयोग का विषय है । इस महानिबंध में हमें लोक के स्वर्ग-नरक विभाग का विशेष अध्ययन करना है, इसलिए लोक संबंधी जैन धर्म की मान्यता हमें देखती होगी, वह प्रकरण २ में देखेंगे ।

४. द्रव्यानुयोग :-

इसमें षट् द्रव्य जीव, अजीव, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल एवं आश्रव, संवर, निर्जरा, पुण्य, पाप, बंध, मोक्ष आदि का सूक्ष्म, गहन विवेचन है ।

आगम :- सूत्रकृत, स्थानांग, समवाय तथा व्याख्याप्रज्ञप्ति, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, नंदीसूत्र, अनुयोगदार है ।

बारहवें अंग दृष्टिवाद में द्रव्यानुयोग का अत्यन्त गहन, सूक्ष्म विस्तृत विवेचन है, जो आज प्राप्य नहीं है ।

चार अनुयोगों में भी द्रव्यानुयोग का सम्बन्ध तात्त्विक या दार्शनिक चिंतन से है । इसको तीन भागों में विभाजन किया है— १) तत्त्व-मीमांसा २) ज्ञान-मीमांसा और ३) आयार-मीमांसा ।

अब हम तत्त्व-मीमांसा में नवतत्त्व कौन से हैं उसका विवेचन करेंगे क्योंकि जैन धर्म के कर्मवाद के सिद्धांत के साथ स्वर्ग-नरक की मान्यता का संबंध है । जैन धर्म कर्म ओर पुनर्जन्म का पुरस्कर्ता है । जीव के कर्म अनुसार ही उसकी गति होती है, उसे मनुष्य, तीर्थच, स्वर्ग या नरक भूमि में जन्म लेना पडता है । कर्मवाद का समावेश नव तत्त्व के विवेचन के अन्तर्गत हो जाता है । अतः हम यहाँ नव तत्त्व के विषय में संक्षिप्त विचारणा करेंगे ।

जैन धर्म में नव तत्त्व

सम्पूर्ण विश्व में जितने भी पदार्थ हैं उन सब का नव तत्त्व में समावेश होता है । इनका संक्षिप्त स्वरूप सात, पांच, एवं दो तत्त्वों में भी होता है ।

उत्तराध्ययन सूत्र में इसका उल्लेख मिलता है—^{२७}

जीवाजीवा य बंधो य पुण्णो पावासवो तहा ।

संवर निर्जरा मोक्खो, संते ए तहिया नव ॥

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नव तत्त्व हैं ।

१) जीव :-

जो ज्ञान-दर्शन के रूप उपयोग को ग्रहण करता है अथवा चेतन लक्षण युक्त होता है, वह जीव कहलाता है ।

२) अजीव :-

जो चैतन्य रहित, जड़-पुद्गल-आकाशादि द्रव्य उसे अजीव कहते हैं ।

३) पुण्य :-

शुभ कर्म, जिनके उदय से मनचाही वस्तु प्राप्त होती है, जैसे शातावेदनीय, यशनामकर्म, आदि । जिन के उदय से शरीर को शाता एवं यश आदि मिलते हैं । इसे पुण्य कहते हैं ।

४) पाप :-

अशुभ कर्म, जिनके उदय से अनिष्ट पदार्थ का संयोग होता है जैसे अशाता, अपयश आदि उस को पाप कहते हैं ।

५) आस्रव :-

जिस से आत्मा में कर्म का आस्रवण-प्रवाह बहना आरंभ होता है, जो कर्मबंध के कारण हैं । मिथ्यात्व, इन्द्रियां, अविरति, कषाय, योग, प्रमाद आदि आस्रव हैं ।

६) संवर :-

अर्थात् आते हुए कर्म को रोकना । जैसे कि सम्यक्त्व, क्षमादि परिषह, शुभ भावना, व्रत-नियम, सामायिक चारित्रादि को संवर कहते हैं ।

७) बंध :-

आत्मा के साथ कर्म का दूध और पानीवत् एकमेक (एकीभूत) होना बंध है । कर्म की निश्चित होती हुई प्रकृति(स्वभाव), स्थिति(काल), उग्र मंद रस, और प्रदेश (दल-प्रमाण)-ये भी बंध हैं-प्रकृति बंध, स्थितिबंध आदि ।

८) निर्जरा :-

अर्थात् कर्मों का नाश होना ।

कर्म का हास करनेवाला बाह्य-आभ्यंतर तप । जैसे कि-उपवास, रसत्याग, कायाक्लेश आदि बाह्य तप है । और प्रायश्चित्त, विनय वेयावच्च (सेवा), स्वाध्याय, ध्यान आदि आभ्यंतर तप है । इसे कर्म निर्जरा कहते हैं ।

९) मोक्ष :-

जीव की कर्मसम्बन्ध से सर्वथा मुक्ति और जीव का प्रगट अनंत ज्ञान अनंत सुखादि स्वरूप जो है उसे मोक्ष कहते हैं ।

सरोवर का दृष्टान्त—

जीव सरोवर में नौ तत्त्व दृष्टान्त से समझने के लिए कहा है कि जीव एक सरोवर है, इसमें ज्ञान, सुख आदि का निर्मलपानी है। इस में आश्रव की नीक के द्वारा कर्म-कचरा चला आता है, यह है 'अजीव' (जड) द्रव्य। कर्म कचरा जीव के साथ एकमेक होता है, यह 'बन्ध' है। अजीव कर्म कचरे के दो विभाग है,— 'पुण्य' व 'पाप'। कुछ अच्छे वर्णगंध-रसादिवाले कर्म है पुण्य, अशुभवाले है पाप। यों जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, बन्ध ये छः तत्त्व हुए। अब आश्रव नील के आगे 'संवर' का ढक्कन लगाया जाए तो जीव सरोवर में नया कर्मकचरा आना बंध हो जाता है। एवं 'निर्जरा'-तप का ताप दिया जाए तो पुराने कर्म सुख कर नष्ट होते जाते हैं—वह है 'निर्जरा'। इस प्रकार कर्म सर्वथा नष्ट होने से, व नये कर्म आना रूक जाने से जीव-सरोवर सर्वथा निर्मल हो जाता है, यह है मोक्ष। उपरोक्त छः के साथ ये तीन तत्त्व संवर-निर्जरा मोक्ष मिलने से ९ तत्त्व होते है।

कर्म

जैन सिद्धान्त में सामान्यतया कोई भी क्रिया कर्म कहलाती है, प्रत्येक हलचल चाहे वह मानसिक हो, वाचिक हो या शारीरिक हो, कर्म है। किन्तु जैन परम्परा में जब हम कर्म शब्द का प्रयोग करते हैं, तो वहाँ ये क्रियायें तभी कर्म बनती है, जब ये बन्धन का कारण हो। आचार्य देवेन्द्रसूरि का कथन है कि जीव की क्रिया का हेतु ही कर्म है।^{२८} पं० सुखलालजी संघवी इसका विवेचन करते हैं कि मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणों से जीव द्वारा जो किया जाता है, वह कर्म कहलाता है।

जीव एवं कर्म का अनादि संबंध है, किन्तु उसका अंत किया जा सकता है। जीव के संसार-परिभ्रमण का अंत कर्मों का नाश अथवा क्षय होने पर ही संभव है।

जैन दर्शन में कर्मों के मुख्य आठ भेद प्रसिद्ध है :-

१) ज्ञानावरणीय; २) दर्शनावरणीय; ३) वेदनीय; ४) मोहनीय; ५) आयुष्य; ६) नाम; ७) गोत्र और ; ८) अन्तराय।

जैसे सूर्य बादलों से आच्छादित हो जाता है ठीक वैसे ही आत्मा का मूल स्वरूप भी आठ कर्मरूपी बादलों से आच्छादित हो जाता है, और अज्ञानादि

विकृतियाँ जन्म लेती है ।

१) ज्ञानावरणीय कर्म :- जो आत्मा के ज्ञान गुण को आच्छादित करता है वह है ज्ञानावरणीय कर्म । यह आँख पर बंधी पट्टी के समान होता है । प्रकाश को आच्छादित करनेवाले/ढाँकनेवाले बादल के समान ज्ञानावरणीय कर्म कहा जाता है । अज्ञानता, मूर्खता आदि उसकी विकृतियाँ हैं ।

२) दर्शनावरणीय कर्म :- आत्मा के दर्शन गुण पर रोक लगाने वाला कर्म है दर्शनावरणीय कर्म । यह प्रतिहारी द्वारपाल की तरह होता है । प्रकाश को छिपानेवाला बादल के समान दर्शनावरणीय कर्म है । इन्द्रियों की असम्पूर्णता, अंधत्व, बधिरपना, मूकत्व, निद्रा आदि विकृतियाँ इससे प्रगट होती हैं ।

३) वेदनीय कर्म :- अव्याबाध सुख को रोकने वाला है वेदनीय कर्म । यह शहद में लिस तलवार की धार की तरह होता है । यह अनन्तसुख को नष्ट करनेवाला बादल के समान है । वेदनीय कर्म शाता-अशाता, शांति-अशांति और सुख-दुःख प्राप्ति का कारण बनता है ।

४) मोहनीय कर्म :- मोह, आसक्ति के कारण जीव को शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति को रोकने वाला मोहनीय कर्म है । यह मदिरा की तरह होता है । क्षायिक समकित एवं अनन्त चारित्र को रोकनेवाला कर्म है मोहनीय कर्म । जिससे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, राग, द्वेष, हास्य, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, शोक, आदि दुर्गुणों की प्राप्ति होती है ।

५) आयुष्य कर्म :- चार गति में जन्म-मरण कराकर, उसमें रोकनेवाला है आयुष्य कर्म । यह कारागृह की तरह होता है । अक्षय स्थितिरूपी प्रकाशको मूंदनेवाला बादल है आयुष्य कर्म । जिससे जन्म, जीवन, मृत्यु की प्राप्ति होती है ।

६) नाम कर्म :- यह चित्रकार के समान होता है । अरूपकता-निराकारत्व को विनष्ट करनेवाला बादल है नाम कर्म । जिससे गति-शरीर, इन्द्रिय-यश-अपयश-सौभाग्य-दुर्भाग्यादि की प्राप्ति होती है ।

७) गोत्र कर्म :- यह कुम्हार के समान होता है । अगुरू-लघुता को रोकनेवाला बादल है गोत्र कर्म । जिससे ऊँच कुल-नीच कुल की प्राप्ति होती है वह गोत्र कर्म है ।

८) अंतराय कर्म :- यह कर्म भंडारी के समान है । अनन्त वीर्यरूपी शक्ति को रोकनेवाला बादल है अंतराय कर्म । जिससे कृपणता, अलाभ, दरिद्रता, पराधीनता, (भोगोपभोग में) दुर्बलता आदि की प्राप्ति होती है ।

इन आठों कर्मों का आत्मा के साथ संबंध अनादि काल से है । जैन मतानुसार यह जीव जैसा कर्म करता है, उसे उसका फल भोगना पड़ता है । कर्म के उस विपाक को भोगने के लिये इसे नया जन्म धारण करना पड़ता है । यह है पुनर्जन्म का सिद्धान्त ।

पुनर्जन्म :-

जैन चिन्तको ने कर्म सिद्धान्त की स्वीकृति के साथ-साथ आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया है । जैन विचारणा यह स्वीकार करती है कि प्राणियों में क्षमता एवं अवसरों की सुविधा आदि का जन्मना नैसर्गिक वैषम्य है, उसका कारण प्राणी के अपने ही पूर्व-जन्मों के कृत्य हैं । संक्षेप में वंशानुगत एवं नैसर्गिक वैषम्य पूर्व-जन्मों के शुभाशुभ कृत्यों का फल है । यही नहीं, वरन् अनुकूल एवं प्रतिकूल परिवेश की उपलब्धि भी शुभाशुभ कृत्यों का फल है । स्थानांग सूत्र में भूत, वर्तमान और भावी जन्मों में शुभाशुभ कर्मों के फल-संबंध की दृष्टि से आठ विकल्प माने गये हैं—

१. वर्तमान जन्म के अशुभ कर्म वर्तमान जन्म में ही फल देवें ।
२. वर्तमान जन्म के अशुभ कर्म भावी जन्मों के फल देवें ।
३. भूतकालीन जन्मों के अशुभ कर्म वर्तमान जन्म में फल देवें ।
४. भूतकालीन जन्मों के अशुभ कर्म भावी जन्मों में फल देवें ।
५. वर्तमान जन्म के शुभ कर्म वर्तमान जन्म में फल देवें ।
६. वर्तमान जन्म के शुभ कर्म भावी जन्मों में फल देवें ।
७. भूतकालीन जन्मों के शुभ कर्म वर्तमान जन्म में फल देवें ।
८. भूतकालीन जन्मों के शुभ कर्म भावी जन्मों में फल देवें ।^{१९}

इस प्रकार जैन दर्शन में वर्तमान जीवन का संबन्ध भूतकालीन एवं भावी जन्मों से माना गया है । जैन दर्शन के अनुसार चार प्रकार की गतियाँ हैं—(१) देव (स्वर्गीय जीवन), (२) मनुष्य; (३) तिर्यच (वनस्पतिक एवं पशु जीवन)

और (४) नरक (नारकीय जीवन)^{३०}। प्राणी अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार इन गतियों में जन्म लेता है। यदि वह शुभ कर्म करता है तो देव और मनुष्य के रूप में जन्म लेता है और अशुभ कर्म करता है तो तिर्यच(पशु) गति या नरक गति प्राप्त करता है। मनुष्य मरकर पशु भी हो सकता है और देव भी। प्राणी भावी जीवन में क्या होगा ? यह उसके वर्तमान जीवन के आचरण पर निर्भर करता है।

कौनसे कर्म से कौनसी गति प्राप्त होती है ? अब हम उसका विवेचन करेंगे।

गति

गति का सामान्य अर्थ होता है-गमन। एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर पहुँचने को 'गति' कहते हैं।^{३१} सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में गति का सामान्य लक्षण इसी प्रकार दिया है- 'देशाद् देशान्तर प्राप्ति हेतुर्गति':। अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान को प्राप्त करने का जो हेतु या साधन है उसे गति कहते हैं।

जैन कर्म-सिद्धान्त की दृष्टि से अथवा संसारी जीवों की गतियों की दृष्टि से चार गतियाँ प्रसिद्ध हैं :-

१) नरक गति, २) तिर्यञ्च गति, ३) मनुष्य गति, ४) और देव गति।

नरक गति :- जहाँ दुःख ही दुःख होता है, वह है नरक गति।

जो जीव जिस प्रकार के कर्म करता है, उसको उनके अनुरूप फल भोगना होता है। यदि जीव ने एकान्त दुःख रूप नरक भव के योग्य कर्मों का बंध किया है तो उसे नरक का दुःख भोगना होता है। नैरयिक जीव सदैव भयग्रस्त, त्रसित, भूखे, उद्विग्न, उपद्रवग्रस्त एवं क्रूर परिणाम वाले होते हैं। वे सदैव परम अशुभ नरक भव का अनुभव करते रहते हैं।

अधोलोक में नरक के कुल सात भेद हैं :-

१. रत्नप्रभा; २. शर्कराप्रभा; ३. वालुकाप्रभा; ४. पंकप्रभा; ५. धूमप्रभा; ६. तमःप्रभा; और ७. तमःतमाःप्रभा। ये सात पर्याप्त एवं सात अपर्याप्त ऐसे कुल चौदह भेद नरकगति के जीवों के हैं।

नरक में जाने के प्रायः चार कारण है :-

१. महारम्भ २. महापरिग्रह ३. पञ्चेन्द्रियवध एवं ४. माँस भक्षण । अति पाप करने से जीव नरक गति में जाता है । वहाँ वह कुंभी में उत्पन्न होता है । वहाँ क्षेत्र वेदना, परमाधामीकृत वेदना, परस्पर कृत वेदना आदि अपरंपार होती है । करोड़ों प्रकार के रोग होते हैं, जो जीव को निरंतर भोगने-सहने पडते हैं ।

नैरयिक जीव नरक में उत्पन्न होते ही मनुष्य लोक में आना चाहते हैं, किन्तु नरक में भोग्य कर्मों के क्षीण हुए बिना वहाँ से आ नहीं सकते । नरकावासों के परिपार्श्व में जो पृथ्वीकायिक अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक एवं वनस्पतिकायिक जीव हैं वे भी महाकर्म, महाक्रिया, महाआश्रव एवं महावेदना वाले होते हैं । चार-सौ पाँच सौ योजन पर्यन्त नरकलोक नैरयिक जीवों से ठसाठस भरा हुआ होता है ।^{३२}

नरकलोक के नैरयिक जीवों की देहमान उत्कृष्ट ५०० धनुष्य और जघन्य ७॥ धनुष्य ६ अंगुल होता है । नरक जीवों का आयुष्यमान जघन्य दस हजार वर्ष एवं उत्कृष्ट ३३ सागरोपम का है ।^{३३} नरक गति के १४ भेद है ।

तिर्यच गति :-

तिर्यञ्च गति ही मात्र एक ऐसी गति है, जिसमें एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव विद्यमान हैं । काया की दृष्टि से भी पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक छहों काया के जीव तिर्यञ्चगति में होते हैं । संख्या की दृष्टि से भी इसमें सबसे अधिक (अनन्त) जीव हैं । तिर्यञ्च गति के जीवों का जो चारों गतियों में संकेत है, वह इस प्रकार कि वे चारो गतियों से आ सकते हैं । जीवों की जितनी विविधता तिर्यञ्चगति में है, उतनी अन्य किसी गति में नहीं है, । इस प्रकार तिर्यय के ४८ भेद है । स्थावर एकेन्द्रिय के २२ भेद, विकलेन्द्रिय के ६ भेद, पंचेन्द्रिय तिर्यच के २० भेद मिलाकर कुल ४८ भेद होते हैं ।

मनुष्य गति :-

मनुष्य दो प्रकार के होते हैं -१. गर्भज एवं २. सम्मूर्च्छिम । सम्मूर्च्छिम मनुष्य तो अत्यन्त अविकसित होता है तथा चौथी पर्याप्ति पूर्ण करने के पूर्व ही मरण को प्राप्त हो जाता है । इसकी उत्पत्ति मल-मूत्र, श्लेष्म, वीर्य आदि १४ अशुचि स्थानों पर होती है । गर्भज मनुष्य भी तीन प्रकार के होते हैं-कर्मभूमि

में उत्पन्न, अकर्मभूमि में उत्पन्न तथा ५६ अन्तर्द्वीपों में उत्पन्न । पाँच भरत, पाँच ऐरावत एवं पाँच महाविदेह ये १५ कर्मभूमियाँ मानी गई हैं । अकर्मभूमि के ३० भेद हैं- ५ हैमवत, ५ हैरण्यवत, ५ हरिवर्ष; ५ रम्यक् वर्ष, ५, देवकूरु एवं ५ उत्तर कूरु । गर्भज मनुष्य पर्याप्तक एवं अपर्याप्तक दोनों प्रकार का होता है, जबकि सम्पूर्च्छिम मनुष्य मात्र अपर्याप्तक ही होता है ।

१५+३०+५६=१०१ भेद मनुष्य गति के है । कुल ३०३ भेद होते हैं ।

गर्भज-शुक्र एवं शोणित के संगम से भी गर्भ धारण करती है, वहाँ जन्म पानेवाला जीव गर्भज कहलाता है । स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण करने से पहले मरनेवाले अपर्याप्त कहलाते हैं, पूर्ण करके मरनेवाले पर्याप्त कहलाते हैं ।

देवगति :-

अति पुण्य प्रभाव से जीव देवगति में उत्पन्न होते हैं । देव पुण्य शय्या में उत्पन्न होकर अंतर्मुहूर्त में देवकाया का निर्माण कर लेते हैं । जब तक पर्याप्ति पूर्ण न करें, तब तक 'अपर्याप्त' कहलाते हैं और पर्याप्ति पूर्ण हो जैने पर 'पर्याप्ता' माने जाते हैं । देवों के ९९ भेद अपर्याप्ता और ९९ भेद पर्याप्ता के, कुल १९८ भेद होते हैं । जो निम्नानुसार हैं-५ अनुत्तर, ९ ग्रैवेयक, १२ वैमानिक, ९ लोकान्तिक, ३ किल्बिषिक, ५ चर ज्योतिष, ५, स्थिर ज्योतिष; ८ वाणव्यंतर, ८ व्यंतर, १५ परमाधामी, १० भवनपति और १० तिर्यक् जुंभक । इस तरह ९९ पर्याप्ता + ९९ अपर्याप्ता = १९८ भेद माने गए हैं । देवियाँ की उत्पत्ति दूसरे देवलोक तक होती है । परंतु ये देवियाँ ८ वें देवलोक तक गमनागमन कर सकती हैं । उत्तरोत्तर देवलोक में सुख की मात्रा अधिक और विषय वासना कम होती है । उनका शरीर प्रमाण एक हाथ से सात हाथ तक होता है ।

देव तीन कारणों से विद्युत्प्रकाश एवं मेघगर्जना जैसी ध्वनि करते हैं :-

१. वैक्रिय रूप करते हुए, २. परिचारणा करते हुए एवं ३. श्रमण-माहण के समक्ष अपनी ऋद्धि, द्युति, यश, बल, वीर्य, पुरुषकार एवं पराक्रम का प्रदर्शन करने के लिए । देवेन्द्र देवराज शक्र वृष्टिकायिक देवों के माध्यम से वर्षा करने का कार्य भी करता है ।

एक अपेक्षा से देव दो प्रकार के होते हैं-१. मायी मिथ्यादृष्टी; २. अमायी सम्यग्दृष्टि । मायी मिथ्यादृष्टि उपपन्नक देव भावितात्मा अनगार को देखकर भी उन्हें वन्दन-नमस्कार एवं सत्कार-सम्मान नहीं देता । वह भावितात्मा अनगार के मध्य

से निकल जाता है, किन्तु अमायी सम्यग्दृष्टि उपपन्नक देव भावितात्मा अनगार को देखकर वन्दन, नमस्कार, सत्कार, सम्मान आदि करके पर्युपासना करता है। वह उनके बीच से नहीं निकलता।

देव अपनी शक्ति से चार-पाँच देववासों के अन्तर्गत का उल्लंघन कर सकते हैं। किन्तु इसके पश्चात् वे परशक्ति द्वारा ऐसा कर सकते हैं।

तिर्यच गति के ४८, मनुष्य गति के ३०३, देवगति के १९८, नरक गति के १४ कुल मिलाकर $४८+३०३+१९८+१४=५६३$ जीव-भेद होते हैं।^{३४}

हमारी आत्मा उपरोक्त प्रकार के ५६३ भेदों में ५ अनुत्तर के बिना अनन्तानन्त बार परिभ्रमण कर आई है। अतः अब, जब कि हमें मानव भव मिला है, मुक्ति की साधना में अवश्य उद्यमशील रहना चाहिए। तभी दुःखों से मुक्ति एवं सुख की प्राप्ति होगी।

उपरोक्त गतियों के २ भेद किये जा सकते हैं-१) प्रत्यक्ष और २) परोक्ष

जो अपनी आँखों से देखे जा सकते हैं उसको प्रत्यक्ष कहते हैं। वह तिर्यच गति और मनुष्य गति। जो अपन जैन आगमों से, शास्त्रों में लिखा हुआ या सुनकर सोचकर अनुभव कर सकते हैं, उसे परोक्ष गति कहते हैं : वे हैं नरकगति; और देवगति।

उपरोक्त कौनसी गति कौन से कर्म के बंध के कारण उदय में आती है उसका उल्लेख करेंगे।

कर्मानुसार गति बंध :-

कौन सी गति किस प्रकार के कर्म से प्राप्त होती है ? इसके लिये जैन मान्यता है कि सामान्य रूप से तीन योग और चार कषाय ही सब कर्म प्रकृतियों के बन्धहेतु हैं, फिर भी कषायजन्य अनेकविध प्रवृत्तियों में से कौन-कौन सी प्रवृत्ति किस-किस कर्म के बन्ध के कारण कौन सी गति प्राप्त होती है, यह इसमें विभागपूर्वक देखेंगे।

शुभ-योग का कार्य पुण्यप्रकृति का बन्ध और अशुभ-योग का कार्य पाप-प्रकृति का बन्ध है। इसी के अनुसार गति का बंध होता है। गति के चार प्रकार हैं-

१) नरक; २) तिर्यच; ३) मनुष्य और ४) देव।

१) नरक गति के बंध के कारण—^{३५}

- १) आरंभ—प्राणियों को दुःख पहुँचे ऐसी कषायपूर्वक प्रवृत्ति है ।
- २) परिग्रह—यह वस्तु मेरी है और मैं इसका स्वामी हूँ ऐसा संकल्प ।
- ३) हिंसादि—कूर कामों में सतत प्रवृत्ति होना ।
- ४) दूसरे के धन का अपहरण करना ।
- ५) भोगों में अत्यन्त आसक्ति रखना ।
- ६) मांसाहार और पंचेन्द्रिय वध करना ।
- ७) कृष्ण लेश्या के परिणाम अथवा रौद्रध्यान होना ।
- ८) झूठे संकल्प-विकल्पों की सतत मनोप्रवृत्ति होना ।
- ९) तीव्रतम क्रोध-मान-माया-लोभ के परिणाम होना ।
- १०) परस्त्री-गमन विषयक सतत आसक्ति रखना ।
- ११) अभक्ष्य-भक्षण की सतत प्रवृत्ति होना ।

ऐसे लक्षण युक्त परिणाम वाले जीव नरकायु का आस्रव करते हैं अर्थात् भवांतर में नरक गति योग्य कर्मों का बंधन करते हैं ।^{३६}

२) तिर्यच :- तिर्यञ्च गति के बंध के कारण^{३७}—

- १) माया अर्थात् छलप्रपंच करना ।
- २) कुटिल भाव रखना । शल्य युक्त, उगनेवाला, धूर्तमानव ।^{३८}
- ३) धर्मतत्त्व के उपदेश में धर्म के नाम से मिथ्या तत्त्वों को मिलाकर उनका स्वार्थ-बुद्धि से प्रचार करना ।
- ४) जीवन को शील से दूर रखना ।
- ५) असता वचन तथा कुधर्म-देशना देना ।
- ६) अनीति, कूड-कपट, माया आदि करने से ।
- ७) नील अथवा कपोत लेश्या के परिणामों से ।
- ८) बहुलता से आर्तध्यान करने से ।
- ९) मध्यम आरंभ परिग्रहादि करने से ।
- १०) झूठे माप-तोल करने से ।

- ११) अतिचारों से युक्त चारित्र, शील, व्रतादि पालन से ।
- १२) शब्द अथवा संकेत से परवंचना का षडयंत्र रचने से ।
- १३) दो व्यक्ति के बीच या पर परिणामों में भेद उत्पन्न करने से ।
- १४) वर्ण, रस, गंध, आदि से विकृत करने की अभिरुचि से ।
- १५) सदगुण लोप और असदगुण जानने से ।
- १६) मरते समय आर्तध्यान करने से ।

इस प्रकार से माया के अन्य अनेक लक्षणों से जीव तिर्यच गति के आयुष्य का आस्रव करता है । जिसके कारण भवान्तर में उस जीव को तिर्यचगति प्राप्त होती है ।^{३९}

३) मनुष्य :-

मनुष्यायु का मुख्य चार कारणों से आस्रव होता है—

अल्प आरंभ; अल्प परिग्रह; स्वाभाविक मृदुता और स्वाभाविक सरलता^{४०} ।

इसके अतिरिक्त भी अन्य कई कारण हैं—

- १) आरंभ-वृत्ति तथा परिग्रह-वृत्ति रखना ।
- २) स्वभाव में कोमलता-आठ प्रकार के मद का अभाव या अल्प मद ।
- ३) स्वभाव में सरलता-मन, वचन, काया की यथार्थ प्रवृत्ति प्रियता ।
- ४) मिथ्या दर्शन होते हुए भी अति विनीत भाव होना ।
- ५) शीघ्र समझा जा सके ऐसी सरल प्रकृति का हो ।
- ६) स्वागतादि-प्रियता अथवा अभिलाषा होना ।
- ७) स्वभाव में मिठास अथवा मधुरता हो ।
- ८) लोकसेवा की स्वाभाविक वृत्ति-लोकयात्रा का अनुग्रह होना ।
- ९) उदासीनता अर्थात् स्वाभाविक पतले कषाय होना ।
- १०) देव, गुरु, पूजा की वृत्ति ।
- ११) अतिथि संविभाग-दान देने की वृत्ति ।
- १२) कापोत लेश्या के परिणाम ।
- १३) धर्मध्यान का प्रेम और उसमें प्रवृत्ति ।

१४) मध्यम परिणाम अर्थात् विषय कषाय की मंदता हो ।

१५) प्रकृति से भद्रता-भद्र मिथ्यात्वी ।

१६) मीट्टी की रेखा के समान क्रोधादि हो अर्थात् सरल लोक व्यवहार हो ।

१७) हिंसा तथा दुष्ट कार्यों से विरक्ति हो ।

१८) ईर्ष्या रहित परिणाम-संतोष वृत्ति हो ।

१९) अंत समय में (मरते समय)धर्मध्यानादि के परिणाम *^१वाला ।

जिस में साधारण गुण हो, प्रकृति से कम कषाय हो और जिसको दानादि में आनंद आता हो, ऐसा सरल स्वभावी प्राणी मनुष्यायु बांधता है ।^{१२}

४) देव :- देवगति के बंध के कारण—

१) हिंसा, असत्य चोरी आदि महान दोषों से विरतिरूप संयम अंगीकार कर लेने के बाद भी कषायों के कुछ अंश का शेष रहना-सरागसंयमी होना^{१३} ।

२) हिंसाविरति आदि व्रतों का अल्पांश में धारण करना, संयमासंयम है ।

३) पराधीनता के कारण या अनुसरण के लिए अहितकर प्रवृत्ति अथवा आहार आदि का त्याग अकाम निर्जरा है ।

४) बालभाव से अर्थात् बिना विवेक के अग्निप्रवेश, जलप्रवेश, पर्वत-प्रपात, विषभक्षण, अनशन आदि देहदमन की क्रियाएँ करना आदि बालतप से ।

५) रागयुक्त संयम व्रत के पालन से ।

६) देशविरति धर्म रूप श्रावक धर्म के पालन से ।

७) निर्जरा की बुद्धि रहित कर्म का क्षय करने से ।

८) मिथ्यादृष्टि से बालतप करने से ।

९) कल्याण मित्र का संपर्क रखने से—वंकचूल की तरह ।

१०) जिनवाणी रूप धर्म का श्रवण करने से ।

११) दान, शील, तप और भावरूप चतुर्विध धर्म करने से ।

१२) शुभ लेश्या के परिणामों से ।

१३) अविरति सम्यग्दर्शन के प्रभाव से ।

- १४) सुपात्र को अन्न, वस्त्र, पात्र आदि दान देने से ।
 १५) धर्म के प्रति अत्यन्त राग करने से ।
 १६) जिनालय, उपाश्रय, आदि आयतन सेवा से ।
 १७) अंत समय में धर्मध्यान रूप परिणति होने से ।

उपरोक्त कर्म करने से देव आयुष्य का बंध होता है । इस प्रकार चारों गतियों में जीव किन कारणों से परिभ्रमण करता है, इसका ज्ञान हो जाने के पश्चात् यह प्रश्न उठता है कि ये चारों गतियाँ हैं, कहाँ ? जैन परंपरा इन गतियों की स्थिति लोक में मान्य करती है । अब आगामी प्रकरण में लोक विषयक जैन मान्यता का इतर मान्यताओं के साथ उल्लेख करेंगे ।

टिप्पण :-

१. जैन सिद्धान्त भास्कर भा. ५ वि. पृ. २६-३०
२. "There is nothing to prove that Parshva was the founder of Jainism. Jain tradition is unanimous in making Rishabha the first Tirthankara (as its founder) there may be something historical in the tradition which makes him the first Tirthankara". Indian Antiquary Vol. IX, p. 163.
३. There is evidence to show that so far back as the first Century B.C, there were people who were worshipping Rishabhadeva, the first Tirthankara. There is no doubt that Jainism prevailed even before Vardhamana or parshvanatha. The Yajurveda mentions the names of three Tirthankaras-Rishabha, Ajitnatha and Aristanemi. The Bhagavata Puran endorses the view that Rishabha was founder of "Jainism.

-Indian Philosophy, Vol. I, p. 287

४. दर्शन और चिन्तन, पं. सुखलालजी. पृ. ११६-११७
५. शांकरभाष्य, पृ. ३५३ एवं योगसूत्र व सांख्यतत्त्व कौमुदी ।

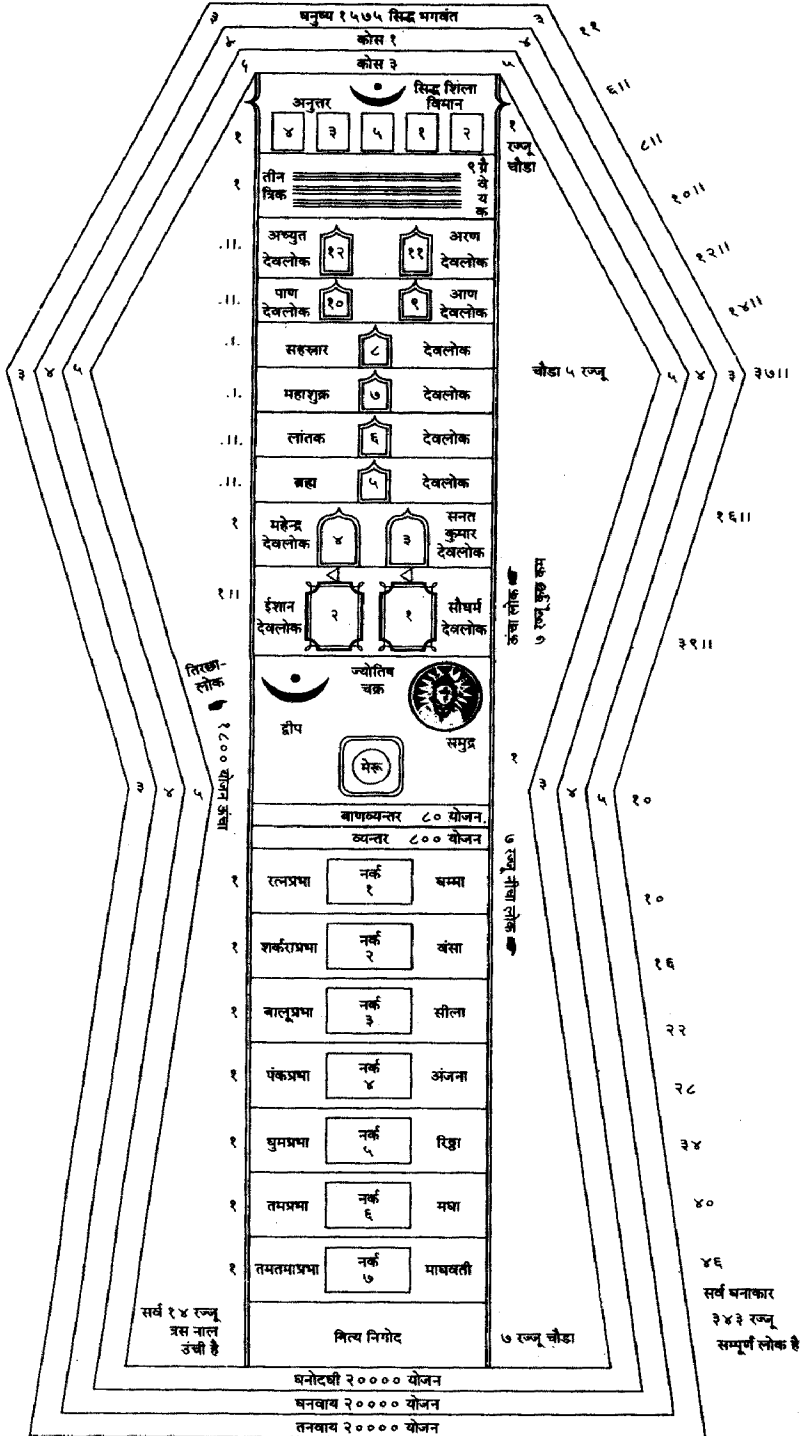
६. उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल की विस्तृत विवेचना हेतु देखें तिलोयपण्णत्ति अ. ४ गा. ३२०-३९४ ।
७. तीर्थकरो द्वारा उपदिष्ट तत्त्व श्रुत कहलाता है । श्रुतकेवली उसके पूर्ण ज्ञाता होते हैं ।
८. पं. कैलाशचंद्र शास्त्री, जैन साहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका, पृ. ४९६ ।
९. विशेषावश्यक भाष्य १११६
१०. जैन आगम साहित्य...श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री पृ. १०
११. अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं ।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तेइ ॥
- भद्रबाहु, आवश्यकनिर्युक्ति ९२ ।
१२. महावीर निर्वाण का काल मुनि कल्याणविजयजी ने बुद्ध परिनिर्वाण के १४ वर्ष बाद ईसवी पूर्व ५२७ में स्वीकार किया है, ६ 'वीर निर्वाण संवत् और कालगणना', नागरीप्रचरिणी पत्रिका, जिल्द १०-११ तथा देखिये हरमन जैकोबी का 'बुद्ध-महावीराज निर्वाण' आदि लेख ।
१३. आवश्यकचूर्णी २, पृ. १८७ । तथा हरिभद्र का उपदेशपद ।
१४. नन्दीचूर्णी पृष्ठ ८ ।
१५. ज्योतिष्करंडकटीका, पृष्ठ ४१; गच्छाचारवृत्ति ३; जंबूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र १७ टीका पृष्ठ ८७ ।
१६. देखिये मुनि कल्याणविजय, वीरनिर्वाण संवत् और जैन कालगणना, पृष्ठ ११२-११८ ।
१७. बौद्ध त्रिपिटक की तीन संगीतियों का उल्लेख बौद्ध ग्रंथों में आता है ।
१८. प्राकृत साहित्य का इतिहास भाग. १ जगदीशचंद्र जैन पृ. १२२
१९. प्राकृत साहित्य का इतिहास भा. १ जगदीशचंद्र जैन पृ. १२३
२०. बौद्धों के विनयपिटक को भी छिपाकर रखने का आदेश है जिसमें अपयश न हो ।
देखिये मिलिन्दपण्ह (हिन्दी अनुवाद पृ० २३२)

२१. प्राकृत साहित्य का इतिहास भा. १ जगदीशचंद्र जैन पृ. १३४.
२२. सब से पहले भावसूरिने जैनधर्मवरस्तोत्र (श्लोक ३०) की टीका (पृ. ९४) में निम्नलिखित मूलसूत्रों का उल्लेख किया है-अथ उत्तराध्ययन १, आवश्यक २, पिण्डनिर्युक्ति तथा ओघनिर्युक्ति ३, दशवैकालीक ४, इति चत्वारि मूलसूत्राणि-प्रो. एच. आर. कापडिया, ४ कैनोनिकल लिटरेचर औफ द जैन्स, पृ. ४३ फुटनोट ।
२३. प्राकृत साहित्य का इतिहास, जगदीशचंद्र जैन पृ. १८८.
२४. पं. दलसुखभाई मालवणिचा कृत जैनागम स्वाध्याय, प्रा. जै. वि. वि. फंड. अमदावाद, १९९१, पृ. १८
२५. अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं ।
सासणस्स हियद्वाए तओ सुत्तं पवत्तइ ॥ भद्रबाहु, आव.निर्युक्ति, गाथा नं. ८२.
२६. उद्धृत द्रव्यानुयोग भा.१. स्वकथन पृ. ११.
२७. उत्तराध्ययन सूत्र २८
२८. देवेन्द्रसूरि, कर्मग्रंथ प्रथम, कर्म-विपाक द्रव्यानुसंग्रह भा. १. पृ. ६०.
२९. स्थानांग सूत्र, ८/२.
३०. तत्त्वार्थ सूत्र, ८/११.
३१. द्रव्यानुयोग भा. २ नरकगति अध्ययन पृ. १२५३.
३२. द्रव्यानुयोग भा. २ पृ. १२५२.
३३. जैन तत्त्वज्ञान चित्रावलि प्रकाश; अनुवाद :- रंजन परमार पृ. २६.
३४. जैन तत्त्वज्ञान चित्रावलि प्रकाश :- रंजन परमार पृ. २६.
३५. स्थानांग स्था० ४, उ० ४, सू० ३७६-१, लोकप्रकाश-सर्ग १० श्लोक-२६० पूर्वार्ध, तत्त्वार्थसूत्र अ० ६ गा० १६
३६. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र-अभिनव टीका भा. ६ सू. १६.
३७. स्थानांग स्था० ४ उ० ३ सू० ३७३-२.
३८. द्रव्यलोकप्रकाश सर्ग-१० श्लोक-६० उत्तरार्ध

३९. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र-अभिनव टीका अ. ६ सू. १७. पृ. ११०.
४०. स्थानांग सूत्र स्था. ४, उ. ४, सू. ३७३-३, उत्तराध्ययन सूत्र अ. ७ गा. २०
४१. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र-अभिनव टीका अ. ६ सू. १८
४२. लोकप्रकाश, सर्ग-१० श्लोक :- २६१
४३. स्थानांगवृत्ति स्था० ४, उ० ४, सू० ३७३/४, प्रज्ञापना प्र० ६ सू० ६.

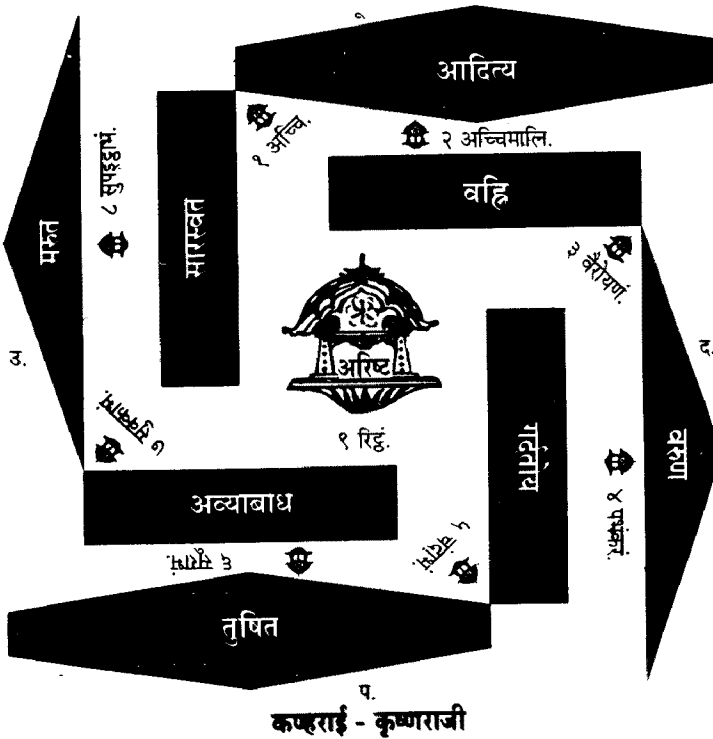
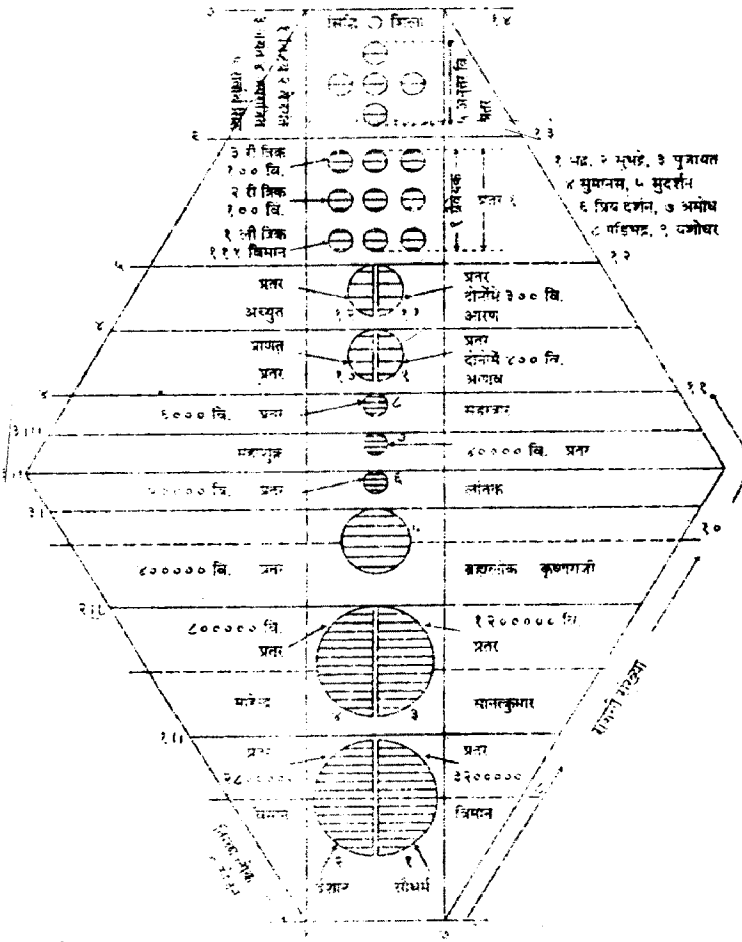


जैन तत्व प्रकाश लोकाकार ब्रसनाल



ऊर्ध्व लोक

इस नक्शे में ऊर्ध्व (ऊपर के) लोक का चित्र दर्शाया है। इसके मध्य में जो गोलाकार आकृति के अन्दर आड़ी लकीरें हैं वे ही देवलोक की प्रतरें समझना चाहिए, और उन प्रतरों में ही देवताओं के विमान हैं, जिनकी संख्या वहां जगह नहीं होने से दोनों बाजू दी गई हैं, किन्तु दोनों बाजू आकाश सूक्ष्म स्थावर बादर वायु काय के सिवाय कुछ भी नहीं है, देवलोक का विस्तार मे वर्णन ग्रन्थ में दिया है।



नव लोकांतिक देव के विमान

प्रकरण २

जैन मान्यतानुसार लोक (विश्व) स्वरूप

समग्र लोक का संक्षिप्त वर्णन :-

पुण्य और पाप कर्म करके जीव इस संसार में परिभ्रमण करता है । तदनुसार गति दो प्रकार की है । शुभ गति और अशुभ गति । पुण्य कर्म करने से शुभ गति प्राप्त होती है, और पाप कर्म करने से अशुभ गति में जीव उत्पन्न होता है । देवगति और मनुष्यगति ये शुभ गति हैं, तो नरकगति और तिर्यचगति ये अशुभ गति हैं । इन में से मनुष्यगति तथा तीर्यच गति हमें प्रत्यक्ष है, किन्तु देवगति याने स्वर्ग तथा नरकगति याने नरक हमें प्रत्यक्ष नहीं है । जैन मान्यतानुसार इन चारों गति के जीवों का समावेश लोक में होता है । लोक क्या है ? कितने प्रमाण का है ? इस का वर्णन विस्तार से अब करेंगे ।

इस अनन्त आकाश में प्रतिदिन होने वाले चंद्र-सूर्य के उदयास्त को तथा झिलमिलाते अनगिनत तारों को देखकर, जब कभी मानव ने चिंतन किया तो उसके मन में विश्व के विस्तार की परिकल्पना जागृत हुई । वह सोचने लगा कि नीचे ऊपर और दाये-बांये यह लोक (विश्व) कितनी दूरी तक फैला हुआ है ? यह असीम, अनंत है या ससीम-सान्त है ?

जैनागमों में लोक दो प्रकार का मान्य किया है-लोक और अलोक । उसमें लोक चौदह रज्जु प्रमाण है । 'रज्जु' विस्तारसूचक जैन पारिभाषिक शब्द है । इसके अतिरिक्त सर्वत्र अलोक है ।

लोक शब्द कैसे बना ?

लोक का वर्णन

'लुक्' धातु से लोक शब्द निष्पन्न होता है । 'लुक्' धातु का अर्थ देखना होता है । जहाँ जीव पुद्गलादि द्रव्य दिखाई देते हैं, वह लोक है ।^१

अनन्त आकाश के ठीक बीचों-बीच यह हमारा लोक अवस्थित है । जो नीचे पलयंक के सदृश, मध्य में वज्र के समान और ऊपर खड़े मृदंग के तुल्य है । इस प्रकार यह लोक नीचे विस्तीर्ण, मध्य में संक्षिप्त और ऊर्ध्वमुख मृदंग

के समान हैं। यह सब मिलकर लोक का आकार पुरुष के आकार का सा हो जाता है। जैसे कोई पुरुष अपने दोनों पैरों को फैलाकर और दोनों हाथों को कटि(कमर) पर रखकर खड़ा हो, तो उसका जैसा आकार होता है ठीक इसी प्रकार लोक का आकार है। अथवा मृदंग के ऊपर पूरे मृदंग को रखने पर जैसा आकार होता है, वैसा आकार लोक का समझना चाहिए।^२ कटि के नीचे के भाग को अधो-लोक, ऊपर के भाग को उर्ध्वलोक और कटि-स्थानीय भाग को मध्य-लोक कहते हैं। इस तीन विभाग वाले लोक को लोकाकाश कहा जाता है, क्योंकि इसके भीतर ही जीव-पुद्गलादि सभी चेतन और अचेतन द्रव्य पाये जाते हैं। इस लोकाकाश के सर्व और प्रसरे अनन्त आकाश को अलोकाकाश कहते हैं, क्योंकि इस में केवल आकाश के अतिरिक्त अन्य कोई चेतन या अचेतन द्रव्य नहीं पाया जाता है।

सामान्य लोक-स्वरूप

लोकाकाश की ऊँचाई १४ रज्जु है।^३ यह अधोलोक में सबसे नीचे अर्थात् तल भाग में सात रज्जु चौड़ा है। उस से ऊपर अनुक्रम से कम होता हुआ सात रज्जु ऊपर आ जाने पर एक रज्जु बराबर चौड़ा रहता है। तत्पश्चात् ऊपर चौड़ा होता हुआ जह ३॥ रज्जु ऊपर ऊठे तब पाँच रज्जु चौड़ा होता है। उसके बाद ऊपर कम होता हुआ क्रमशः साढे तीन रज्जु पर अंत में एक रज्जु चौड़ा रहता है। इस प्रकार संपूर्ण लोक नीचे से ऊपर तक चौदह रज्जु लम्बा है। घनाकार के नाप से ३४३ घन रज्जु प्रमाण है। वह संपूर्ण लोक के विषम स्थान को सम करने से सात रज्जु लम्बा, सात रज्जु चौड़ा और सात रज्जु ऊँचा, और उसका घन करने से $7 \times 7 \times 7 = 343$ रज्जु होता है।

जिस प्रकार घर के मध्य भाग में स्तंभ हो, ठीक उसी प्रकार लोक के मध्य भाग में एक रज्जु चौड़ा और चौदह रज्जु लम्बा स्तंभ जैसा आकाश विभाग है, जो “त्रसनाडी” कहलाता है। उस त्रसनाडी में त्रस एवं स्थावर दोनों प्रकार के जीव हैं, जब कि त्रस नाडी के बाहर लोकाकाश में केवल एकेन्द्रिय स्थावर जीव ही होते हैं।

यह समस्त लोक सर्व और घनोदधि, घनवात और तनुवात इन तीन वलयों से वेष्टित है। अर्थात् इनके आधार पर अवस्थित है। प्रथम वलय अधिक सघन है, अतः इसे घनोदधि कहते हैं। दूसरा वलय तीसरे वलय की अपेक्षा

सघन है अतः उसे घनवात कहा गया है । तीसरा वलय उक्त दोनों की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म या पतला है, इसलिये इसे तनुवात कहते हैं ।^५

सामान्य देव लोक-स्वरूप

लोकाकाश की ऊँचाई १४ रज्जु है । यह अधोलोक में सबसे नीचे लोकांत से साँतवी नारकी के उपर तक एक 'रज्जु' होता है । इस रीति से सातों नारकी के उपर से तलिये तक गिने तो सब मिलकर सात 'रज्जु' होता है ।

रत्नप्रभा नारकी के उपर के तलिये पहले दो देवलोक के विमान तक आठ रज्जु होता है ।

वहाँ से (चोथा) माहेन्द्र देवलोक का अंत आता है वहाँ तक नौवाँ 'रज्जु' और वहाँ से (छट्टे) लान्तक देवलोक के अन्त तक दसवाँ 'रज्जु' पूरा होता है ।

वहाँ के प्रारंभ से (आठवाँ) सहस्त्रार देवलोक की सीमा पूर्ण होती है वहाँ ग्याहवाँ 'रज्जु' और वहाँ से बारहवें अच्युत देवलोक की सीमा पूर्ण होती है वहाँ बारहवाँ 'रज्जु' पूर्ण होता है ।

इस तरह अनुक्रम से ग्रैवेयक के अंत में तेरहवाँ और लोक के अंत में चौदहवाँ रज्जु पूर्ण होता है ।

इसका वर्णन आवश्यकसूत्र की निर्युक्ति और चूर्णि तथा संग्रहणी आदि ग्रंथो में है । भगवतीसूत्र आदि के अभिप्राय से तो धर्मानारकी के नीचे असंख्य योजन होने के बाद 'लोक' का मध्यभाग आता है । उससे उस जगह से सात रज्जु पूर्ण होता है ।

यह समस्त लोक सर्वऔर घनोदधि, घनवात और तनुवात इन तीन वलयों से वेष्टित है । अर्थात् इनके आधार पर अवस्थित है । प्रथम वलय अधिक सघन है, अतः इसे घनोदधि कहते हैं । दूसरा वलय तीसरे वलय की अपेक्षा सघन है, अतः उसे घनवात कहा गया है । तीसरे वलय उक्त दोनों की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म या पतला है, इसलिये इसे तनुवात कहते हैं ।^५

अधोलोक

भगवती तथा स्थानांगसूत्र की वृत्ति में कहा है^६ कि- इस लोक के अधः परिणाम के कारण से अथवा क्षेत्र की अपेक्षा से कहा है कि बहुलता से वहाँ

द्रव्यों के अशुभ परिणामों का संभव है, इसलिए अशुभ-अधोलोक, अथवा अधः नीचे है इसलिए अधोलोक कहते हैं ।

मध्यलोक के नीचे सात पृथ्वियाँ हैं—धम्मा, वंशा, सेला, अंजना, अरिष्ठा, मघा और माघवती । रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महामतःप्रभा—ये इनके गोत्र कहे गये हैं ।^{१०}

पहली रत्नप्रभा के तीन भाग हैं—खरभाग, पंकभाग और अब्बहुलभाग । इनमें खरभाग सोलह हजार योजन मोटा है । पंकभाग चौरासी हजार योजन और अब्बहुलभाग अस्सी हजार योजन मोटा है । इस प्रकार रत्नप्रभा पृथ्वी की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन है । इस तीन विभाग वाली रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे असंख्यात हजार योजन के अन्तराय के बाद दूसरी शर्करा पृथ्वी है । यह एक लाख बत्तीस हजार योजन मोटी है । इसके नीचे पुनः असंख्यात हजार योजन नीचे जाकर तीसरी बालुका पृथ्वी है । इसकी मोटाई एक लाख अट्ठाईस हजार योजन है । इस तीसरी पृथ्वी का तल भाग मध्यलोक से दो रज्जु प्रमाण नीचा है । तीसरी पृथ्वी से असंख्यात हजार योजन नीचे जाकर चौथी पंकप्रभा पृथ्वी है । इसकी मोटाई एक लाख चौबीस हजार योजन है । इस पृथ्वी का तल भाग मध्यलोक से तीन रज्जु नीचा है । इससे असंख्यात हजार योजन नीचे जाने पर पाँचवीं धूमप्रभा पृथ्वी है । इसकी मोटाई एक लाख बीस हजार योजन है । इसका तल भाग मध्यलोक से चार रज्जु नीचा है । पाँचवीं पृथ्वी असंख्यात हजार योजन नीचे जाने पर छठी तमःप्रभा पृथ्वी है । इसकी मोटाई एक लाख सोलह हजार योजन है । इसका तल भाग मध्यलोक से पाँच रज्जु नीचा है । छठी पृथ्वी से असंख्यात हजार योजन नीचे जाने पर सातवीं महातमःप्रभा पृथ्वी है । इसकी मोटाई एक लाख आठ हजार योजन है । इसका तल भाग मध्यलोक से छह रज्जु नीचा है ।^{११}

रत्नप्रभा पृथ्वी के एक लाख अस्सी हजार योजन प्रमाण क्षेत्र में ऊपर नीचे के एक-एक हजार योजन भाग को छोड़कर मध्यवर्ती क्षेत्र में ऊपर भवनवासियों के सात करोड़ बहत्तर लाख भवन हैं, तथा नीचे नारकियों के तीस लाख नारकावास हैं ।^{१०} किन्तु त्रिलोकप्रज्ञप्ति, तत्त्वार्थ-वार्तिक आदि दि० ग्रन्थों में इससे भिन्न उल्लेख पाया जाता है ।^{११}

दूसरी पृथ्वी के ऊपर नीचे एक-एक हजार योजन भूमि-भाग को छोड़कर मध्यवर्ती भाग में नारकों के २५ लाख नारकावास हैं। इसी प्रकार तीसरी से लगाकर सातवीं पृथ्वी तक उनकी मोटाई के ऊपर नीचे के एक-एक हजार योजन भाग को छोड़कर मध्यवर्ती भागों के क्रमशः १५ लाख, १० लाख, ३ लाख पाँच क्रम १ लाख और ५ नारकावास है ये नारकावास पहल या पाथड़ो में विभक्त है पहली आदि पृथ्वी में क्रमशः १५, १३, ११, ९, ७, ५, ३ और १ पटल हैं। इस प्रकार सातों पृथ्वीयों के नारकावासों के ४९ पटल हैं। इन ४९ पटलों में विभक्त सातों पृथिवीयों के नारकावासों का प्रमाण ८४ लाख है, जिनमें असंख्यात नारकी जीव सदाकाल अनेक प्रकार के क्षेत्रज, परस्परोदीरित, शारीरिक, मानसिकों दुःखों को भोगा करते हैं। इन नरकों में क्रूर कर्म करने वाले पापी मनुष्य और पशु-पक्षी तिर्यच उत्पन्न होते हैं। वे पहली पृथ्वी में कम से कम १० हजार वर्ष की आयु से लेकर सातवीं पृथ्वी में ३३ सागरोपम काल तक नाना दुःखों को उठाया करते हैं। उनकी अकाल मृत्यु नहीं होती है। उनका शरीर वैक्रियिक और औपपातिक होता है। जन्म लेने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में ही उनके शरीर का पूरा निर्माण हो जाता है और वे उत्पन्न होते ही ऊपर की और पैर तथा अघोमुख होकर नीचे नरक भूमि पर गिरते हैं।

सातवीं पृथ्वी के नीचे एक रज्जु-प्रमाण मोटे और सात रज्जु विस्तृत क्षेत्र में केवल एकेन्द्रिय जीव ही रहते हैं।

मध्यलोक

मध्यलोक का आकार थाली के समान गोल है। इसके सबसे मध्य भाग में एक लाख योजन विस्तृत जम्बूद्वीप है। इसे सर्व और से घेरे हुए दो लाख योजन विस्तृत वलयाकार लवण समुद्र है। इसे सर्व और से घेरे हुए चार लाख योजन विस्तृत वलयाकार धातकीखण्ड द्वीप है। इसे सर्व और से घेरे हुए आठ लाख योजन विस्तृत कालोद समुद्र है। इसे सर्व और से घेरे हुए सोलह लाख योजन विस्तृत पुष्कर द्वीप है। इस पुष्कर द्वीप के ठीक मध्य भाग में गोल आकार वाला मानुषोत्तर पर्वत है। इससे परवर्ती पुष्करार्ध द्वीप में तथा उसमें आगे के असंख्यात द्वीप समुद्रों में वैक्रिय लब्धि संपन्न या चारणमुनि के अतिरिक्त अन्य मनुष्यों का आवागमन नहीं हो सकता ऐसी श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यता है।^{१२} किन्तु दिगंबर-सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार ऋद्धि-सम्पन्न मनुष्य भी

नहीं आ जा सकते हैं ।^{१३}

पुष्कर द्वीप को घेर कर उससे दूने विस्तार वाला पुष्करोद समुद्र है । पुनः उसे घेर उत्तरोत्तर दूने-दूने विस्तार वाले वरुणवर द्वीप-वरुणवर समुद्र, क्षीरवरद्वीप-क्षीरोदसागर, घृतवरद्वीप-घृतवर समुद्र, क्षोदवरद्वीप-क्षोदवर समुद्र, नन्दीश्वरद्वीप-नन्दीश्वर समुद्र आदि नाम वाले असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं । सबसे अन्त में असंख्यात योजन विस्तृत स्वयम्भूरमण समुद्र है ।

इस असंख्यात द्वीप-समुद्रों वाले मध्य लोक के ठीक मध्य में जो एक लाख योजन विस्तृत जम्बूद्वीप है, उसके भी मध्यभाग में मूल में दस हजार योजन विस्तार वाला और एक लाख योजन ऊँचा मेरु पर्वत है । इसके उत्तर दिशा में अवस्थित उत्तरकुरु में एक अनादिनिधन पार्थिव जम्बू-वृक्ष है, जिसके निमित्त से ही इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप पड़ा है । इस द्वीप का विभाजन करने वाले पूर्व से लेकर पश्चिम तक लम्बे छह वर्षधर पर्वत हैं-हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रूक्मी और शिखरी । इन वर्षधर पर्वतों से विभक्त होने के कारण जम्बूद्वीप के सात विभाग हो जाते हैं, इन्हें वर्ष या क्षेत्र कहते हैं । इनके नाम दक्षिण की ओर से इस प्रकार हैं-भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत वर्ष । इनमें विदेह क्षेत्र के मध्य भाग में मेरु पर्वत है । इसके दक्षिणी भाग में भरत आदि तीन क्षेत्र हैं और उत्तरी भाग में रम्यक आदि तीन क्षेत्र हैं ।^{१४}

कर्मभूमियाँ और अकर्मभूमियाँ

उपर्युक्त सात क्षेत्रों में से भरत, ऐरावत, और विदेहक्षेत्र (देवकुरु और उत्तरकुरु को छोड़कर) को कर्मभूमि कहा जाता है^{१५}, क्योंकि यहाँ के मनुष्य असि, मषि, कृषि आदि कर्मों के द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करते हैं । यहाँ के मनुष्य-तिर्य्यच अपने-अपने पुण्य-पापों के अनुसार नरक, तिर्य्यचादि चारो गतियों में उत्पन्न होते हैं तथा यहाँ के ही मनुष्य अपने पुरुषार्थ के द्वारा कर्मों के द्वारा कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करते हैं । उक्त कर्मभूमि के सिवाय शेष को अकर्मभूमि या भोगभूमि कहा जाता है, क्योंकि यहाँ असि-मषि आदि कर्मों के द्वारा जीविकोपार्जन नहीं करना पड़ता, किन्तु, प्रकृतिदत्त कल्पवृक्षों के द्वारा ही जीवन-निर्वाह होता है । किन्तु वे सदा स्वस्थ रहते हुए पूर्ण आयु-पर्यन्त दिव्य भोगो को भोगते रहते हैं ।^{१६}

अन्तरद्वीप

प्रथम हिमवान पर्वत की चारों विदिशाओं में तीन-तीन सौ योजन लवण-समुद्र के भीतर जाकर चार अन्तर द्वीप हैं । इसी प्रकार लवण-समुद्र के भीतर चार सौ, पाँच सौ, छह सौ, सात सौ, आठ सौ और नौ सौ योजन आगे जाकर चारों विदिशाओं में चार-चार अन्तर द्वीप और हैं । इस प्रकार चुल्ल हिमवान् के (७×४=२८) सर्व अन्तर द्वीप २८ होते हैं । इसी प्रकार छट्टे शिखरी पर्वत के लवण समुद्रगत २८ अन्तर द्वीप हैं । दोनों ओर के मिलाकर ५६ अन्तर द्वीप हो जाते हैं ।^{१७} इनमें एकोरूक आदि अनेक आकृतियों वाले मनुष्य रहते हैं । वे कल्पवृक्षों के फल-फूलों को खाकर अपना जीवन-निर्वाह करते हैं । स्त्री-पुरुष के रूप में युगल उत्पन्न होते हैं और साथ ही मरते हैं । इनके मरण के कुछ समय पूर्व युगल-सन्तान उत्पन्न होती है ।^{१८}

ऊपर जिन छह वर्षधर पर्वतों के नाम कहे गये हैं, उनके ऊपर क्रमशः पद्म, महापद्म, तिर्गिच्छ, केशरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक नाम का एक-एक दृढ या सरोवर है । इन्हीं सरोवरों के मध्य में पद्मों (कमलों)का अवस्थान बतलाया गया है ।^{१९}

विदेह क्षेत्र में मेरू पर्वत के ईशानादि चारों कोनों में क्रमशः गन्धमादन, माल्यवान, सौमनस, और विद्युत्प्रभ नाम वाले चार पर्वत हैं । इनसे विभक्त होने के कारण मेरू के दक्षिणी भाग को देवकुरू और उत्तरी भाग को उत्तरकुरू कहते हैं । ये दोनों ही क्षेत्र भोगभूमि कहलाते हैं । मेरू के पूर्ववर्ती भाग को पूर्व-विदेह और पश्चिम दिशा वाले भाग को ऊपर या पश्चिम-विदेह कहते हैं । इन दोनों ही स्थानों में सीता-सीतोदा नदी के बहने से दो-दो खण्ड हो जाते हैं । इन चारों ही खण्डों में कर्मभूमि है । इन्हीं में सीमन्धर आदि तीर्थंकर सदा विहार करते और धर्मोपदेश देते हुए विराजते हैं और आज भी वहाँ के पुरुषार्थी मानव कर्मों का क्षय करके मोक्ष जाते हैं ।^{२०}

ज्योतिष लोक

जम्बूद्वीप के समतल भाग से ७९७ योजन की ऊँचाई से लेकर ९०० योजन की ऊँचाई तक ज्योतिष्क लोक है, जहाँ पर सूर्य, चन्द्र, ग्रह नक्षत्र और तारा, इन पाँच जाति के ज्योतिषी देवों के विमान हैं । ये सभी विमान ज्योतिर्मनि

या प्रकाश-स्वभावी हैं, अतः इन्हें ज्योतिष्क-लोक कहते हैं । और उनमें रहने वाले ज्योतिष्क देवों के निवास के कारण उक्त क्षेत्र ज्योतिष्क-लोक कहलाता है । तिरछे रूप में ज्योतिष्क-लोक स्वयम्भूरमण समुद्र तक फैला हुआ है । इसमें ७९० योजन की ऊँचाई पर सर्वप्रथम ताराओं के विमान हैं, उनसे १० योजन की ऊँचाई पर सूर्य का विमान है । सूर्य से ८० योजन ऊपर चन्द्र का विमान है । चन्द्र से ४ योजन ऊपर नक्षत्र हैं । नक्षत्रों से ४ योजन ऊपर बुध का विमान है । बुध से ३ योजन ऊपर शुक्र का विमान है । शुक्र से ३ योजन ऊपर गुरु का विमान है । गुरु से ३ योजन ऊपर मंगल का विमान है । और मंगल से ३ योजन ऊपर शनैश्वर का विमान है । इस प्रकार सर्व ज्योतिष्क विमान-समुदाय एक सौ दस योजन के भीतर पाया जाता है ।

मध्य-लोकवर्ती तीसरे पुष्कर-द्वीप के मध्य में जो मानुषोत्तर पर्वत है, वहाँ तक का क्षेत्र मनुष्यलोक कहलाता है । इस मनुष्यलोक के भीतर सर्व ज्योतिष्क-विमान मेरु की प्रदक्षिणा करते हुए निरन्तर घूमते रहते हैं । यहाँ पर सूर्य के उदय और अस्त से ही दिन-रात्रि का व्यवहार होता है । मनुष्यलोक के बाहरी भाग से लेकर स्वयम्भूरमण समुद्र तक के असंख्यात योजन विस्तृत क्षेत्र में जो असंख्य ज्योतिष्क विमान हैं वे घूमते नहीं, किन्तु सदा अवस्थित रहते हैं । जम्बूद्वीप में मेरु के चारों ओर ११२१ योजन तक ज्योतिष्क-मण्डल नहीं है । लोकान्त में भी इतने ही योजन छोड़कर ज्योतिष्क-मण्डल अवस्थित है । इसके मध्यवर्ती भाग में यथासंभव अन्तराल के साथ सर्वत्र वह फैला हुआ है ।

जैन मान्यता के अनुसार जम्बूद्वीप में २ सूर्य और २ चंद्र हैं । एक सूर्य मेरु पर्वत की पूरी प्रदक्षिणा दो दिन रात में करता है । इसका परिभ्रमण-क्षेत्र जम्बूद्वीप के भीतर १८० योजन और लवण-समुद्र के भीतर ३३० $\frac{१}{४}$ योजन है । सूर्य के घूमने के मण्डल १८३ हैं । एक मण्डल से दूसरे मण्डल का अन्तर दो योजन का है । इस प्रकार प्रथम मण्डल से अन्तिम मण्डल तक परिभ्रमण करने में सूर्य को ३६६ दिन लगते हैं । सौर मण्डल के अनुसार एक वर्ष में इतने ही दिन होते हैं । चन्द्र के परिभ्रमण के मण्डल केवल १५ हैं । चन्द्र को भी मेरु की एक प्रदक्षिणा करने में दो दिन-रात से कुछ अधिक समय लगता है, क्योंकि उसकी गति सूर्य से मन्द है । इसी कारण से चन्द्र के उदय में सूर्य की अपेक्षा आगे-पीछापन दिखाई देता है । एक चन्द्र अपने १५ मंडलों में चन्द्रमास में $१४\frac{१}{४} + \frac{१}{४}$ मंडल ही चलता है, अतः चन्द्रमास के अनुसार वर्ष में ३५५ या

३५६ ही दिन होते हैं ।

जैन मान्यातानुसार लवण-समुद्र में ४ सूर्य और ४ चन्द्र हैं । धातकीखण्ड में १२ सूर्य १२ चन्द्र हैं । कालोद-समुद्र में ४२ सूर्य और ४२ चन्द्र हैं । पुष्करार्ध-द्वीप में ७२ सूर्य और ७२ चन्द्र हैं । पुष्करार्ध के परवर्ती अर्ध भाग में भी ७२-७२ ही सूर्य-चंद्र हैं । इससे आगे स्वयम्भूरमण-समुद्र पर्यन्त सूर्य और चन्द्र की संख्या उत्तरोत्तर दूनी-दूनी है ।

एक चन्द्र के परिवार में एक सूर्य, अट्ठाईस नक्षत्र, अठ्यासी ग्रह और ६६९७५ कोड़ाकोडी तारे होते हैं । जम्बुद्वीप में दो चन्द्र होने से नक्षत्रादि की संख्या दूनी जाननी चाहिए । इस प्रकार सारे ज्योतिर्लोक में असंख्य सूर्य, चन्द्र हैं । इनसे अट्ठाईस गुणित नक्षत्र और अठ्यासी गुणित ग्रह हैं । तथा सूर्य से ६६९८७५ कोड़ाकोडी गुणित तारे हैं ।

मनुष्यलोकवर्ती ज्योतिष्क-विमान यद्यपि स्वयं गमन-स्वभावी है, तथापि आभियोग्य जाति के देव सूर्य-चन्द्रादि विमानों को गतिशील बनाये रखने में निमित्त-स्वरूप हैं । ये देव सिंह, गज, बैल और अश्व का आकार धारण करके और क्रमशः पूर्वादि चारों दिशाओं में संलग्न रहकर सूर्यादि को गतिशील बनाये रखते हैं ।

उर्ध्वलोक

मेरू-पर्वत को तीनों लोक का विभाजक माना गया है । मेरू के अधस्तन भाग को अधोलोक और मेरू के ऊपर के भाग को उर्ध्व-लोक कहते हैं । उर्ध्वलोक में श्वेताम्बरीय मान्यतानुसार स्वर्गों की संख्या बारह है और दिगम्बरीय मान्यतानुसार सोलह है । इन स्वर्गों में कल्पवासी देव और देवियाँ रहती हैं । इनमें ऊपर नौ ग्रैवेयक, उनके ऊपर दिगम्बरीय मान्यतानुसार नौ अनुदिश और उनके ऊपर पाँच अनुत्तर विमान हैं । इन विमानों में रहनेवाले देव कल्पातीत कहलाते हैं, क्योंकि उनमें इन्द्र, सामानिक आदि कल्पना नहीं है, वे उससे परे हैं । इन विमानों में रहने वाले देव एक समान वैभव वाले हैं और सभी अपने आपको इन्द्र स्वरूप अनुभव करते हैं, इसलिए वे अहमिन्द्र (अहं+इन्द्रः) कहलाते हैं ।

स्वर्गों में जो कल्पवासी देव रहते हैं, उनमें इन्द्र, सामानिकः त्रायास्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक नाम

की दस जातियाँ हैं, जो सामानिक आदि अन्य देवों के स्वामी होते हैं, उन्हें इन्द्र कहते हैं ।

भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों के प्रकार है । उनमें से भवनवासियों में भी उपर्युक्त दस भेद हैं । किन्तु व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल को छोड़कर शेष आठ भेद होते हैं । व्यन्तर देवों के आवास रत्नप्रभा पृथ्वी के प्रथम-द्वितीय काण्ड में तथा मध्य लोकवर्ती असंख्यात द्वीप और समुद्रों में पाये जाते हैं ।

पाँचवें ब्रह्म स्वर्ग के अंत में सारस्वत आदि लोकान्तिक देव रहते हैं । ये देवर्षि कहलाते हैं । वे स्वर्ग के देवों में सर्वाधिक ज्ञानी होते हैं । वे तीर्थकरो के अभिनिष्क्रमण कल्याणक के सिवा अन्य किसी कल्याणक में नहीं आते हैं और वे सभी एक भवावतारि होते हैं ।

भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, और कल्पवासी इन सभी प्रकार के देवों का औपपातिक जन्म होता है ।

तमस्काय

जम्बूद्वीप से तिष्ठे असंख्यात द्वीप-समुद्रों के लांघने पर अरुणवर-द्वीप की बाहरी वेदिका के अन्त से अरुणोद समुद्र में बयालीस हजार योजन अवगाहन करके जल के ऊपरी भाग में एक प्रदेश की श्रेणी वाला तमस्काय (अन्धकार-पिण्ड) आरम्भ होता है । पुनः वह १७२१ योजन ऊपर उठकर विस्तार को प्राप्त होता हुआ सौधर्मादि चार कल्पों को आवृत करके पाँचवें ब्रह्मलोक में रिष्ट विमान को प्राप्त होकर समाप्त होता है । इस तमस्काय का आकार नीचे मल्लकमूल और मुर्गे के पिंजरे के समान है । इसके लोकतमिस्त्र आदि १३ नाम हैं और इसकी आठ कृष्णराजियाँ बतलायी गयी हैं ।

सिद्धलोक

उर्ध्वलोक के सबसे अन्त में स्थित सर्वार्थसिद्ध विमान के अग्रभाग से बारह योजन ऊपर ईषत्प्राग्भारा नाम की पृथ्वी है । वह ४५ लाख योजन विस्तृत गोल-आकार वाली है । यह बीच में आठ योजन मोटी है, फिर क्रम से घटती हुई सबसे अन्तिम प्रदेशों में मक्खी के पंख से भी पतली हो गई है । दिगंबर मतानुसार इषत्प्राग्भार पृथ्वी लोकान्त तक विस्तृत होने से एक रज्जु चौड़ी और

रज्जु लम्बी है। इसके ठीक मध्य भाग में मनुष्य-क्षेत्र पैंतालीस लाख योजन लम्बा-चौड़ा गोल-आकार वाला सिद्धक्षेत्र है। इसका आकार रूप्यमय छत्राकार है। इस सिद्धक्षेत्र या सिद्धलोक में कर्मों का क्षय करके संसार चक्र से छुटने वाले मुक्त जीव निवास करते हैं और अनन्त काल तक अपने आत्मिक अव्याबाध निरूपम सुख को भोगते रहते हैं।

क्षेत्र-माप

जैन परंपरा में क्षेत्र-माप इस प्रकार बतलाया गया है—

परमाणु अंश	=	पुद्गल का सबसे छोटा अविभागी
अनन्त परमाणु	=	१ उस्सण्हसण्हिया (उत्संज्ञ संज्ञिका)
८ उस्सण्हसण्हिया	=	१ सण्हसण्हिया (संज्ञासंज्ञिका)
८ सण्हसण्हिया	=	१ ऊर्ध्वरेणु
८ ऊर्ध्वरेणु	=	१ त्रसरेणु
८ त्रसरेणु	=	१ रथरेणु
८ रथरेणु	=	१ देवकुरू के मनुष्य का बालाग्र
८ देवकुरू मनुष्य का बालाग्र	=	१ हरिवर्ष के मनुष्य का बालाग्र
८ हरिवर्ष मनुष्य का बालाग्र	=	१ हैमवत के मनुष्य का बालाग्र
८ हैमवत मनुष्य का बालाग्र	=	१ विदेहक्षेत्रज मनुष्य का बालाग्र
८ विदेहक्षेत्रज मनुष्य का बालाग्र	=	१ भरतक्षेत्रज मनुष्य का बालाग्र
८ भरतक्षेत्रज मनुष्य का बालाग्र	=	१ लिक्षा (लीख) के मनुष्य का बालाग्र
८ लिक्षा	=	१ यूका (जूँ)
८ यूका	=	१ यवमध्य
८ यवमध्य	=	१ उत्सेधांगुल
६ उत्सेधांगुल	=	१ पाद
२ पाद	=	१ वितस्ति

२ वितस्ति	= १ रत्नि
२ रत्नि	= १ कुक्षि (दि० पर० किष्कु)
२ कुक्षि (किष्कु)	= १ दण्ड (धनुष)
२ सहस्र धनुष	= १ गव्यूति
४ गव्यूति	= १ भोजन

उपर्युक्त माप-वर्णन उत्सेधांगुल से है। उत्सेधांगुल से प्रमाणंगुल पाँच सौ गुण होता है। एक उत्सेधांगुल लम्बी एक प्रदेश की श्रेणी (पंक्ति) को सूच्यंगुल कहते हैं। सूच्यंगुल के वर्ग को प्रतरांगुल कहते हैं और सूच्यंगुल के धन को धनांगुल कहते हैं। असंख्यात कोड़ाकोड़ी घनांगुल गुपित योजनों की पंक्ति को श्रेणी या जगच्छ्रेणी कहते हैं। जगच्छ्रेणी के वर्ग को जगत्प्रतर कहते हैं और जगच्छ्रेणी के धन को लोक या धन-लोक कहते हैं। इनमें से जगच्छ्रेणी के सातवें भाग-प्रमाण क्षेत्र को रज्जु कहते हैं। लोकाकाश का घनफल ३४३ रज्जु प्रमाण है।^{२२}

काल-माप

समय	= काल का सूक्ष्मतम अंश
जघन्य युक्त असंख्यात समय	= १ आवलिका
४४४६ ^{२४५५} / _{३७७३} आवलिका	= १ प्राण
७ प्राण	= १ स्तोक
७ स्तोक	= १ लव
३८ $\frac{१}{३}$ लव	= १ घड़ी
२ घड़ी	= १ मुहूर्त (४८ मिनिट)
३० मुहूर्त	= १ अहोरात्र
३० अहोरात्र	= १ मास
१२ मास	= १ वर्ष
८४ लाख वर्ष	= १ पूर्वांग
८४ लाख पूर्वांग	= १ पूर्व

८४ लाख पूर्व	= १ त्रुटितांग
८४ लाख त्रुटितांग	= १ त्रुटित
८४ लाख त्रुटित	= १ अडडांग
८४ लाख अडडांग	= १ अडड
८४ लाख अडड	= १ अववांग
८४ लाख अववांग	= १ अवव
८४ लाख अवव	= १ हूहूकांग
८४ लाख हूहूकांग	= १ हूहूक
८४ लाख हूहूक	= १ उत्पलांग
८४ लाख उत्पलांग	= १ उत्पल

इसी प्रकार आगे पद्मांग, पद्म, निलनांग, नलिन, अर्थ-निपुरांग, अर्थनिपुर, अयुतांग, अयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, नयुतांग, नयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग और शीर्षप्रहेलिका उत्तरोत्तर चौरासी लाख गुणित जानना चाहिए । यह काल-माप श्वेताम्बर-आगमों के अनुसार है ।^{२३}

दिगांबर मान्यतानुसार उपर्युक्त कालमाप का वर्णन इस प्रकार है^{२४} :-

समय	= काल का सबसे छोटा अविभागी अंश
असंख्यात समय	= १ आवली
संख्यात आवली	= १ प्राण (श्वासोच्छ्वास)
७ प्राण	= १ स्तोक
७ स्तोक	= १ लव
७७ लव	= १ मुहूर्त
३० मुहूर्त	= १ अहोरात्र
१५ अहोरात्र	= १ पक्ष
२ पक्ष	= १ मास
२ मास	= १ ऋतु
३ ऋतु	= १ अयन

२ अयन	= १ वर्ष
८४ लाख वर्ष	= १ पूर्वांग
८४ लाख पूर्वांग	= १ पूर्व
८४ लाख पूर्व	= १ पर्वांग
८४ लाख पर्वांग	= १ पर्व
८४ लाख पर्व	= १ नयुतांग
८४ लाख नयुतांग	= १ नयुत
८४ लाख नयुत	= १ कुमुदांग
८४ लाख कुमुदांग	= १ कुमुद
८४ लाख कुमुद	= १ पद्मांग
८४ लाख पद्मांग	= १ पद्म
८४ लाख पद्म	= १ नलिनांग
८४ लाख नलिनांग	= १ नलिन

इसी प्रकार आगे कमलांग-कमल, तुट्यांग-तुट्य, अटटांग-अटट, अममांग-अमम, हूहूअंग-हूहू, लतांग-लता, महालतांग-महालता, शिरः-प्रकम्पित, हस्तप्रहेलित और अचलात्म को उत्तरोत्तर ८४ लाख गुणित जानना चाहिए ।

ये सभी संख्याएँ संख्यात गणना के ही भीतर हैं । पल्योपम और सागरोपम आदि असंख्यात-गणना के भीतर हैं । इन सबसे ऊपर अन्त-विहीन जो राशि है, वह अनन्त कहलाती है ।^{२५}

मनुष्य एवं तिर्यञ्चों के निवास-स्थान

“मनुष्य शब्द का उल्लेख अनेक स्थानोंपर किया जाता है । पर जैसे नारकी नरक में रहते हैं, देव विमान अथवा भवनों में रहते हैं उसी प्रकार मनुष्य और तिर्यञ्चों कहाँ रहते हैं ?

यहाँ उनकी दो प्रकार से क्षेत्र आश्रित और पर्याय आश्रित स्वरूप से व्याख्या करते हैं ।^{२६}

पर्याय अपेक्षा से मनुष्य :-

मनुष्य-आयु और मनुष्य-गति नामकर्म के उदय से जो जन्म धारण करता है, उन जीवों को मनुष्य कहते हैं। अर्थात् चारगति में जिसने मनुष्य-गति पर्याय को प्राप्त किया है, उस जीव को मनुष्य कहते हैं।

क्षेत्र अपेक्षा से मनुष्य :-

मानुषोत्तर पर्वत के पहले अर्थात् मानुषोत्तर पर्वत की मर्यादा से व्याप्त ४५ लाख योजन मनुष्य क्षेत्र में ३५ क्षेत्रों और ५६ अंतर्द्वीपों में मनुष्य होते हैं।

चौदह राज लोक में तिच्छा लोक अर्थात् मनुष्य और तिर्यच का निवासस्थान १८०० योजन प्रमाण ऊँचा है।

पुष्करवर्द्धीप में मानुषोत्तर नामक का एक पर्वत है, जो पुष्करवर्द्धीप के ठीक मध्य में किले की तरह गोलाकार खड़ा है और मनुष्यलोक को घेरे हुए है। जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और आधा पुष्करवर द्वीप ये ढाई तथा लवण, कालोदधि ये दो समुद्र—यही क्षेत्र 'मनुष्यलोक' कहलाता है। उक्त क्षेत्र का नाम मनुष्यलोक और उक्त पर्वत का नाम मानुषोत्तर इसलिए पड़ा है कि इसके बाहर मनुष्य का जन्म-मरण नहीं होता। विद्यासम्पन्न मुनि या वैक्रिय लब्धिधारि मनुष्य ही ढाई द्वीप के बाहर जा सकते हैं, किंतु उनका भी जन्म-मरण मानुषोत्तर पर्वत के अंदर ही होता है।^{२७}

इस अढाई द्वीप में ५ मेरू, १५ कर्मभूमि क्षेत्र, ३० अकर्मभूमि क्षेत्र (जिस में २० क्षेत्र और ५ देवकुरू, ५ उत्तरकुरू) और हिमवत पर्वत से और शिखरी पर्वत से निकले हुए लवणसमुद्र में फैले हुए आठ भूशिर हैं। एक-एक भूशिर में सात-सात द्वीप हैं। इस तरह सब मिलकर ५६ द्वीप हैं। इसके अलावा अनेक छोटे बड़े द्वीप, पर्वत, नदियाँ, द्रह आदि का अढाई द्वीप में समावेश होता है।

तिर्यच जाति के प्राणियों का निवास अढाई द्वीप में एवं अठाई द्वीप के बाहर द्वीप-समुद्रों में भी होता है।

लोक में इन स्थानों में मनुष्य और तिर्यचों के निवास स्थान हैं।

नरक और स्वर्ग (स्थान वर्णन):-

लोकाकाश के मुख्य तीन विभाग हैं :-

१. ऊर्ध्वलोक, २. तिच्छालोक, ३. अधोलोक।

असंख्यात कोट-कोटि योजन प्रमाण आकाश को एक 'रज्जु' कहा जाता है। ऊर्ध्वलोक १८०० योजन न्यून सात रज्जुप्रमाण ऊँचा है। तिच्छालोक १८०० योजन प्रमाण ऊँचा है और अधोलोक सात राज प्रमाण ऊँचा है।

१. अधोलोक :-

कटि-स्थानीय झल्लरी के समान आकार वाले मध्यलोक के नीचे सात पृथ्वियाँ हैं-धम्मा, वंशा, सेला, अंजना, अरिण्य, मधा और माघवती। रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महामतःप्रभा-इनके गोत्र कहे गये हैं। इनमें से पहली रत्नप्रभा के तीन भाग हैं- खरभाग, पंकभाग और अब्बहुलभाग। इनमें खरभाग सोलह हजार योजन मोटा है। पंकभाग-चौरासी हजार योजन और अब्बहुलभाग अस्सी हजार योजन मोटा है। इस प्रकार रत्नप्रभा पृथ्वी की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन है। इस तीन विभाग वाली रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे असंख्यात हजार योजन के अन्तराल के बाद दूसरी शर्करा पृथ्वी है। यह एक लाख बत्तीस हजार योजन मोटी है। इसके नीचे पुनः असंख्यात हजार योजन नीचे जाकर तीसरी बालुका पृथ्वी है। इसकी मोटाई एक लाख अट्ठाईस हजार योजन है। इस तीसरी पृथ्वी का तल भाग मध्यलोक से दो रज्जु प्रमाण नीचा है। तीसरी पृथ्वी से असंख्यात हजार योजन नीचे जाकर चौथी पंकप्रभा पृथ्वी है। इसकी मोटाई एक लाख चौबीस हजार योजन है। इस पृथ्वी का तलभाग मध्यलोक से तीन रज्जु नीचा है। उपर्युक्त पाँचवीं धूमप्रभा पृथ्वी है। इसकी मोटाई एक लाख बीस हजार योजन है। इसका तल भाग मध्यलोक से चार रज्जु नीचा है। फिर अंतराल छट्टी तमःप्रभा पृथ्वी है। इसकी मोटाई एक लाख सोलह हजार योजन है। इसका तल भाग मध्यलोक से पाँच रज्जु नीचा है। फिर अंतराल उपयुक्त प्रमाणे सातवीं तमःतमप्रभा पृथ्वी है। इसकी मोटाई एक लाख आठ हजार योजन है।^{१८} इसका तल भाग मध्यलोक से छह रज्जु नीचा है।

रत्नप्रभा पृथ्वी के एक लाख अस्सी हजार योजन प्रमाण क्षेत्र में सैं ऊपर नीचे के एक-एक हजार योजन भाग को छोड़कर मध्यवर्ती क्षेत्र में ऊपर भवनवासियों के सात करोड़ बहत्तर लाख भवन हैं^{१९}, तथा नीचे नारकियों के तीस लाख नारकावास हैं^{२०}। किन्तु त्रिलोकप्रज्ञप्ति, तत्त्वार्थ-वार्तिक आदि दि० ग्रंथों में इससे भिन्न उल्लेख पाया जाता है।^{२१}

दूसरे से सातवीं नारकभूमी में नारकावास देखे नरक प्रकरण में । सातवीं पृथ्वी के नीचे एक रज्जु-प्रमाण मोटे और सात रज्जु-विस्तृत क्षेत्र में केवल एकेन्द्रिय जीव ही रहते हैं ।

नरक कैसा है ? किससे बना है ? वहाँ कैसी वेदना नैरयिकों को दी जाती है ? आदि आंतरिक वर्णन प्रकरण ४ में विस्तार से दिया गया है ।

तिर्च्छालोक

तिर्च्छालोक को मध्यलोक में भी कहते हैं । तिर्च्छालोक की आकृति झालर के समान है । मध्यलोक में असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं जो द्वीप के बाद समुद्र और समुद्र के बाद द्वीप इस क्रम से अवस्थित हैं । द्वीप-समुद्रों की रचना चक्री के पाट और उसके थाल के समान है । मध्यलोक के मध्य में जंबूद्वीप है । जम्बूद्वीप लवणसमुद्र से वेष्टित है । जम्बूद्वीप कुम्हार के चाक (थाली के) की भांति गोल है और अन्य सब द्वीप-समुद्रों (लवणादि) आदि की आकृति वलय (चूड़ी) के समान है ।

ज्योतिषचक्र, मेरूपर्वत, जंबूद्वीपादि असंख्य द्वीप और समुद्र तथा दस तिर्यग्जुंभक देवों के स्थान हैं, जब कि नीचे के ९०० योजन प्रमाण विस्तार में वाणव्यंतर एवं व्यंतर देव हैं । रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपरी धरातल से नीचे की और दस योजन के बाद अस्सी योजन के विस्तार में वाणव्यंतर देव हैं और उसके नीचे दस योजन के विस्तार में व्यंतर देवों के नगर हैं ।

उर्ध्वलोक (स्वर्ग)

मेरू-पर्वत को तीनों लोक का विभाजक माना गया है । मेरू के अधस्तन भाग को अधोलोक और मेरू के ऊपर के भाग को उर्ध्व-लोक कहते हैं । उर्ध्वलोक में श्वेताम्बरीय मान्यतानुसार स्वर्गों की संख्या बारह है और दिगम्बरीय मान्यतानुसार सोलह है । इन स्वर्गों में कल्पवासी देव और देवियाँ रहती हैं ।^{१२}

अधोलोक से एक से सात रज्जु में सात नरक हैं, नरक के बाद आठवें रज्जु में एक और दो क्रमांक का देवलोक वैमानिक, किल्बिषिक देवों के विमान होते हैं । नौवें रज्जु में तीसरा और चौथा देवलोक है । उसमें किल्बिषिक देव के निवास स्थान विमान हैं । दसवें रज्जु में पांचवाँ और छठवाँ देवलोक में किल्बिषिक, नव लोकान्तिक देवों का निवास(विमान) हैं, ग्यारहवें रज्जु में सातवाँ और आठवाँ देवलोक, बारहवें रज्जु में नौ से बारह देवलोक में वैमानिक देवों

का निवास(विमान)है, तेरहवें रज्जु में नौ ग्रैवेयक और चौदहवें रज्जु में अनुत्तर देवलोक और सिद्धशीला है ।^{३३}

इन विमानों में कितने देव निवास करते हैं, विमान कैसे बने हैं, देवों का स्वरूप, विमान कौन से देव वहन करते हैं आदि का आन्तरिक वर्णन प्रकरण ३ में विस्तार से दिया गया है ।

उर्ध्वलोक का सबसे अग्रभाग अर्थात् मोक्ष । अब प्रस्तुत है, जैन व इतर मान्यताओं में मोक्ष ।

मोक्ष

जैन परंपरा आत्मा की शुद्धावस्था सिद्धावस्था में स्वीकार करती है । क्योंकि इस अवस्था में सर्व कर्म-मल का क्षय हो जाने से वह मुक्त हो जाता है । जब तक वह कर्म-संयोगी है, तब तक वह संसारी है, छद्मस्थ है । कर्म-वियोगी अवस्था ही मुक्तावस्था है । इसी मुक्तात्मा को जैन परंपरा में सिद्ध(मोक्ष) शब्द से अभिप्रेत किया गया है ।

मोक्ष का स्वरूप और स्थिति :-

जब आत्मा शुद्धावस्था को प्राप्त करती है, जो कि सर्व कर्म-मलों से मुक्त होने के पश्चात् की स्थिति है । उस मुक्तावस्था के पश्चात् उसका अवस्थान कहाँ होता है ? वैदिक परंपरा में आत्मा को व्यापक मानते हैं । तथा शुद्धात्मा ब्रह्म में विलीन हो जाती है, ऐसा स्वीकार करते हैं । बौद्ध दर्शन का निर्वाण 'नाश' को सूचित करता है । जैन परंपरा सिद्धिगति का स्वरूप निर्धारित करती है-जब आत्मा सर्व कर्मों का क्षय कर देती है, तब उर्ध्वगमन स्वभाव* के फलस्वरूप उर्ध्वगमन करती हुई सिद्धलोक में जाकर स्थित होती है । यह सिद्धभूमि ईषत्प्रागभार पृथ्वी के ऊपर स्थित है । एक योजन में कुछ कम है । ऐसे निषकम्प व स्थिर स्थान में सिद्ध स्थित होते हैं ।^{३५}

ये मोक्ष सर्वार्थसिद्ध इन्द्र के ध्वजदण्ड से १२ योजनमात्र ऊपर जाकर आठवीं पृथ्वी स्थित है । उसके उपरिम और अधस्तन तल में से प्रत्येक तल का विस्तार पूर्व पश्चिम में रूप से रहित (अर्थात् वातवलियों की मोटाई से रहित) एक रज्जु प्रमाण है । वेत्रासन के सदृश वह पृथिवी उत्तरदक्षिण भाग में कुछ कम सात रज्जु लम्बी है । इसकी मोटाई आठ योजन है । यह पृथिवी घनोदधिवात घनवात और तनूवात इन तीन प्रकार की वायु से युक्त है । इनमें से प्रत्येक वायु

का बाहल्य २०,००० योजन प्रमाण है। उसके बहुमध्य भाग में चांदी, एवं सुवर्ण के सदृश और नाना रत्नों से परिपूर्ण ईषत्प्राग्भार नामक क्षेत्र है। यह क्षेत्र उत्तान धवल छत्र के सदृश या ऊँधे कटोरे^{३६} के सदृश आकार से सुंदर और ४५,००,००० योजन (मनुष्य क्षेत्र) प्रमाण विस्तार से संयुक्त है। उसका मध्य बाहल्य (मोटई) आठ योजन है, उसके आगे घटते घटते अंत में एक अंगुल मात्र। अष्टमभूमि में स्थित सिद्धक्षेत्र की परिधि मनुष्य क्षेत्र की परिधि के समान है।^{३७}

उस आठवीं पृथिवी के ऊपर ७०५० धनुष जाकर सिद्धों का आवास है। इस आवास क्षेत्र का प्रमाण (क्षेत्रफल) है—

$$\frac{८४०४७४०८१५६२५}{८} \text{ योजन }।^{३८}$$

जहाँ पर जन्म, जरा, मरण, भय, संयोग, वियोग, दुःख संज्ञा और रोगादि नहीं होते, वह मोक्ष (सिद्धगति) कहलाती है।^{३९}

शुद्ध रत्नत्रय की साधना से अष्ट कर्मों की आत्यन्तिक निवृत्ति द्रव्यमोक्ष है और रागादि भावों की निवृत्ति भावमोक्ष है। यह मोक्ष मनुष्य गति से ही संभव है, अन्य नरक, तिर्यञ्च, देव गति से नहीं। अंतिम भव (जीवन) में मुक्त जीव स्वाभाविक उर्ध्वगति से लोक के शिखर पर जा विराजते हैं। पुनः जन्म-मरण के चक्र में नहीं पड़ते। ज्ञान ही उनका शरीर होता है। जैन परंपरानुसार जितने जीव मुक्त होते हैं, उतने ही निगोद राशि से निकलकर व्यवहार राशि में आ जाते हैं।

मोक्ष का तुलनात्मक अध्ययन :-

भारतीय दर्शन के अन्तर्गत सर्व दर्शनों ने मोक्ष को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया ही है। मोक्षावस्था पूर्व उसी भव में जीवन्मुक्त अवस्था को पूर्वभूमिका के रूप में मान्य किया है। यदि जीवन्मुक्तावस्था नहीं है तो विदेह मुक्ति अथवा मोक्ष भी संभव नहीं। तात्पर्य यह है कि जीवन्मुक्तता मोक्ष की अनिवार्य शर्त है। यह जीवन्मुक्ति जिस जीव का अन्तःकरण धुल गया हो, वासनाएँ न हो, वीतराग-वीतद्वेष हो उसको देह की विद्यमानता में ही होती है। यह ज्ञान की चरमावस्था भी है। हर्ष-शोक से परे, निरतिशय आनंद के अनुभव

की यह अवस्था है। विशुद्ध चित्तवृत्ति प्रवाहित होती है। उसका देहाध्यास मिट जाता है। मात्र शरीर को धारण करने वाली प्रारब्ध कर्म-वासनाएँ ही प्रवृत्त होती हैं। ऐसा पुरुष ही जीवन्मुक्त, केवली कहलाता है। उसका मोक्ष भी निश्चित रूप से होता ही है।

चार्वाक दर्शन जीवन काल में किसी के आधीन न होना उसे ही जीवन्मुक्ति मानता है तथा जीवन की समाप्ति को मोक्ष।

बौद्ध दर्शन में जीवन्मुक्तावस्था को सोपधिशेष निर्वाण कहा है। उस अवस्था में साधक के सब क्लेशावरणों का प्रहाण होता है। इसे विमुक्तकाय की दशा भी कहा है। विदेहमुक्ति को निरूपधिशेष निर्वाण से व्यवहृत किया गया है। इस दशा में चित्त-सन्तति का सर्वथा उच्छेद हो जाता है।^{१०}

न्याय-वैशेषिकों के अनुसार भी जीवनकाल में ही मिथ्याज्ञानजन्य वासनाओं का अभाव होना जीवन्मुक्ति है।^{११} आत्मा के साथ शरीर, प्राण, इन्द्रियों का संयोग जीवन है। और तद्जन्य दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति या दुःखों का ध्वंस मोक्ष है।

सांख्य मत में सत्वपुरुषान्यथाख्याति का उदय होने से जीवन्मुक्ति को मध्यविवेक की अवस्था कहा गया है।^{१२} अज्ञान का नाश होकर तत्त्वज्ञान होने पर ही जीवन्मुक्ति संभव है। यह जीवन्मुक्त कुलाल के चक्र के घूमने के सदृश वह जीवन्मुक्त भी स्थित रहता है। उसके जीवन के पश्चात् विदेहमुक्ति होती है।

योगदर्शन में ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय ही जीवन्मुक्ति कहा है।^{१३} उस समय योगी जीवन से संयुक्त होने पर भी दुःखों से असंश्लिष्ट रहता है। दग्ध बीजांकुरों के समान उसके क्लेश दग्ध हो जाते हैं। चित्त की विक्षिप्तता इसमें संभव नहीं। इस अवस्था को धर्ममेघ समाधि कहते हैं। इसका लाभ होने पर जीवन होने पर भी वह मुक्त है। फलस्वरूप क्लिष्ट वृत्तियों का उपशम होने पर जीवनदशा में ही योगी कैवल्य लाभ करते हैं।

अद्वैतियों की जीवन्मुक्ति कुछ भिन्न है। तत्त्व साक्षात्कार होने पर उत्क्रमण के बिना ही जीव यहीं पर ब्रह्मानंद का अनुभव करता है। शंकराचार्य और उनकी शिष्य परंपरा ने जीवन्मुक्ति को मान्य किया है, उसका समर्थन किया है। किन्तु मंडन मिश्र एवं वाचस्पति मिश्र आदि ने इसे अवस्था न मानकर साधक अवस्था में इसका अन्तर्भाव कर लिया है।

श्रुतियों एवं उपनिषद में इसका साक्षात् निर्देश किया है, तो जीवन्मुक्ति का निषेध तो किया ही नहीं जा सकता। वहाँ स्पष्ट कहा है कि जब मानव हृदय में स्थित सभी वासनाओं से मुक्त हो जाता है तो मनुष्य अमर हो जाता है, यहीं पर ब्रह्म का अनुभव करता है।

वास्तव में पुनः पुनः ईश्वर का अभ्यास करने से संसार दशा में तिरोहित हुए आवरणों का नाश होने पर धर्म अभिव्यक्त हो जाता है। तब जीवन अवस्था में ही जीव ब्रह्म हो जाता है। इस प्रकार सभी आस्तिक और नास्तिक दर्शनों द्वारा जीवन्मुक्ति को स्वीकार किया गया है सभी दर्शनों ने मुक्तावस्था से पूर्व यह जीवन्मुक्तावस्था को अनिवार्य मान्य किया है। किन्तु मुक्तावस्था के पश्चात् उनकी स्थिति है या नहीं, इसका विवेचन जितनी सूक्ष्मता से जैन दर्शन में किया गया है, इतर मतों में उसको उतना स्थान नहीं दिया गया है। जैन परंपरा का यह मौलिक चिंतन है। मुक्त होना, उसकी प्रक्रिया, उनका ज्ञान-दर्शन-सुख, उसकी स्थिति, अवगाहना (स्वकायास्थिति), उसका प्रतिष्ठान आदि अनेक सिद्धावस्था एवं सिद्धिगति का निरूपण अत्यन्त गहनता से विशद रूप से जैन दर्शन में किया है। इस प्रकार मुक्तावस्था का विश्लेषण अन्य किसी धर्म/दर्शन में दृष्टिगत नहीं होता। आत्मा की मुक्तावस्था को सर्व दर्शनोंमें एकमत से अंगीकार करके भी मुक्तावस्था के स्वरूप-स्थिति आदि का जिक्र नहीं किया गया। मात्र जैन परंपरा इसका विशद वर्णन प्रस्तुत करती है।

इस प्रकार यहाँ विस्तृत रूप से तुलनात्मक दृष्टिकोण से लोक स्वरूप की अवधारणा प्रस्तुत की गई है। अब स्वर्ग विषयक मान्यता का उल्लेख किया जा रहा है।

टिप्पण :-

१. जैन तत्त्वज्ञान चित्रावली प्रकरण १. पृ० १०
२. तिलोपपण्णती, अ० ९, गा० १३७-३८। उब्भिय दलेक्कमुखवद्धसंचयसण्णहो हवे लोगो (त्रिलोकसार गा० ६)
३. चोद्दस रज्जूदयो लोगो (त्रिलोकसार गा० ६) जगसेडिसत्तभागो रज्जू। (त्रिलोकसार गा० ७)

चउदसरज्जू लोओ बुद्धिकओ होई सत्तराजुधणो। कर्मग्रन्थ. ५-९७.

सयंभुपरिमंताओ अवरंतो जाव रज्जूमाइओ। (प्रवचनसारो० १४३, ३१)

४. दि० शास्त्रों में घनोदधिवात का वर्ण गोमूत्र-सम, घनवात का मूँग-समान और तनुवात का अव्यक्त वर्ण कहा गया है ।
५. देखें टिप्पण ४ ।
६. भगवती एवं स्थानांगवृत्ति
७. गणितानुयोग, भूमिका पृ. ७७
८. गणितानुयोग, भूमिका पृ. ७८.
९. जीवा० प० ३, उ० ९ सु. १३८;
१०. जीवा० प० ३, ३०९ सु. १३६
११. दिगंबर परम्परा के अनुसार रत्नप्रभा के तीन भागों में से प्रथम भाग के एक-एक हजार योजन क्षेत्र को छोड़कर मध्यवर्ती १४ हजार योजन के क्षेत्र में किन्नर आदि सात व्यन्तर के देवों के, तथा नागकुमार आदि नौ भवनवासी देवों के आवास हैं । तथा रत्नप्रभा के दूसरे भाग में असुरकुमार, भवनपति और राक्षस व्यन्तरपति के आवास हैं । रत्नप्रभा के तीसरे भाग में नारकों के आवास हैं । (देखो तिलोयपण्णत्ति अ० ३ गा० ७ । तत्त्वार्थवार्तिक अ० ३ सू० ९)
१२. उद्धारित गणितानुयोग भूमिका पृ. ७८
१३. वही
१४. गणितानुयोग भूमिका पृ. ७९
१५. वही
१६. वही
१७. दिगंबर परम्परा में अन्तरद्वीपों की संख्या ९६ बतलायी गयी है ।
१८. तिलोयपण्णत्ति अ० ४; गा० २४८९, तथा २५१२ आदि ।
१९. गणितानुयोग भूमिका पृ. ७९.
२०. वही
२१. गणितानुयोग भूमिका पृ. ८१
२२. वही
२३. गणितानुयोग भूमिका पृ. ८२

२४. वही
२५. वही
२६. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र अभिनव टीका अ० ३ पृ. ११५.
२७. तत्त्वार्थसूत्र अ० ३ गा० १३, १२.
२८. दि० परम्परा में शर्करा आदि पृथ्वियों की मोटाई क्रमशः ८०,०००, ३२०००, २८०००, २४०००, २००००, १६००० और ८००० योजन मानी गई है । तिलोयपण्णत्ति में 'पाठान्तर' देकर उपर्युक्त मोटाई का भी उल्लेख है ।
२९. देखो गणितानुयोग सूत्र १५६१
३०. देखो गणितानुयोग सूत्र १२७१
३१. दिगंबर परम्परा का उल्लेख(देखो तिलोयपण्णत्ति अ० ३, गा० ७ । तत्त्वार्थवार्तिक अ० ३, सू० १)
३२. गणितानुयोग प्रस्तावना पृ.
३३. जैन तत्त्वज्ञान चित्रावली प्रकाश पृ. ४
३४. आवश्यक १५८-३२६
३५. भगवती आ. २१३३
३६. तिलोयपण्णत्ती ८.६५२-६५८
३७. वही
३८. वही १. ३-४
३९. धवला १/१, १, २४ गा० १३२/२०४; गोम्पटसारजी. १५२-३७५
४०. धम्मपद गा० ३७२
४१. न्याय भाष्य १.१.२.; न्यायसूत्र ४.१.६४.
४२. सांख्य तत्त्व कौमुदी ६४.
४३. योगवार्तिक पृ. १२६-१२७. योगसार संग्रह पृ. १७.



प्रकरण ३

जैन आगमों में स्वर्ग (देवलोक)

स्वर्ग

विज्ञानवाद के इस युग में धर्म, परलोक, आत्मा और परमात्मा को एवं वैज्ञानिक पद्धति द्वारा 'स्वर्ग और नरक' को सिद्ध करना-कराना आज सरल नहीं । किन्तु जगत के प्रत्येक धर्ममें स्वर्ग-नरक की मान्यता कोई न कोई स्वरूप में प्राप्त होती ही है । चावकि दर्शन को छानड भारतीय सभी धर्म-दर्शनों में स्वर्ग-नरक की मान्यता मिलती है । जैन धर्म में स्वर्ग-नरक के विषय में विस्तृत चर्चा मिलती है । यहाँ इस प्रकरण में हम स्वर्ग के विषय में जैन धर्म साहित्य-खास कर के आगमों में प्राप्त सामग्री का विश्लेषण करेंगे ।

संसार के त्रिविध तापों के अनेकविध पापों से आत्मा को दूर रखकर उसको उर्ध्वगति प्राप्त करानेवाली एवं आत्मा को अधःपतन में से उद्धार करानेवाली जो कोई भी शक्ति हो तो वह है धर्म । आत्मा के उर्ध्वगमन के लिए अनंत संसार के परिभ्रमण से आत्मा को दूर रखने के लिए और केवल मोक्ष की प्राप्ति के लिये ही जूझता हुआ कोई धर्म/दर्शन हो तो वह है 'जैन दर्शन' ।

सामान्यतः किसी की मृत्यु के समाचार पेपर या पत्र में पढ़ते हैं कि इनका स्वर्गवास हो गया है । तब विचार आता है-यह जीव कहाँ गया होगा ? स्वर्ग में या नरक में ? स्वर्ग और नरक का स्वरूप कैसा होगा ? वहाँ कैसी व्यवस्था होगी ? ऐसे एक मिनिट के लिए सोचते हैं । मानव हमेशा ऊँचा ही देखता है, इसलिए वह सोचता है कि ये जीव उर्ध्वगति में ही गया होगा । पर 'अंते मति सा गति' अंत समय में जैसी विचारधारा या लेश्या होती है, उसी के अनुसार ही उसकी गति होती है ।^१ जरूरी नहीं कि वह स्वर्ग में ही गया होगा । वह नरक में भी जा सकता है । यह जैन कर्म सिद्धांत कहता है ।

प्रत्येक प्राणी सुख को चाहता है । सुख दो प्रकार के हैं—

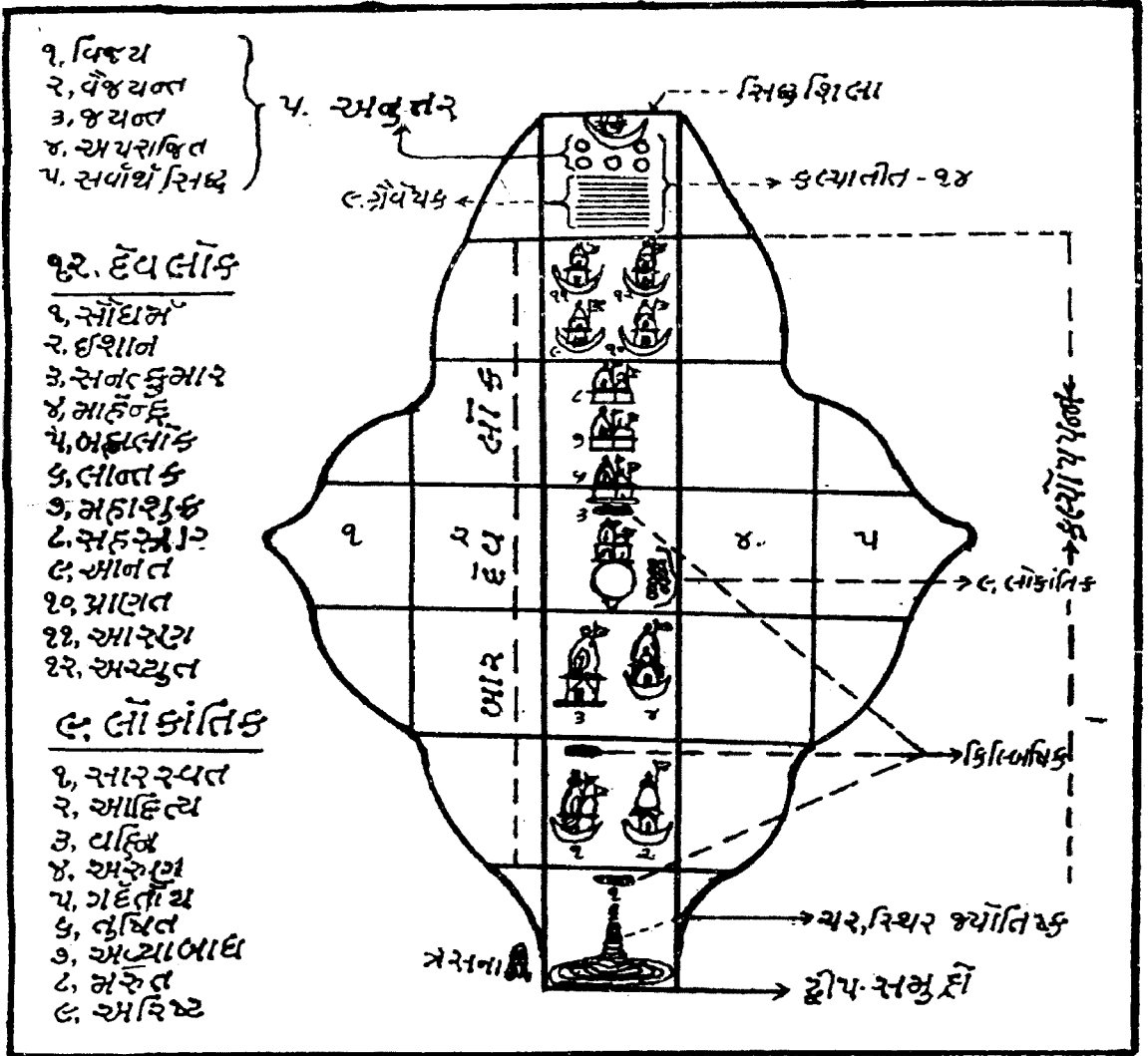
१) भौतिक २) आध्यात्मिक

भौतिक सुख का सर्वोच्च स्थान है स्वर्ग । ब्राह्मण एवं श्रमण परंपरा दोनों ही यह मान्य करती है कि मनुष्य लोक की अपेक्षा स्वर्ग की सुख-समृद्धि विशेष

उर्ध्व लोकांचित्र

सर्ग - १२

श्लोक - ४७



चित्र २ : उर्ध्वलोक में देवविमानों का आकार एवं स्थान

है। भौतिक सुख का साम्राज्य स्वर्ग में छाया हुआ है। जबकि आध्यात्मिक सुख की पूर्णता मोक्ष में है।

नाम की अपेक्षा से इसे 'स्वर्ग' कहते हैं। ईस्लाम इसे 'जन्नत' कहते हैं। ईसाई इसे 'हेवन' कहते हैं। जैन परंपरा में स्वर्ग को 'देवलोक' कहा जाता है। चारों गतियों में से यह भी एक गति है। संसार परिभ्रमण के दौरान जीव पुण्य कार्य करने पर स्वर्ग में जाता है, तथा पाप कार्य करने पर नरक में।

जैन परंपरा में साधु-साध्वी का जब स्वर्गवास होता है, तब 'देवलोक' हो गये ऐसा कहा जाता है। इसका कारण यह है वे पंच महाव्रत का पालन करते हैं, कोई दुष्कृत नहीं करते हैं। किसी की हिंसा, निंदा, चुगली नहीं करते हैं। सभी को धर्म करने का उपदेश देते हैं। इस कारण उनकी देवगति होने की संभावना होती है।

श्रमण परंपरा का साध्य मोक्ष है। जबकि ब्राह्मण परंपरा का लक्ष्य स्वर्ग है। गद्यपि दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति जैन मतानुसार मोक्ष है। जहाँ सर्व कर्म क्षय हो जाते हैं। फिर भी 'स्वर्ग' वह गति है, जहाँ पर दिव्य भौतिक सुखों का साम्राज्य है। जो कि पुण्य के प्रकर्ष से यथायोग्य सीमा में उपलब्ध होता है। यद्यपि जैन मत इसे हेय (त्यागने योग्य) समझता है। उपादेय (साध्य) तो मात्र मोक्ष है।

देवगति का संक्षिप्त परिचय प्रथम प्रकरण में दिया गया है। इस में रहनेवाले जीव देव होते हैं। उनके रहने के स्थान को 'स्वर्ग' कहते हैं। उसका विस्तार से स्वरूप, परिचय अब इस प्रकरण में देखेंगे।

देव की व्युत्पत्ति परक अर्थ

देव का व्युत्पत्ति परक अर्थ करते हुए उल्लेख है कि जो जीव उर्ध्वलोक में रहता है तथा उनके विमानों के (आवासों) के स्वामी होते हैं, वे देव कहे जाते हैं।

सर्वप्रथम महर्षि पाणिनी कृत व्याकरण-शास्त्र में 'देव' पद की व्युत्पत्ति प्राप्त होती है। 'अष्टाध्यायी' में देव शब्द 'दिवु' धातु से निष्पन्न हुआ है-

'दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिपु' ।^२

अर्थात् क्रीडा करना, जीतने की इच्छा करना, व्यवहार करना, चमकना, स्तुति करना, आनंद करना, उन्मत्त होना, इच्छा करना, गति करना । इन अर्थों में 'दिवु' धातु प्राप्त होती है ।

दशवैकालिक सूत्र, स्थानांग सूत्र, नंदी सूत्र में 'दिवु' धातु को विकल्प से गुण होकर 'देव' शब्द निम्न प्रकार से निष्पन्न हुआ है-

'दिवु' धातु से 'गुणाऽऽदयः क्लीबे वा' ।^३

अर्थात् अनुपम क्रीडा आदि का जो अनुभव करते हैं वे देव हैं ।

हरिभद्रसूरि रचित अष्टक-प्रकरण में उल्लेख है कि जो स्वरूप में चमकता है वह देव है । इसके अतिरिक्त स्थानांग सूत्र में देव को 'धर्मपात्र' भी कहा है ।

इस प्रकार जो सदा क्रीडा करते रहते हैं, जिनके शरीर आभूषण आदि से देदीप्यमान होते हैं, जो सदा हर्ष में मग्न रहते हैं, इन्द्रियविषयों में मस्त रहते हैं तथा जिनके चित्त में लगातार अनेक कामनाएँ उत्पन्न होती रहती हैं, एवं जो विविध स्थानों में क्रीडा के लिए गमन करते हैं इनको देव कहते हैं ।

देवगति नामकर्म के उदय से जो जीव देवपर्याय को धारण करते हैं, उनको देव कहते हैं । ये इच्छानुसार घुमनेवाले, स्वभाव से ही क्रीडा-खेलने में-मोजमजा में आसक्त, भूख-प्यास बाधा रहित, अस्थि-मास-लोही आदि से रहित शरीरवाले होने से दीप्तिशाली, सुंदर अंगोपांगवाले होते हैं । विद्या-मंत्र के अंजन बिना ही शीघ्र-चपल और आकाशगति को पाये हुए को देव कहा जाता है ।

अब आगे इनका जन्म, सामान्य और विशेषता से इनका वर्णन करेंगे ।

देवों का शारिरीक वर्णन

१) जन्म :-

जैनधर्म में दो प्रकार का जन्म माना गया है-

पहला एक गति से दूसरी गति में जाने पर उत्पत्ति का जो प्रथम समय है, वह जन्म है तथा दूसरा जन्म योनि-निष्क्रमण रूप-जब जीव गर्भ से निकलता है तब होता है वह । योनि-निष्क्रमण रूप जन्म के तीन भेद हैं-

- १) सम्मूर्छन
- २) गर्भ और

३) उपपात

तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति ने इन तीन प्रकारों को स्पष्ट किया है-^५

१) सम्मूर्च्छन :-

माता पिता के सम्बन्ध के बिना ही उत्पत्तिस्थान में स्थित औदारिक पुद्गलों का पहले पहल शरीररूप में परिणत होना सम्मूर्च्छन जन्म है ।

२) गर्भ :-

उत्पत्तिस्थान में माता के गर्भ में स्थित शुक्र और शोणित के पुद्गलों को पहले शरीर के लिए ग्रहण करके उनके मिलन से जो जन्म होता है वह गर्भ-जन्म है ।

३) उपपात :-

उत्पत्तिस्थान में स्थित वैक्रिय पुद्गलों का पहले पहल शरीररूप में परिणत होना उपपात जन्म है ।

उपपात के विषय में तत्त्वार्थसूत्र पर अनेकों वृत्तियाँ व टीकाएँ लिखी गई हैं कि जितनी शायद ही अन्य कोई ग्रन्थ की लिखी गई हो । यहाँ सिद्धसेन गणि की वृत्ति तथा टीकाओं में सर्वार्थसिद्धि-पूज्यपाद, राजवार्तिक-अकलंकदेव का उल्लेख किया गया है ।

तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है कि-“नारक-देवानामुपपातः” अर्थात् नारक और देवों का उपपात-जन्म होता है ।

देवों और नारकों के जन्म के लिए विशेष नियत स्थान होता है, जिसे उपपात क्षेत्र कहते हैं । देवशय्या के ऊपर दिव्यरूप से आच्छन्न भाग देवों का उपपात क्षेत्र है, इस उपपात क्षेत्र में स्थित वैक्रिय पुद्गलों को वे शरीर के लिए ग्रहण करते हैं ।

इसका विशेष उल्लेख करते हुए तत्त्वार्थवृत्ति में वर्णन है कि-जहाँ पहुँचते ही सम्पूर्ण अंगों की रचना हो जाय वह उपपाद है, देव उपपाद शय्या पर उत्पन्न होते हैं ।^६

इस प्रकार उपपाद से तात्पर्य है कि- माता-पिता के रज और वीर्य बिना देव का निश्चित स्थान विशेष में उत्पन्न होना । इन उपपाद जन्मवालों का शरीर वैक्रियिक रजकणों का बना रहता है । देवों के प्रसूतिस्थान में शुद्ध सुगंधी कोमल

संपुट के आकार की शय्या होती है, उसमें उत्पन्न होकर अंतर्मुहूर्त में परिपूर्ण युवान होकर, जैसे कोई शय्या में सोया हुआ जागृत होकर आनंद सहित बैठा हो जाता है-इसप्रकार देवों का जन्म(उपपात) होता है ।^७

देवों के चारों प्रकार स्वयं उत्पन्न होते हैं । अस्वयं उत्पन्न नहीं होते ।

देवों के चार भेद हैं :-

१. भवनपति, २. व्यन्तर, ३. ज्योतिष्क, ४. वैमानिक

इन सबके निवासस्थान और उत्पत्तिस्थान भिन्न-भिन्न हैं, वे कहाँ है उनका उल्लेख तत्त्वार्थधिगम सूत्र में है ।^८

१. भवनपति :-

रत्नप्रभा पृथ्वीपिंड के १,८०,००० योजन में से नीचे उपर के एक एक हजार योजन को छोड़कर मध्यवर्ती का १,७८,००० योजन में १३ प्रतर के बिच १२ आंतरा है । इन बारह आंतरा में पहले-अंतिम आंतरा को छोड़कर मध्यवर्ती १० आंतरा (खाली जगह) में भवनपति देवों की उत्पत्ति तथा निवास स्थान है ।^९

२. व्यन्तर :-

रत्नप्रभा पृथ्वी के १,८०,००० योजन में से जो उपर के १००० योजन छोड़े हुए हैं । वे १००० योजन में भी उपर नीचे के १००-१०० योजन त्याग करके मध्यवर्ती ८०० योजन में व्यन्तर देवों के उत्पत्ति स्थान और निवास हैं ।

३. ज्योतिष्क :-

समभूतत्व पृथ्वी से ऊँचे (उर्ध्वदिशा में) ७९० योजन जाने के बाद ११० योजन ऊँचाई तक के विस्तार में ज्योतिष्क देव जन्म धारण करते हैं, तथा उनके वहाँ निवास स्थान भी हैं ।

४. वैमानिक :-

ज्योतिष्क के निवास स्थान से कुछ साधिक अर्ध-रज्जु उपर जानेके बाद सौधर्मकल्प से सर्वार्थसिद्धि विमान तक वैमानिक देव जन्म धारण करते हैं (उनकी उत्पत्ति होती है) ।

प्रत्येक वैमानिक देव का उपपात अपने-अपने विमानों में ही होता है । उनका निवास-स्थान भी वे-वे विमान ही कहलाते हैं ।

इस प्रकार से उत्पत्तिस्थानाश्रित चार भेदों का देखा । उसमें विशेषता इतनी की वे अपने इन निवास स्थानों के सिवाय-

-अन्यस्थानों में भी गमनागमन कर सकते हैं ।

-भवनपति आदि देव लवण समुद्रादि निवासों में भी रहते हैं ।

-जंबूद्वीप के उपर की वेदिका तथा अन्य रमणीय स्थल में भी रहते हैं ।

-जंबूद्वीप से असंख्य द्विप-समुद्र जाने के बाद व्यंतर देवों के भी निवास स्थान होते हैं । (वहाँ के व्यंतर देव वहाँ उत्पन्न होते नहीं हैं ।)

ये चारों प्रकार के अपने-अपने स्थान में उत्पन्न हुए देव अपने स्थान के बिना, लवणसमुद्र-मेरूपर्वत-वर्षधरपर्वत-आदि स्थान में भी रहते हैं । पर उन स्थानों में कदापि जन्म नहीं लेते हैं ।

देवों का शारीरिक वर्णन

१) स्थिति :-

देवायुकर्म के उदय से प्राप्त देव-भव में जीव जितना रहे वह उसकी स्थिति अर्थात् आयुष्य है । स्थिति के भेद है- जघन्य और उत्कृष्ट । जघन्य स्थिति का अर्थ है-कम से कम काल तक रहना और उत्कृष्ट का अर्थ है-अधिक से अधिक काल तक रहना । प्रज्ञापना सूत्र और जीवाजीवाभिगम सूत्र अनुसार विविध प्रकार के देवों की स्थिति(आयुष्य) निम्न प्रकार से दिखाई गई है -^९

देवों की स्थिति (आयुष्य)

क्र.	देवोंका प्रकार	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
१.	असुरकुमार देव पुरुष	दस हजार वर्ष	कुछ अधिक एक सागरोपम वर्ष
२.	नागकुमार देव पुरुष	दस हजार वर्ष	देशोन दो पल्योपम वर्ष
३.	सुवर्णकुमार से स्तनिकुमार तक (सब भवनपतियो की भी)	उपरोक्तानुसार	उपरोक्तानुसार
४.	व्यन्तरो	उपरोक्तानुसार	एक पल्योपम वर्ष
५.	ज्योतिष्क पुरुषों देव	पल्योपम का आठवां	एक लाख वर्ष अधिक एक-

	भाग	परिपूर्ण पल्योपम
६. सौधर्मकल्प पुरुष देव	एक पल्योपम	दो सागरोपम
७. ईशानकल्प पुरुष देव	कुछ अधिक एक पल्योपम	कुछ अधिक दो सागरोपम
८. सनत्कुमार पुरुष देव	दो सागरोपम	सात सागरोपम
९. माहेन्द्रकल्प पुरुषों देव	कुछ अधिक दो सागरोपम	कुछ अधिक सात सागरोपम
१०. ब्रह्मलोक पुरुषों देव	सात सागरोपम	दस सागरोपम
११. लान्तक पुरुषों देव	दस सागरोपम	चौदह सागरोपम
१२. महाशुककल्प पुरुषों देव	चौदह सागरोपम	सत्रह सागरोपम
१३. सहस्यारकल्प पुरुषों देव	सत्रह सागरोप	अठारह सागरोपम
१४. आनतकल्प पुरुषों देव	अठारह सागरोपम	उन्नीस सागरोपम
१५. प्राणतकल्प पुरुषों देव	उन्नीस सागरोपम	वीस सागरोपम
१६. आरणकल्प पुरुषों देव	बीस सागरोपम	इक्कीस सागरोपम
१७. अच्युतकल्प पुरुषों देव	इक्कीस सागरोपम	बावीस सागरोपम
१८. अधस्तनाधस्तन ग्रैवेयक	बावीस सागरोपम	तेवीस सागरोपम
१९. अधस्तनाधमध्यम ग्रैवेयक	तेवीस सागरोपम	चौवीस सागरोपम
२०. अधस्तनोपरितन ग्रैवेयक	चौवीस सागरोपम	पच्चीस सागरोपम
२१. मध्यमाधस्तन ग्रैवेयक	पच्चीस सागरोपम	छव्वीस सागरोपम
२२. मध्यममध्यम ग्रैवेयक	छव्वीस सागरोपम	सत्तावीस सागरोपम
२३. मध्यमोपरितन ग्रैवेयक	सत्तावीस सागरोपम	अट्टावीस सागरोपम
२४. उपरितनाधस्तन ग्रैवेयक	अट्टावीस सागरोपम	उनतीस सागरोपम
२५. उपरितन मध्यम ग्रैवेयक	उनतीस सागरोपम	तीस सागरोपम
२६. उपरितनोपरितन ग्रैवेयक	तीस सागरोपम	इकतीस सागरोपम
२७. विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित विमानगत	इकतीस सागरोपम	तैंतीस सागरोपम

देव

२८. सर्वार्थसिद्धविमान के देवों तेतीस सागरोपम उत्कृष्ट का भेद नहीं
स्थिति का निर्देशकर्म है-देवों की उन-उन सामान्य पर्यायों को लेकर आयु का
विचार किया गया है ।^{१०}

देवियों की आयुष्य (स्थिति)''

क्र.	देवस्त्रियोंका प्रकार	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
१.	भवनवासी देवियाँ	दस हजार वर्ष	साढे चार पल्योपम वर्ष
	१. असुरकुमार की देवियाँ	दस हजार वर्ष	साढे चार पल्योपम वर्ष
	२. नामकुमार की देवियाँ	दस हजार वर्ष	देशोन पल्योपम
	- शेष स्तनित कुमारियों तक	दस हजार वर्ष	देशोन पल्योपम
२.	व्यन्तर देवियाँ	दस हजार वर्ष	आधा पल्योपम
३.	ज्योतिष्क देवियाँ	पल्योपम का आठवा भाग	पचास हजार वर्ष अधिक आधा पल्योपम
	१. चंद्रविमान की देवियाँ	पल्योपम का चौथा भाग	पचास हजार वर्ष अधिक आधा पल्योपम
	२. सूर्यविमान देवियाँ	"	पाँच सौ वर्ष अधिक अर्ध पल्योपम है
	३. ग्रहविमान देवियाँ	पाव पल्योपम	आधा पल्योपम
	४. नक्षत्रविमान देवियाँ	पाव पल्योपम	पाव पल्योपम से कुछ अधिक
	५. ताराविमान देवियाँ	१/८ पल्योपम	१/८ पल्योपम से कुछ अधिक
४.	वैमानिक देवियाँ	एक पल्योपम	५५ पल्योपम
	१. सौधर्मकल्प देवियाँ	एक पल्योपम	७ पल्योपम
	परिगृहीता/अपरिगृहीता	एक पल्योपम	५५ पल्योपम
	२. ईशानकल्प देवियाँ	एक पल्योपम	९ पल्योपम
	परिगृहीता/अपरिगृहीता	पल्योपम कुछ अधिक	५५ पल्योपम

देवस्त्रियाँ देवपुरुषों † बत्तीसगुनी और बत्तीसरूप अधिक हैं ।

‘पल्योपम’ का अर्थ और भेद

देवों की आयु का कालप्रमाण बतलाने के लिये ‘पल्योपम’ शब्द का प्रयोग किया है। जो अति दीर्घ काल का बोधक है।

काल अनन्त है। काल की अवधि की दिन, मास, और वर्षों के रूप में गणना की जाती है, उसके लिये तो जैन वाङ्मय में घड़ी, घंटा, पूर्वाग पूर्व, आदि शीर्ष प्रहेलिका पर्यन्त संज्ञाये निश्चित की है। परन्तु इसके बाद जहाँ समय की अवधि इतनी लम्बी हो कि उसकी गणना वर्षों में न की जा सके, वहाँ उपमाप्रमाण की प्रवृत्ति होती है। अर्थात् उसका बोध उपमाप्रमाण द्वारा कराया जाता है। उस उपमाकाल के दो भेद हैं—पल्योपम और सागरोपम।

पल्य या पल्ल का अर्थ है कुआ अथवा धान्य को मापने का पात्र विशेष। उसके आधार या उपमा से की जाने वाली कालगणना की अवधि पल्योपम कहलाती है।^{१२}

पल्योपम के तीन भेद हैं—

- १) उद्धारपल्योपम
- २) अद्धारपल्योपम और
- ३) क्षेत्रपल्योपम।

ये तीनों भी प्रत्येक बादर^{१३} और सूक्ष्म के भेद से दो-दो प्रकार के हैं।^{१४}

उद्धार-पल्योपम

उत्सेधांगुल^{१५} द्वारा निषन्न एक योजन प्रमाण लम्बा, एक योजन चौड़ा और एक योजन गहरा एक गोल पल्य (गड्ढा)– बनाकर उसमें एक दिन से लेकर सात दिन तक की आयु वाले भोगभूमिज मनुष्यों के बालाग्रों को इतना ठसाठस भरे कि न उन्हें आग जला सके, न वायु उड़ा सके और न जल का ही प्रवेश हो सके। इस प्रकार से भरे हुए उस कुएँ में से प्रतिसमय एक-एक बालाग्र-बालखंड निकाला जाये तो निकालते-निकालते जितने समय में वह कुआ खाली हो जाये उस काल-परिमाण को उद्धार पल्योपम कहते हैं। उद्धार का अर्थ है निकालना। अतएव बालों के उद्धार या निकाले जाने के कारण इसका उद्धारपल्योपम नामकरण किया गया है। इसी को बादर उद्धार पल्योपम कहते हैं।

उपरोक्त जिस कुएँ में जिन बालाग्रों का संकेत किया है उनमें से प्रत्येक बालाग्र के बुद्धि के द्वारा असंख्यात खंड-खंड करके उन सूक्ष्म खंडों की पूर्ववर्णित कुएँ में ठसाठस भरा जाये और फिर प्रतिसमय एक-एक खंड को उस कुएँ से निकाला जाये। ऐसा करने पर जितने काल में वह कुआँ निःशेष रूप से खाली हो जाये, उस समयावधि को सूक्ष्म उद्धारपल्योपम कहते हैं। इसका कालप्रमाण संख्यात करोड़ वर्ष है। इस सूक्ष्म उद्धारपल्योपम से द्वीप और समुद्रों की गणना की जाती है।

अद्धारपल्योपम

‘अद्धार’ शब्द का अर्थ है काल या समय। इसका उपयोग चतुर्गति के जीवों की आयु और कर्मों की स्थिति वगैरह को जानने में किया जाता है।

उद्धार पल्योपम के प्रमाण वाले कुएँ को बालाग्रों से ठसाठस भरने के बाद सौ-सौ वर्ष के अनन्तर एक-एक बालाग्र को निकाला जाये और इस प्रकार से निकालते-निकालते जितना काल लगे, निकालने पर कुआँ खाली हो जाये, उतने काल प्रमाण को बाद्दर अद्धार पल्योपम कहते हैं।

ऊपर के वर्णानुसार जो कुएँ में बालाग्र लिये गये हैं, उनके बुद्धि द्वारा असंख्यात अदृश्य खंड करके कुएँ को ठसाठस भरा जाये और फिर प्रति सौ वर्ष बाद एक खंड को निकाला जाये एवं इस प्रकार से निकालते-निकालते जाये जब कुआँ खाली हो जाये और उसमें जितना समय लगे, उतने कालप्रमाण को सूक्ष्म अद्धारपल्योपम कहते हैं।^{१६}

क्षेत्रपल्योपम

उद्धार पल्योपम के प्रसंग में जिस एक योजन लम्बे-चौड़े और गहरे कुएँ का उल्लेख है उसको पूर्व की तरह एक से सात दिन तक के भोगभूमिज के बालाग्रों से ठसाठस भर दो। वे अग्रभाग आकाश के जिन प्रदेशों का स्पर्श करे, उनमें से प्रतिसमय एक-एक प्रदेश का अपहरण करते-करते जितने समय में समस्त प्रदेशों का अपहरण हो जाये, उतने समय का प्रमाण बाद्दर क्षेत्र पल्योपम कहलाता है। यह कल्प असंख्यात उत्सर्पिणी और असंख्यात अवसर्पिणी काल के बराबर होता है।

बादरक्षेत्र पल्योपम का प्रमाण जानने के लिये जिन बालाग्रों का संकेत है, उनके असंख्यात खंड करके पूर्ववत पल्य में भर दो। वे खंड पल्य में आकाश के जिन प्रदेशों का स्पर्श करें और जिन प्रदेशों का स्पर्श न करें, उनमें से प्रति समय एक-एक प्रदेश का अपहरण करते-करते जितने समय में स्पृष्ट और अस्पृष्ट दोनों प्रकार के सभी प्रदेशों का अपहरण किया जा सके उतने समय के प्रमाण को सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम काल कहते हैं। इसका काल भी असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण है। जो बादर क्षेत्र पल्योपम की अपेक्षा असंख्यात गुना अधिक जानना चाहिये। इसके द्वारा दृष्टिवाद में द्रव्यों के प्रमाण का विचार किया जाता है।^{१७}

दिगंबर साहित्य में पल्योपम का जो वर्णन किया गया है, वह उक्त वर्णन से भिन्न है। वहाँ पल्योपम के तीन प्रकारों के नाम इस प्रकार हैं-

- १) व्यवहारपल्य,
- २) उद्धारपल्य और
- ३) अद्धापल्य।

इनमें से व्यवहार पल्य का इतना ही उपयोग है कि उसके द्वारा उद्धारपल्य और अद्धापल्य की निष्पत्ति होती है। उद्धारपल्य के द्वारा द्वीप और समुद्रों की संख्या और अद्धापल्य के द्वारा जीवों की आयु आदि का विचार किया जाता है।

सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक और त्रिलोकसार में इनका विशद रूप में विवेचन है।^{१८}

संहनन :-

संहनन अर्थात् हड्डियों की रचनाविशेष को संहनन कहते हैं।^{१९}

संहनन छह प्रकार के हैं-

- १) वज्रऋषभ नाराच, २) ऋषभनाराच, ३) नाराच, ४) अर्धनाराच, ५) कीलिका और ६) सेवार्त।

देवों में एक भी संहनन नहीं होता है। उनमें न हड्डी होती है, न शिरा (धमनी नाडी) और न स्नायु। देव-देवियों की आयुष्य-स्थिति देखने के बाद

अब हम उनकी शरीर रचना पर दृष्टिपात करते हुए देव असंहनन होते हैं ।

देवों का शरीर बंधारण

देवों के शरीर का बंधारण भी विशेष प्रकार का.....

संस्थान :-

संस्थान का अर्थ-आकृति वह छः प्रकार के हैं ।^{१०} उनमें देवों के शरीर दो प्रकार के हैं—

१) भवधारणीय और २) उत्तरवैक्रिय

जो भवधारणीय शरीर है उसका समचतुराग संस्थान (चौरस है जो उदार वैक्रिय शरीर है उनका संस्थान (आकार) नाना प्रकार का होता है क्योंकि वे इच्छानुसार आकार बना सकते हैं ।

दस प्रकार के भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पोपपन्न वैमानिक देवों का भवधारणीयशरीर भवस्वभाव से तथाविध शुभनाम कर्मोदयवश समचतुरस्रसंस्थान वाले होते हैं । इच्छानुसार प्रवृत्ति करने के कारण इनका उत्तरवैक्रियशरीर नाना संस्थान वाला होता है । उसका कोई एक नियत आकार नहीं होता । नौ ग्रैवेयक के देव तथा पाँच अनुत्तर विमानवासी देवों को उत्तरवैक्रियशरीर का कोई प्रयोजन न होने से वे उत्तरवैक्रियशरीर का निर्माण ही नहीं करते, क्योंकि उनमें परिचाराणा या गमनागमन आदि नहीं होता । अतः उन कल्पातीत वैमानिक देवों में केवल भवधारणीय शरीर ही होता है और उसका संस्थान समचतुरस्र ही होता है ।^{१२}

इस प्रकार सभी देवों का संस्थान होता है ।

देव-विभूषा

यहाँ पर देवों की विभूषा का वर्णन देव के प्रकारों के साथ किया जा रहा है—

देव दो प्रकार के हैं—

- १) वैक्रिय शरीर (उत्तरवैक्रिय)
- २) अवैक्रिय शरीर (भवधारणीय)

वैक्रियशरीर वालों की विभूषा-

जो देव इस शरीर वाले होते हैं वे हारों से सुशोभित वक्षस्थल वाले दसों दिशाओं को उद्योतित करने वाले, प्रभासित करने वाले होते हैं ।

अवैक्रियशरीर :-

जो देव इस शरीर वाले होते हैं वे आभरण और वस्त्रों से रहित हैं और स्वाभाविक विभूषण से सम्पन्न हैं ।

देवियाँ की विभूषा

उत्तरवैक्रियशरीर :-

जो देवियाँ इस शरीर वाली हैं, वे स्वर्ण के नूपुरादि आभूषणों की ध्वनि से युक्त हैं तथा स्वर्ण की बजती किंकिणियों वाले वस्त्रों को तथा उद्भट वेश को पहनी हुई हैं, चन्द्र के समान उनका मुखमण्डल है, चन्द्र के समान विलास वाली हैं, अर्धचन्द्र के समान भाल वाली हैं । वे शृंगार का साक्षात् मूर्ति हैं, और सुन्दर परिधान वाली हैं । वे सुन्दर यावत् दर्शनीय, प्रसन्नता पैदा करने वाली और सौन्दर्य की प्रतिक हैं ।

अवैक्रियशरीर :-

इस शरीरवली देवियां, आभूषणों और वस्त्रों से रहित स्वाभाविक-सहज सौन्दर्य वाली हैं ।

सौधर्म-ईशान को छोड़कर शेष कल्पों में देव ही हैं, वहाँ देवियां नहीं हैं । अतः अच्युतकल्प पर्यन्त देवों की विभूषा का वर्णन उक्त रीति के अनुसार है । प्रैवेयकदेवों की विभूषा आभरण और वस्त्रों से रहित हैं । वे स्वाभाविक विभूषा से सम्पन्न हैं । वहाँ देवियां नहीं हैं । इस प्रकार अनुत्तर विमान के देवों की विभूषा होती है ।^{२२}

इस प्रकार देव-देवियाँ की विभूषा होती है ।

विकुर्वणा :-

वैक्रिय शरीर से देवों के द्वारा भिन्न भिन्न रूपों का निर्माण करना विकुर्वणा कहलाता है ।

विकुर्वणा के दो प्रकार हैं—

- १) एक रूप की विकुर्वणा,
- २) बहुत रूपों की विकुर्वणा ।

एक रूप की विकुर्वणा-

जो यह विकुर्वणा करते हैं, वे एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के रूप बना सकते हैं ।

बहुत रूपों की विकुर्वणा

जो यह विकुर्वणा करते हैं, वे बहुत सारे एकेन्द्रिय रूपों से पंचेन्द्रिय रूपों की विकुर्वणा कर सकते हैं ।

देव संख्यात अथवा असंख्यात, (एक समान) या भिन्न-भिन्न और संबद्ध (आत्मप्रदेशों से समवेत) असंबद्ध (आत्मप्रदेशों से भिन्न) नाना रूप बनाकर इच्छानुसार कार्य करते हैं ।

यह सौधर्म देव से अच्युत देवों तक समझना चाहिए ।

ग्रैवेयक देव और अनुत्तर विमानों के देव ने उपरोक्त दोनों विकुर्वणा न तो पहले कभी की है, न वर्तमान में करते हैं और न भविष्य में कभी करेंगे । (क्योंकि वे उत्तरविक्रिया करने की शक्ति से सम्पन्न होने पर भी प्रयोजन के अभाव तथा प्रकृति की उपशान्तता से विक्रिया नहीं करते ।^{२३}

इस प्रकार देवों की विकुर्वणा का यहाँ विवेचन किया गया है ।

समुद्घात : 1

“समुद्घात” जैन शास्त्रों का पारिभाषिक शब्द है । इसका अर्थ है—

वेदना आदि के साथ एकरूप होकर वेदनीयादि कर्मदलिकों का प्रबलता के साथ घात करना समुद्घात^{२४} कहलाता है ।

समुद्घात के सात प्रकार हैं । उसी में से देवों के पांच प्रकार के समुद्घात होते हैं—

१) वेदना समुद्घात, २) कषाय समुद्घात, ३) मारणान्तिक समुद्घात, ४) वैक्रिय समुद्घात, और ५) तेजस समुद्घात । इसी प्रकार अच्युत देवलोक तक पांच समुद्घात होते हैं । ग्रैवेयक देवों के आदि के प्रथम तीन समुद्घात होते हैं ।^{२५}

कौन सा समुद्घात किस कर्म के आश्रित है, निम्न प्रकार से^{२६}—

- १) वेदना समुद्घात - असाता वेदनीय कर्म को लेकर वेदना समुद्घात होता है ।
- २) कषाय समुद्घात - चारित्रमोहनीय कर्माश्रय है ।
- ३) मारणान्तिक समुद्घात - अन्तर्मुहूर्त शेष आयुष्य-कर्माश्रय है ।
- ४) वैक्रिय समुद्घात - वैक्रियशरीरनाम-कर्माश्रय है ।
- ५) तैजस समुद्घात - तैजसशरीरनाम-कर्माश्रय है ।

देवों की कायप्रवीचार (कामसुख) :-

कायप्रवीचार अर्थात् शरीर के विषयसुख भोगना ।^{२७}

भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा पहले व दूसरे कल्प के वैमानिक ये सब देव मनुष्य की भाँति शरीर से कामसुख का अनुभव करके प्रसन्न होते हैं ।

तीसरे कल्प तथा ऊपर के सभी कल्पों के वैमानिक देव मनुष्य के समान सर्वाङ्गीण शरीरस्पर्श द्वारा कामसुख नहीं भोगते, अपितु अन्यान्य प्रकार से वैषयिक सुख भोगते हैं । तीसरे और चौथे कल्प के देवों की तो देवियों के स्पर्श मात्र से कामतृप्ति हो जाती है । पाँचवे और छठे स्वर्ग के देव देवियों के सुसज्जित (शृंगारित)रूप को देखकर ही विषयसुख प्राप्त कर लेते हैं । सातवें और आठवें स्वर्ग के देवों की कामवासना देवियों के विविध शब्दों को सुनने से पूरी हो जाती है । नवें और दसवें तथा ग्यारवें और बारहवें इन दो जोड़े अर्थात् चार स्वर्गों के देवों की वैषयिक तृप्ति देवियों के चिन्तन करने मात्र से हो जाती है । इस तृप्ति के लिए उन्हो ने तो देवियोंका स्पर्श की उनका रूप देखने की और न गीत आदि सुनने की आवश्यकता रहती है ।

सारांश यह है कि दूसरे स्वर्ग तक ही देवियाँ हैं, ऊपर के कल्पों में नहीं हैं । वे जब तृतीय आदि ऊपर के स्वर्गों के देवों को विषयसुख के लिए उत्सुक अर्थात् अपनी और आदरशील जानती हैं तभी वे उनके निकट पहुँचती हैं । देवियों के हस्त आदि के स्पर्श मात्र से तीसरे-चौथे स्वर्ग के देवों की कामतृप्ति हो जाती है । उनके शृंगारसज्जित मनोहर रूप को देखने मात्र से पाँचवें और छठे स्वर्ग के देवों की कामलालसा पूर्ण हो जाती है । इसी प्रकार उनके सुन्दर संगीतमय शब्दों के श्रवण मात्र से सातवें और आठवें स्वर्ग के देव वैषयिक

आनंद का अनुभव प्राप्त कर लेते हैं। देवियों की पहुँच आठवे स्वर्ग तक ही है, ऊपर नहीं। नवें से बारहवें स्वर्ग तक के देवों की काम-सुखतृप्ति केवल देवियों का चिन्तन करने से ही हो जाती है। बारहवें स्वर्ग से ऊपर के देव शान्त और कामलालसा से परे होते हैं। उन्हें देवियों के स्पर्श, रूप, शब्द या चिन्तन द्वारा कामसुख भोगने की अपेक्षा नहीं रहती, फिर भी वे नीचे के देवों से अधिक सन्तुष्ट और अधिक सुखी होते हैं।

ज्यों-ज्यों कामवासना प्रबल होती है त्यों-त्यों चित्तसंक्लेश अधिक बढ़ता है तथा ज्यों-ज्यों चित्तसंक्लेश बढ़ता है त्यों-त्यों उसके निवारण के लिए विषयभोग भी अधिकाधिक आवश्यक होता है।

दूसरे स्वर्ग तक के देवों की अपेक्षा तीसरे और चौथे स्वर्ग के देवों की, उनकी अपेक्षा पाँचवें-छठे स्वर्ग के देवों की और इस तरह ऊपर-ऊपर के स्वर्गों के देवों की कामवासना मन्द होती जाती है। इसलिए उनका चित्तसंक्लेश भी कम होता जाता है। उनके कामभोग के साधन भी अल्प होते हैं। बारहवें स्वर्ग से ऊपर के देवों की कामवासना शान्त होती है, अतः उन्हें स्पर्श, रूप, शब्द, चिन्तन आदि किसी भी प्रकार के भोग की कामना नहीं होती। वे संतोषजन्य परमसुख में निमग्न रहते हैं। इसी कारण नीचे-नीचे की अपेक्षा ऊपर-ऊपर के देवों का सुख अधिकाधिक माना गया है।

देवों के चारों निकाय में इस प्रकार कायप्रवीचार अर्थात् विषयसुख का वर्णन किया गया है।

सामान्य विशेषताएँ :-

देवों में गति, शरीर, परिग्रह अभिमान ये चार बातें ऐसी हैं, जो नीचे की अपेक्षा ऊपर के देवों में उत्तरोत्तर कम होती हैं। उसका उल्लेख 'गतिशरीरपरिग्रहाभिमानता हीना' सूत्र में ^{२८}-तत्त्वार्थसूत्रकार ने किया है—

१. गति :-

गमनक्रिया की शक्ति और गमनक्रिया में प्रवृत्ति ये दोनों ऊपर-ऊपर के देवों में कम होती हैं। क्योंकि उनमें उत्तरोत्तर महानुभावत्व और उदासीनत्व अधिक होने से देशान्तर विषयक क्रीड़ा करने की रति (रुचि) कम होती जाती है। सानत्कुमार आदि कल्पों के देव जिनकी जघन्य आयुस्थिति दो सागरोपम होती है, अधोभूमि में सातवें नरक तक और तिरछे क्षेत्र में असंख्यात हजार कोटाकोटि योजन पर्यन्त जाने का सामर्थ्य

रखते हैं। इनके ऊपर के जघन्य स्थितिवाले देवों का गतिसामर्थ्य इतना कम हो जाता है कि वे अधिक-से अधिक तीसरे नरक तक ही जा पाते हैं। शक्ति चाहे अधिक हो पर कोई देव तीसरे नरक से नीचे न गया है और न जायेगा।^{२९} इस तरह से देवों की गति का वर्णन मिलता है।

२. देवों की शरीरावगाहना :-

उत्पत्ति के समय से लगातार प्रतिक्षण जो शीर्ण-जर्जरित होता है, वह शरीर है। शरीर के प्रमाण (ऊँचाई) को अवगाहना कहते हैं।

शरीर के मुख्य ५ प्रकार हैं—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण।

देवों का वैक्रिय शरीर होता है। जिस शरीर के द्वारा विविध, विशिष्ट या विलक्षण क्रियाएँ हों, वह वैक्रिय शरीर कहलाता है। जो शरीर एक होता हुआ, अनेक बन जाता है, अनेक होता हुआ, एक हो जाता है, छोटे से बड़ा और बड़े से छोटा, खेचर से भूचर और भूचर से खेचर हो जाता है, तथा दृश्य होता हुआ अदृश्य और अदृश्य होता हुआ दृश्य बन जाता है, इत्यादि विलक्षण लक्षण वाला पारे के सदृश शरीर वैक्रिय है।

विक्रिया दो प्रकार की होती है—१) भवधारणीय वैक्रिय, २) उत्तर वैक्रिय।

जो जन्म से ही प्राप्त होता है उसे भवधारणीय वैक्रिय शरीर कहते हैं। और स्वेच्छानुसार जिस में नाना आकृतियोंका निर्माण किया जाता है उसे उत्तरवैक्रिय शरीर कहते हैं।^{३०}

देवों के भवधारणीय और उत्तरवैक्रियशरीरों का जघन्य, उत्कृष्ट, शरीरावगाहना की तालिका प्रज्ञापना सूत्र में निम्न प्रकार से है^{३१}—

वैक्रिय शरीर के प्रकार	भावधारणीया-शरीरावगाहना ज.उ.	उत्तरवैक्रिय-शरीरावगाहना ज.उ.
१. समस्त भवनपति देवों	ज. अंगुल के असंख्यातवें भाग, उ. ७ हाथ की।	ज. अंगुल के असंख्यातवें भाग, उ. १ लाख योजन।
२. समस्त वाणव्यन्तर	ज. " " उ. " "	ज. अंगुल के संख्यातवें भाग, उ. १ लाख योजन।

३. समस्त ज्योतिष्क	ज. " " उ. " "	ज. " " उ. " "
४. (अ) सोधर्म से अच्युतकल्प	ज. " " उ. " "	ज. " " उ. " "
(ब) सनत्कुमार देवों के तक.	ज. " " उ. ६ हाथ की	ज. " " उ. " "
(क) माहेन्द्रकल्प के देवों	ज. " " उ. " "	ज. " " उ. " "
(ख) बहलोक लान्तक देवों.	ज. " " उ. ५ हाथ की	ज. " " उ. " "
(ग) महाशुक सहस्रार देव	ज. " " उ. ४ हाथ की	ज. " " उ. " "
(घ) आनत-प्राणत-आरण	ज. " " उ. ३ हाथ की	ज. " " उ. " "
अच्युत कल्प के देव		
(ङ) नवग्रैवेयकों के देव	ज. " " उ. २ हाथ की	
(ठ) पंच अनुत्तरौपपातिक देव	ज. " " उ. १ हाथ की	

इस प्रकार शरीर की अवगाहना जघन्य एवं उत्कृष्ट रूप से तालिका में स्पष्ट किया गया है ।

यहाँ परिग्रह शब्द से विमानों का परिवार आवासों की संख्या का उल्लेख है ।

३. परिग्रह :-

परिग्रह अर्थात् संचय करना । लोभ कषाय के उदय से विषयों के संग को परिग्रह कहते हैं । स्वर्गों में विमानों का परिग्रह होता है जो कि ऊपर-ऊपर कम होता जाता है । वह इस प्रकार है-पहले स्वर्ग में बत्तीस लाख, दूसरे में अट्ठाईस लाख, तीसरे में बारह लाख, चौथे में आठ लाख, पाँचवे में चार लाख, छठे में पचास हजार, सातवें में चालीस हजार, आठवें में छः हजार, नवें से बारहवें तक में सात सौ, अघोवर्ती तीन ग्रैवेयकों में एक सौ ग्यारह, मध्यवर्ती तीन ग्रैवेयकों में एक सौ सात, ऊपर के तीन ग्रैवेयकों में सौ और अनुत्तर में केवल पाँच विमान हैं । इस प्रकार देवों का परिग्रह होता है ।

४. अभिमान :-

मान कषाय के उदय से उत्पन्न हुए अहंकार को अभिमान कहते हैं । स्थान, परिवार, शक्ति, विषय, विभूति, स्थिति आदि के कारण अभिमान उत्पन्न होता है । यह अभिमान कषायों की मन्दता के कारण ऊपर-ऊपर के देवों में

उत्तरोत्तर कम होता जाता है। नीचे-नीचे के देवों की अपेक्षा ऊपर ऊपर के देव अधिक शक्तिशाली होते हुए भी उनका अभिमान कम-कम होता है।

५ अधिक विशेषताएं

आगे उल्लिखित लक्षणों के उपरान्त देवों की कुछ और भी विशेषताएँ आगमों में पाई जाती हैं। ये विशेषताएँ निम्न हैं—

१. उच्छ्वास :-

प्रत्येक प्राणी को जीवन जीने के लिए श्वासोच्छ्वास की आवश्यकता है। चाहे वह मुनि हो, चक्रवर्ती हो, राजा हो अथवा किसी भी प्रकार का देव हो, नारक हो अथवा एकेन्द्रिय से लेकर तिर्यच-पंचेन्द्रिय तक किसी भी जातिका जीव हो। इसलिए श्वासोच्छ्वासरूप प्राण का अत्यन्त महत्व है। देवों में जो देव जितनी अधिक आयु वाला होता है, वह उतना ही अधिक सुखी होता है और जो जितना अधिक सुखी होता है, उसके उच्छ्वास-निःश्वास का विरहकाल उतना ही अधिक लम्बा होता है, क्योंकि उच्छ्वास-निःश्वासक्रिया दुःखरूप है।

जैसे दस हजार वर्ष की आयुवाले देवों का एक-एक उच्छ्वास सात-सात स्तोक में होता है। एक पल्योपम की आयुवाले देवों का उच्छ्वास एक दिन में एक ही होता है। सागरोपम की आयुवाले देवों के विषय में यह नियम है कि जिनकी आयु जितने सागरोपम की है उनको एक-एक उच्छ्वास उतने पक्ष में होता है। इस प्रकार ऊपर ऊपर के देवों का श्वासोश्वास कम होता जाता है। यहाँ जघन्य व उत्कृष्ट श्वासोश्वास को तालिका से स्पष्ट किया जा रहा है—

देव	जघन्यतः	उत्कृष्टतः
१) भवनपति देव	सात स्तोक	एक पक्ष(मुहूर्त्तपृथक्त्व)
२) वाणव्यन्तर देव	सात स्तोक	एक पक्ष(मुहूर्त्तपृथक्त्व)
३) ज्योतिष्क देव	मुहूर्त्तपृथक्त्व	मुहूर्त्तपृथक्त्व
४) वैमानिक देव	मुहूर्त्तपृथक्त्व	तेतीस पक्ष

देवों के जघन्य और उत्कृष्ट उच्छ्वासों का वर्णन प्रज्ञापना^{३२} में मिलता है।

२. आहार-

सभी प्राणी को जीवन यापन करने के लिए आहार करना आवश्यक होता है। देवों का आहार चार प्रकार का है-वर्णवान्, रसवान्, गन्धवान् और स्पर्शवान्।^{३३}

वैक्रियशरीरधारी देवों का आहार अचित्र ही होता है ।

देवों के आहार में यह नियम है कि दस हजार वर्ष की आयुवाले देव एक-एक दिन बीच में छोड़कर आहार ग्रहण करते हैं । पल्योपम की आयुवाले दिनपृथक्त्व^{३४} के बाद आहार लेते हैं । सागरोपम की स्थितिवाले देवों के विषय में यह नियम है कि जिनकी आयु जितने सागरोपम की हो वे देव उतने हजार वर्ष के बाद आहार ग्रहण करते हैं ।^{३५} स्पष्ट है कि ऊपर ऊपर के देवों की आहार वर्गणा कम हो जाती है ।

३. वेदना :-

अर्थात् एक प्रकार की अनुभूति है, वह तीन प्रकार की है- शीत, उष्ण और शीतोष्ण । सामान्यतः देवों के साता (सुख-वेदना) ही होती है । कभी असाता (दुःख-वेदना) हो जाय तो वह अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक नहीं रहती । साता-वेदना भी लगातार छः महीने तक एक-सी रहकर बदल जाती है ।^{३६} च्यवन काल निकट आता है, तब अंतिम छः महिनोंमें वेदना का अनुभव रहता है ।

४. उपपात :-

उपपात अर्थात् उत्पत्तिस्थान की योग्यता । परलिंगिक अर्थात् जैनेतरलिङ्गिक मिथ्वात्वी बारहवें स्वर्ग तक ही उत्पन्न हो सकते हैं । स्व अर्थात् जैनलिङ्गिक मिथ्यात्वी ग्रैवेयक तक जा सकते हैं । सम्यग्दृष्टि पहले स्वर्ग से सर्वार्थसिद्ध तक कहीं भी जा सकते हैं, परंतु चतुर्दश पूर्वधारी संयती(मुनि) पाँचवें स्वर्ग से नीचे उत्पन्न नहीं होते ।

५ अनुभाव :-

अनुभाव अर्थात् लोकस्वभाव (प्रकृति) इसी के कारण सब विमान तथा सिद्धशिला आदि आकाश में निराधार अवस्थित हैं ।

अरिहंत भगवान् के जन्माभिषेक आदि प्रसंगों पर देवों के आसन का कम्पित होना भी लोकानुभाव का ही कार्य है । आसनकम्प के अनन्तर अवधिज्ञान के उपयोग से तीर्थङ्कर की महिमा को जानकर कुछ देव उनके निकट पहुँचकर उनकी स्तुति, वन्दना, उपासना आदि करके आत्मकल्याण करते हैं । कुछ देव अपने ही स्थान पर प्रत्युत्थान, अञ्जलिकर्म, प्रणिपात, नमस्कार, उपहार आदि द्वारा तीर्थङ्कर की अर्चा करते हैं । यह भी लोकानुभाव का ही कार्य है ।^{३७}

उपरोक्त भाव सभी देवों में नीचे से उपर के देवों में उत्तरोत्तर कम होता है ।

देवों का अल्पबहुत्व

तत्त्वों या पदार्थों का संख्या की दृष्टि से भी विचार किया जाता है । जैनदर्शन में षडद्रव्यों की दृष्टि से संख्या का निरूपण ही नहीं, किन्तु परस्पर एक दूसरे तारतम्य, अल्पबहुत्व का निरूपण देवों के लिए प्रज्ञापना में उल्लेख है^{३८}—

सौधर्म देवों से भवनवासी देव असंख्येयगुण हैं । उनके बत्तीसवें भाग प्रमाण होते हैं । उनके व्यन्तर देव असंख्येयगुण हैं । उनके बत्तीसवें भाग प्रमाण हैं । उनसे ज्योतिष्क देव संख्येयगुण हैं । सबसे कम वैमानिक देव होते हैं ।

देवियों के अल्पबहुत्व का उल्लेख भी जीवाजीवाभिगम सूत्र में है— देवियों के भी चार प्रकार हैं—

वैमानिक देवियाँ सबसे कम, उनसे भवनवासी देवियाँ असंख्यातगुणी, उनसे व्यन्तर देवियाँ असंख्येयगुणी, उनसे ज्योतिष्क देवियाँ संख्येयगुणी होती हैं ।

इसका विस्तार से वर्णन जीवाजीवाभिगम सूत्र में है ।^{३९}

जिस तरह मनुष्यलोक में पैसे वालों और गरीबों का कम ज्यादा का प्रमाण होता है । उसी तरह देवलोक में देवों के चार प्रकार में होता है ।

देवताओं की दृष्टि :-

दृष्टि का अर्थ है जिनप्रणीत वस्तुतत्त्व की प्रतिपत्ति (स्वीकृति) । दृष्टि तीन प्रकार की है ।^{४०}

- १) सम्यग्दृष्टि,
- २) मिथ्यादृष्टि और
- ३) सम्यग्मिथ्या (मिश्र) दृष्टि ।

सौधर्म-ईशान कल्प से ग्रैवेयक विमानों के देव तक सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि-मिश्रदृष्टि तीनों प्रकार हैं ।

अनुत्तर विमानों के देव सम्यग्दृष्टि ही होते हैं, मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि वाले नहीं होते ।^{४१}

देवों का ज्ञान :-

जैन दर्शन में पाँच प्रकार के ज्ञान मान्य किये गये हैं—

१) मतिज्ञान, २) श्रुतज्ञान, ३) अवधिज्ञान, ४) मनःपर्याव ज्ञान और ५) केवलज्ञान ।

सामान्यतः प्रत्येक जीव को प्रथम दो ज्ञान होते हैं । देवों को तीसरा अवधिज्ञान जन्म से ही होता है । इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा को अवधि-मर्यादा में होने वाला रूपी पदार्थों का ज्ञान अवधिज्ञान है । सम्यक्त्वपूर्वक ज्ञान को ज्ञान कहते हैं । मिथ्यात्वी का ज्ञान विभंगज्ञान है ।^{४२}

अवधिज्ञान दो प्रकार का है—

१. भव प्रत्यय - जन्मजात
२. गुण प्रत्यय - साधना से प्राप्त

इस प्रकार देवों में जन्म से ही अवधिज्ञान होता है । इस अवधिज्ञान से देव कितना क्षेत्र देख पाते हैं उसको तालिका के माध्यम से बताया जा रहा है—^{४३}

७. अवधिविषय :-

अवधिज्ञान देवों को जन्म से होता है । पर उसका सामर्थ्य भी ऊपर-ऊपर के देवों में अधिक होता है । पहले-दूसरे स्वर्ग के देव अधोभूमि में रत्नप्रभा तक तिरछे क्षेत्र में असंख्यात लाख योजन तक और उर्ध्वलोक में अपने-अपने भवन तक के क्षेत्र को अवधिज्ञान से जानते हैं ।

तीसरे-चौथे स्वर्ग के देव अधोभूमि में शर्कराप्रभा तक तिरछे क्षेत्र में असंख्यात लाख योजन तक और उर्ध्वलोक में अपने-अपने भवन तक अवधिज्ञान से देख सकते हैं । इसी प्रकार क्रमशः बढ़ते-बढ़ते अनुत्तर-विमानवासी देव सम्पूर्ण लोकनाली को अवधिज्ञान से देख सकते हैं । जिन देवों का अवधिज्ञानक्षेत्र समान होता है उनमें भी नीचे की अपेक्षा ऊपर के देवों में विशुद्ध विशुद्धतर ज्ञान का सामर्थ्य होता है ।^{४४}

अवधिज्ञानी देवों के नाम

जानने-देखने की

उत्कृष्ट क्षेत्रसीमा

जघन्य क्षेत्रसीमा

१. भवनपति

असुरकुमार देव	पच्चीस योजन	असंख्यात द्वीप-समुद्र
नागकुमार देव	पच्चीस योजन	संख्यात द्वीप-समुद्र
सुपर्णकुमार से स्तनितकुमारतक	पच्चीस योजन	संख्यात द्वीप समुद्र
२. वाणव्यन्तर	पच्चीस योजन	संख्यात द्वीप-समुद्र
३. ज्योतिष्क	संख्यात द्वीप-समुद्र	संख्यात द्वीप-समुद्र
४. वैमानिक	-	-
सौधर्म देव	अंगुल के असंख्यातवें भाग(उपपात के समय पूर्वभव संबंधी सर्व जघन्य अवधि की अपेक्षा से)	नीचे रत्नाप्रभा पृथ्वी के निचले चरमान्त तक, तिरछे असंख्यात द्वीप-समुद्र तक ऊपर अपने विमानों तक
ईशान देव	" "	सौधर्मवत्
सनत्कुमारदेव	" "	नीचे शर्कराप्रभा के नीचले चरमान्त तक, शेष सब सौधर्मवत्
माहेन्द्रदेव	" "	सनत्कुमारवत्
ब्रह्मलोक और लान्तकदेव	" "	नीचे तीसरी पृथ्वी के निचले चरमांत तक, शेष सब सौधर्मवत्
महाशुक, सहस्रार देव	" "	नीचे चौथी पंकप्रभा के निचले चरमान्त तक, शेष सौधर्मवत्
आनत, प्राणत, आरण, अच्युत	" "	नीचे पंचमी धूमप्रभापृथ्वी के निचले चरमान्त तक, शेष पूर्ववत्
अधस्तन, मध्यम ग्रैवेयकदेव	" "	नीचे छठी तमःप्रभा पृथ्वी शेष पूर्ववत्
उपरिम ग्रैवेयकदेव	" "	नीचे सातवीं नरक के

अनुज्ञरोपपातिक देव

सम्पूर्ण लोकनाडी

लेश्या :-

लेश्या अर्थात् मन के परिणाम(भाव, अध्यवसाय, विचार) । देवों में छः लेश्याएं होती हैं ।

लेश्या-विशुद्धि पहले दो, तीन और शेष स्वर्गों में क्रमशः पीत-पद्म और शुक्ल लेश्या वाले देव होते हैं । यह विधान शरीरवर्ण रूप द्रव्यलेश्या के विषय में है, क्योंकि अध्यवसाय रूप छहों भावलेश्या तो सब देवों में होती हैं ।

व्यंतर से सौधर्म-ईशान देव में तेजोलेश्या, सनत्कुमार और माहेन्द्र में पद्मलेश्या और ब्रह्मलोक में भी पद्मलेश्या होती हैं । इससे ऊपर के वैमानिक देवों में केवल शुक्ललेश्या होती है । अनुत्तरोपपातिक देवों में परम शुक्ल लेश्या होती है ।^{१५५}

उपरोक्त विवक्षा से जिन देवों की लेश्या समान है, उनमें भी नीचे की अपेक्षा ऊपर के देवों की लेश्या संक्लेश-परिणाम की न्यूनता के कारण उत्तरोत्तर विशुद्ध विशुद्धतर होती हैं ।^{१५६}

गुणस्थान :-

देवों में सामान्यतः चार गुणस्थान होते हैं :- १) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान, २) सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान, ३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान और ४) असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान । ये गुणस्थान पर्याप्त और अपर्याप्त देवों में होते हैं ।

२. प्रभाव :-

निग्रह, अनुग्रह, विक्रिया और पराभियोग को प्रभाव कहते हैं । निग्रह :- शाप अथवा दंड देने की शक्ति । अनुग्रह :- परोपकार आदि करने की शक्ति । विक्रिया :- शरीर को अनेक प्रकार का बनाने की आणिका-महिमा आदि लब्धरूप शक्ति । पराभियोग :- अन्य पर वर्चस्व, जिसके बल से दूसरों के पास जबरदस्ती से कोई काम करा सकते हैं । आक्रमण करके दूसरों से काम करवाने का बल यह सब प्रभाव के अन्तर्गत है । यह प्रभाव ऊपर-ऊपर के देवों में अधिक है । फिर भी उनमें उत्तरोत्तर अभिमान व संक्लेश-परिणाम कम होने से वे अपने प्रभाव का

उपयोग कम ही करते हैं।

३.४. सुख और द्युति-

इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य विषयों का अनुभव करना सुख है। शरीर, वस्त्र और आभरण आदि की दीप्ति द्युति है। यह सुख और द्युति ऊपर-ऊपर के देवों में अधिक होने से उनमें उत्तरोत्तर क्षेत्र स्वभाव जन्य शुभ पुद्गल-परिणाम की प्रकृष्टता होती है। साता वेदनीय कर्म के उदय से बाह्य विषयों में इष्ट अनुभव रूप सुख उपर-उपर देवों में अधिक होता है।

६. इन्द्रियविषय :-

देवों में दूर से इष्ट विषयों को ग्रहण करने का इन्द्रियों का सामर्थ्य भी उत्तरोत्तर गुण की वृद्धि और संक्लेश की न्यूनता के कारण ऊपर-ऊपर के देवों में उत्तरोत्तर अधिक होता है।^{५७}

अपने-अपने इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करना, जैसे की कान से दूर-दूर का सुनना, आँख से दूरदूर देखना आदि।

अंतरद्वार :-

कोई जीव एक भव से मरकर फिर जितने काल के बाद दूसरे भव में आता है उसे अन्तर कहते हैं।

देवों का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है। कोई जीव देवभव से च्यवकर गर्भज मनुष्य के रूप में पैदा हुआ, सब पर्यायसियों से पूर्ण हुआ, विशिष्ट संज्ञान वाला हुआ, तथाविध श्रमण या श्रमणोपासक के पास धार्मिक आर्यवचनों को सुनकर धर्मध्यान ध्याता हुआ, गर्भ में ही मरकर देवों में उत्पन्न हुआ-इस अपेक्षा से जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त काल घटित होता है। उत्कृष्ट अन्तर वनस्पतिकाय का है, जो वनस्पतिकाय में अनन्तकाल तक जन्म-मरण रहने के बाद देव बनने पर घटित होता है।^{५८} इसप्रकार का अन्तराल देवों का है।

उद्वर्तनाद्वार :- देवभव से च्यवकर कहाँ उत्पन्न होते हैं इसको उद्वर्तना कहते हैं।^{५९} सौधर्म देवलोक के देव बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय अप्काय और वनस्पतिकाय में, संख्यात वर्ष की आयु वाले पर्याप्त गर्भज तिर्यच पंचेन्द्रिय और गर्भज मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं। ईशानदेव भी इन्हीं में उत्पन्न होते हैं। सनतकुमार से लेकर सहस्रार पर्यन्त के देव संख्यात वर्ष की आयुवाले पर्याप्त

गर्भज तिर्यच और मनुष्यों में ही उत्पन्न होते हैं, ये एकेन्द्रियों में उत्पन्न नहीं होते। आनत से लगाकर अनुत्तरोपपातिक देव तिर्यच पंचेन्द्रियों में भी उत्पन्न नहीं होते, केवल संख्यात वर्ष की आयु वाले गर्भज मनुष्यों में ही उत्पन्न होते हैं।

देवों की राज्यव्यवस्था

मनुष्यों में जैसे राज्यव्यवस्था होती है, यथा—राजा, प्रधान मंत्री, मुख्यमंत्री, अंग-रक्षक, फोजदार, दास-दासी आदि—उसी प्रकार देवलोक में देवों के संचालन की भी व्यवस्था होती है।

देवों के चारों ही भेदों में इनकी व्यवस्था होती है। व्याख्याप्रज्ञप्ति और तत्त्वार्थसूत्र^{१०} में दस प्रकार के अधिकारी देवों की व्यवस्थाका उल्लेख है :-

१) इन्द्र, २) सामानिक, ३) त्रायस्त्रिंश, ४) पारिषद, ५) आत्मरक्षक, ६) लोकपाल, ७) अनीक, ८) प्रकीर्णक, ९) आभियोग्य और १०) कित्त्विषिक।

१) इन्द्र :-

सब देवों का अधिपति अथवा राजा।

सामानिक आदि शेष नौ का अधिपति एवं परम ऐश्वर्य युक्त होने से उसे इन्द्र कहते हैं। भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक इन चारों निकायों के देवों में अपने-अपने निकायवर्ती देवों का जो स्वामी होता है, उसे इन्द्र कहते हैं। जैसे कि सुधर्मा देवलोक के देवों का स्वामी सौधर्मेन्द्र है।

२) सामानिक :-

इन्द्र नहीं परंतु इन्द्र के समान अमात्य (मंत्री)पिता, गुरु, उपाध्याय आदि के समान जो महान है उसे सामानिक कहते हैं। इनमें इन्द्रत्व नहीं है, आदेश करने का भी अधिकार नहीं है। किन्तु आयु, वीर्य, भोग, उपभोग आदि में वे इन्द्र के समान होते हैं। इसी प्रकार ऐश्वर्य भी इन्द्र के समान होने से उनको सामानिक देव कहते हैं। ये भी पूजनीय, आदरणीय होते हैं।

३) त्रायस्त्रिंश :-

पुरोहित और मंत्री।

राज्य में जिस प्रकार मंत्री और पुरोहित होते हैं, उसी प्रकार देवों में उस स्थान पर ये नियुक्त होते हैं। इन्द्र को सलाह देनेवाले मंत्री या शांति-पुष्टि

कर्मद्वारा प्रसन्न रखनेवाले पुरोहित समान ये त्रायास्त्रिशक देव होते हैं । ये देव भोग में बहुत आसक्त होने से उनको दोगुंदक भी कहते हैं ।

४. पारिषद्य :-

मित्र के समान अथवा सभासदों के स्थान पर जो देव होते हैं, वे पारिषद्य देव हैं । ये समय समय पर इन्द्र को विनोद आदि करके आनंदित करते हैं ।

५. आत्मरक्षक :-

इन्द्र के विशेष अंगरक्षक ।

इन्द्र की अंगरक्षा के लिए उनकी पीठ के पीछे शस्त्र आदि लेकर जो खड़े रहते हैं तथा अपने स्वामी की सेवा में सदैव तत्पर रहते हैं, ऐसे अंगरक्षक देव आत्मरक्षक कहे जाते हैं । यद्यपि इन्द्र को कोई भय नहीं होता, तथापि इन्द्र की विभूति बताने के लिए एवं अन्य देवों पर प्रभाव डालने के लिए कवच धारण करके, शस्त्रसहित इन्द्र के पीछे खड़े रहते हैं । शिरस्त्राण (पगडी, हेल्मेट) की भांति ये कवच भी प्राणरक्षक होते हैं ।

६. लोकपाल :-

चौकीदार पुलिस या चर के समान ।

जो चोर आदि से रक्षा करनेवाले कोतवाल के समान होते हैं । सरहद की रक्षा करने से इनको लोकपाल कहते हैं ।

७. अनीक :-

लश्कर तथा उसके अधिपति जैसे । अनीक अर्थात् सेना, और उसके अधिपति अर्थात् सेनाधिपति । दंडनायक स्थानीय, दंडनायक अथवा सेनाधिपति-सेनानी को अनीक कहते हैं ।

८. प्रकीर्णक :-

शहरी या देशवासी के समान । जो नगरवासी के समान हैं । सामान्य प्रजाजन जैसे हैं वे प्रकीर्णक कहलाते हैं ।

९) आभियोग्य :-

नौकर तुल्य देव । जैसे हमारे यहाँ घरेलू काम करने के लिए वेतनभोगी भृत्यनौकर होते हैं, उसी प्रकार के स्वर्ग में आभियोग्य देव होते हैं ।

१०) किल्विषिक :-

अंत्यज के समान देव । नगर के बाहर रहने वाले चंडाल आदि समान हलका काम करने वाले किल्विषिक देव हैं । इनकी गणना हलके देवों की कोटि में होती है ।

ये देव व्यन्तरनिकाय के आठ और ज्योतिष्कनिकाय के पाँच प्रकार के देव इन्द्र आदि आठ विभागों में ही विभक्त हैं, क्योंकि इन दोनों निकायों में त्रायस्त्रिस और लोकपाल जाति के देव नहीं होते हैं ।^{५१}

इस प्रकार सभी देवों में राज्य-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था, सफाई आदि के कर्मचारियों का विधान मनुष्यों की भांति ही दृष्टिगत होता है ।

देवों की गति-अगति

प्रत्येक जीव को अपने ही कर्मों से दूसरी गति प्राप्त होती है । देव गति शुभ कर्म करने से प्राप्त होती है । जैसे कि सराग संयम, देश संयम, अकाम निर्जरा, धर्म श्रवण, सुपात्र दान, तप, देव-गुरु के प्रति श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना, पद्म एवं तेजो लेश्या के परिणाम—इत्यादि कर्म करने से देव गति का बंध होता है ।

शुभ परिणाम के साथ पुण्यबंध से कौन सा जीव किस देव गति में उत्पन्न होता है—उसका चार्ट बनाकर स्पष्ट किया जा रहा है^{५२}—

किस गति से आकर

कहाँ उत्पन्न हुआ ?

- | | |
|--|-------------------------------|
| १. असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यच | भवनवासी तथा व्यंतर तरह |
| २. कर्मभूमि के संज्ञा पर्याप्त तिर्यच
मिथ्यादृष्टि के सासादन गुणस्थानवाले | बारहवें स्वर्ग पर्यंत |
| ३. पर्याप्त तिर्यच-सम्यग्दृष्टि(स्वयंप्रभाचल से
बाहर के भाग में रहनेवाले) | सौधर्मादि से अच्युत स्वर्ग तक |
| ४. भोगभूमि के मनुष्य तिर्यच मिथ्यादृष्टि के
सासादन गुणस्थानवाले | ज्योतिषीदेव |
| ५. तापसी | ज्योतिषी देव |
| ६. भोगभूमि सम्यग्दृष्टि मनुष्य और तिर्यच | सौधर्म और ऐशान में |

- | | |
|--|---------------------------------|
| ७. कर्मभूमि के मनुष्य-मिथ्यादृष्टि अथवा सासादन | भवनवासी से ग्रैवेयक |
| कौन से जीव मरकर | कौन से देवों में उत्पन्न |
| ८. कर्मभूमि के मनुष्य-जिसको द्रव्य (बाह्य)जिनर्लिंग और भाव मिथ्यात्व के सासादन हो तो | ग्रैवेयक तक |
| ९. भव्य मिथ्यादृष्टि निर्ग्रंथ धारण करी, महान शुभभाव और तप सहित हो तो | ग्रैवेयक में |
| १०. परित्राजक तापसी को उत्कृष्ट उपपाद | ब्रह्म(पंचम) स्वर्ग |
| ११. आजीवक(कांजी के आहारी)का उत्कृष्ट उपपाद | बारहवें स्वर्ग |
| १२. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र की प्रकर्षतावाले श्रावक | सौधर्मादि से अच्युत तक |
| १३. भावर्लिंगी निर्ग्रंथ साधु | सर्वार्थसिद्धि तक |
| १४. अणुव्रतधारी तिर्यंच | सौधर्म से बारहवें स्वर्ग पर्यंत |
| १५. पांच मेरू संबंधी त्रीस भोगभूमि के मनुष्य तिर्यंच मिथ्यादृष्टि | भवनत्रिक में |
| १६. मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि | सौधर्म-ऐशान में |
| १७. छत्रवें भोगभूमि और मानुषोत्तर स्वयंप्रभाचल पर्वत के बिच असंख्यात द्वीप में उत्पन्न तिर्यंच | भवनत्रिक में |

जब मनुष्य, तिर्यंच ही शुभ भावों से पुण्योपार्जन करते हैं तब मरकर देव में उत्पन्न होते हैं ।

देव मरकर कहाँ उत्पन्न होते हैं—

कौन सा देव मरकर

कहाँ उत्पन्न होता है

१. भवनत्रिक देव और सौधर्म-ऐशान से

ऐकेन्द्रिय बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय,
अपकाय, प्रत्येक वनस्पति, मनुष्य

- | | |
|---|---|
| २. सनत्कुमारादिक से | तथा पंचेन्द्रिय तिर्यच में । |
| ३. बारहवें स्वर्ग से | स्थावर नहीं होते । |
| ४. आनत-प्राणतादि से (बारहवें स्वर्ग के बाद) | पंचेन्द्रिय तिर्यच और मनुष्य |
| ५. सौधर्म से नव ग्रैवेयक तक देवों में से | नियम से मनुष्य में ही उपजे, |
| ६. अनुदिश और अनुत्तर से | तिर्यच में नहीं । |
| ७. भवनत्रिक से | त्रेसठ शलाका पुरुष भी होते हैं । |
| ८. देवपर्याय से (समुच्चय) | तीर्थकर, चक्रवर्ती, बलभद्र पर |
| | अर्धचक्री नहीं । |
| | त्रेसठ शलाकापुरुष उत्पन्न नहीं होते हैं । |
| | सर्व सूक्ष्म में, तैजस काया में, |
| | वातकाया में उत्पन्न होते हैं, |
| | विकलत्रय में, असंज्ञी में या लब्धि |
| | अपर्याप्त में नहीं होते हैं, और |
| | भोगभूमि में, देव में तथा नारकी |
| | में भी नहीं होते हैं । |

देव मरकर देव भी नहीं बनता और नरक में भी नहीं जाता क्योंकि देवगति में जीव तब आता है जब वह शुभ भावों से पुण्योपार्जन करता है । उस स्थिति में पुण्यफल का भोग करके समस्त पुण्यराशि को समाप्त कर देता है । अतः मरकर देव नहीं बन सकता । इसी प्रकार अतीत पापोपार्जन न होने से मरकर वह नरक में भी नहीं जा सकता । इसी प्रकार एकेन्द्रिय विकलत्रय (बेइन्द्रिय-तेइन्द्रिय और चौरेन्द्रिय) में भी नहीं जाता । अतः स्पष्ट है कि वह मनुष्य या तीर्यच योनि में ही उत्पन्न होता है ।

३ (ब) देवों के प्रकार

विश्व अनन्तानन्त जीवों का समूह है । पांचो ज्ञान से पूर्ण परमात्माने अपने ज्ञान से जीवों को देखा । वह ज्ञान अपने शिष्य-गणधरों को कहा । जीव अपने पुण्य-पाप रूपी कर्मों की अल्पता-प्रधानता के कारण चार गति में रहते हैं । ये गतियाँ चार हैं-नारक, तिर्यच, मनुष्य और देव । इन सबसे अधिक, पुण्यराशि देवगति में है । सभी देवों के सामान्य लक्षणों और विशिष्ट लक्षणों का परिचय

हमने आगे कर लिया । मनुष्यों में जैसे विभिन्न जाति-प्रकार के लोग हैं, इसी तरह देवों में भी कतिपय प्रकार हैं । जैन परंपरा में देवों को मुख्य चार प्रकार में बांटा गया है । इन चार प्रकारों के देवों के भी कई पेटाभेद हैं । अब हम इन भेदों को देखेंगे ।

(ब) जैन परंपरामें देवों के मुख्य भेद ४ हैं^{५३}—

१. भवनपति देव
२. वाणव्यन्तर देव
३. ज्योतिष्क देव
४. वैमानिक देव

(ब) १) भवनपति देवों के १० प्रकार के होते हैं—

- | | |
|------------------|-----------------|
| १) असुरकुमार | ६) द्वीपकुमार |
| २) नागकुमार | ७) उदधिकुमार |
| ३) सुवर्णकुमार | ८) दिशाकुमार |
| ४) विद्युत्कुमार | ९) पवनकुमार |
| ५) अग्निकुमार | १०) स्तनितकुमार |

(ब) २) वाणव्यन्तर देव ८ प्रकार के होते हैं—

- | | |
|-------------|-----------|
| १) किन्नर | ५) यक्ष |
| २) किंपुरुष | ६) राक्षस |
| ३) महोरग | ७) भूत |
| ४) गंधर्व | ८) पिशाच |

ब ३) ज्योतिष्क—देव पाँच प्रकार के हैं—

- | | |
|-----------|------------|
| १) चन्द्र | ४) नक्षत्र |
| २) सूर्य | ५) तारे |
| ३) ग्रह | |

ब ४) वैमानिक देव दो प्रकार के हैं—

- | | |
|---------------|-------------|
| १. कल्पोपपन्न | २. कल्पातीत |
|---------------|-------------|

१) कल्पोपपन्न के १२ प्रकार हैं—

- | | |
|--------------|-------------|
| १) सौधर्म | ७) महाशुक्र |
| २) ईशान | ८) सहस्रार |
| ३) सनत्कुमार | ९) आनत |
| ४) माहेन्द्र | १०) प्राणत |
| ५) ब्रह्मलोक | ११) आरण |
| ६) लान्तक | १२) अच्युत |

२. कल्पातीत के दो प्रकार हैं—

- १) ग्रैवयेक २) अनुत्तरोपपातिक ।

ग्रैवयेक के ९ भेद हैं—

- | | |
|-----------------|-------------------|
| १) अधस्तनाधस्तन | ६) मध्यमोपरितन |
| २) अधस्तनमध्यम | ७) उपरिम-अधस्तन |
| ३) अधस्तनउपरितन | ८) उपरिम-मध्यम |
| ४) मध्यमअधस्तन | ९) उपरितनोपरितन । |
| ५) मध्यम-मध्यम | |

अनुत्तरोपपातिक ५ प्रकार के हैं—

- १) विजय
- २) वैजयंत
- ३) जयन्त
- ४) अपराजित और
- ५) सर्वार्थसिद्ध ।

उपर्युक्त सब देवों के पर्याप्तक और अपर्याप्तक के रूप में दो-दो भेद हैं ।

(ब) १) भवनपति देव

देवों के प्रमुख चार प्रकारों में पहला प्रकार है-भवनपति । ये देव तीनों लोकों में निवास करते हैं ।

अधोलोक में प्रायः आवासो में स्थित भवनों में रहनेवाले देवों को भवनवासी देव कहते हैं। जिन भवनों में ये देव निवास करते हैं, उनके स्वामी को भवनपति कहते हैं।^{५४}

१. भवनवासी देवों के भेद :-

तत्त्वार्थसूत्र में देवों के दस भेदों का उल्लेख है^{५५}, ये निम्न हैं—

- १) असुरकुमार ६) वातकुमार
- २) नागकुमार ७) स्तनितकुमार
- ३) विद्युत्कुमार ८) उदधिकुमार
- ४) सुवर्णकुमार ९) द्वीपकुमार और
- ५) अग्निकुमार १०) दिक्कुमार ।

२. कुमारनाम की सार्थकता

इन सभी देवों के नाम के साथ 'कुमार' शब्द प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि वे कुमारों के समान चेषा करते हैं। अतएव 'कुमार' कहलाते हैं। सभी देव कुमारों की तरह मनोहर तथा सुकुमार दिखते हैं। इनकी चाल (गति) कुमारों की तरह मृदु मधुर और ललित होती है। शृंगार प्रसाधनार्थ ये नाना प्रकार की विशिष्ट एवं विशिष्टतर उत्तरविक्रिया क्रिया करते हैं। कुमारों की तरह ही इनके रूप, वेशभूषा, भाषा, आभूषण, शस्त्रास्त्र, यान एवं वाहन ठाठदार होते हैं। ये कुमारों के सदृश तीव्र अनुराग-परायण एवं क्रीडा तत्पर होते हैं। इसलिए इनके नाम के पीछे कुमार शब्द प्रयुक्त हुआ है।^{५६}

भवनपति के प्रकारों का स्वरूप निरूपण :-

दस प्रकार के इन देवों का स्वरूप और लक्षणों का निर्देश निम्न प्रकार से उपलब्ध होता है^{५७} :-

१. असुरकुमार :-

रत्नप्रभा पृथ्वी के तीन विभागों में से पंकबहुल भाग में रहनेवाले ये असुरकुमार तीन नरक तक परस्पर नारकियों को लड़ाते हैं—अति कष्ट देते हैं। ये गंभीर, सुंदर, काले, उन्न रत्नमय मुकुट धारी होते हैं। सात हाथ ऊंचे, कृष्ण वर्ण के, रक्त वस्त्रवाले ये देव मुकुट में चूडामणि के चिह्न से पहचाने जाते हैं।

जंबूद्वीप से लेकर चमरचंचा तक जितना अवकाशांतर है, उतना वैक्रिय शक्ति के द्वारा विकुर्वित असुरकुमार-असुरकुमारिका से सतत भरा जा सके उतनी शक्ति असुरेन्द्र की होती है ।

२. नागकुमार :-

रत्नप्रभा पृथ्वी के खरबहुल भाग में शेष सभी भवनपति रहते हैं । पर्वत या वृक्षों पर ये कुमार रहते हैं । मस्तक और मुख से स्वरूपवान, मंद गति से चलनेवाले इन देवों के सिर पर नाग के फणों का चिह्न होता है । सात हाथ की ऊंचाई वाले ये नागकुमार श्वेत वर्ण के होते हैं । वे नील वर्ण के वस्त्रवाले, मृदु ललित गतिवाले होते हैं ।

नागकुमार के अधिपति की शक्ति के लिए कहा है कि-वह अपनी वैक्रिय शक्ति से विकुर्वणा करके अपने फणों से संपूर्ण जंबूद्वीप को आच्छादित कर सकता है ।

३. विद्युतकुमार :-

जो बिजली के समान चमकते हैं, ये विद्युतकुमार होते हैं । ये कुमार स्नेह से परिपूर्ण चमकीले और वज्र के चिह्नवाले होते हैं । सात हाथ ऊँचे ऐसे ये विद्युतकुमार रक्त देह वाले होते हैं । उनके वस्त्र नील वर्ण के होते हैं । स्निग्ध शरीर की कांतिवाले उनका निकाय चिह्न वज्र मुकुट में होता है ।

शक्ति की अपेक्षा से विद्युतकुमार का अधिपति बिजली के एक झबकारे से संपूर्ण जंबूद्वीप को प्रकाशित कर सकता है ।

४. सुवर्णकुमार :-

इन देवों के पक्ष (पंख) सुशोभित होने से ये सुवर्ण कहे जाते हैं । इनका वर्ण सुवर्ण जैसा होने से ये सुवर्णकुमार भी कहलाते हैं । सुंदर गर्दन और वक्षःस्थल, सफेद छायावाले मुकुट में गरुड़ के चिह्नवाले ये देव भी सात हाथ ऊँचे होते हैं ।

शक्ति की अपेक्षा से सुवर्णकुमारेन्द्र अपनी वैक्रिय शक्ति के द्वारा गरुड़ के एक पंख से जंबूद्वीप को ढंक सकता है ।

५. अग्निकुमार :-

सप्रमाण शरीरवाले, देदीप्यमान, स्वच्छ और घड़े के चिह्नवाले, ये देव पाताल लोक से क्रीडा करने के लिए ऊपर आते हैं । ये अग्निकुमार मानोन्मान

प्रमाणोपेत अंगोपांगवाले, विविध आभरणों से सुशोभित, रक्त वर्णवाले, नील वर्ण के वस्त्रवाले, मुकुट में कलश के चिह्न से शोभते हैं ।

अग्निकुमारेन्द्र अग्नि की एक ज्वाला से संपूर्ण जंबूद्वीप को जला सकता हैं ।

६. वायुकुमार :-

ये देव तीर्थकरो के विहार मार्ग को शुद्ध करते हैं । स्थिर, पुष्ट और गोल अवयववाले, उंडे पेटवाले, स्वच्छ और मगर की निशानीवाले होते हैं । सात हाथ ऊंचे ये वायुकुमार देव प्रियंगु वृक्ष के समान अवदात श्याम वर्णवाले, रक्तवर्ण के वस्त्रवाले, मुकुट में मगर के चिह्नवाले होते हैं ।

शक्ति की अपेक्षा से ये वायुकुमारेन्द्र पवन के एक गुंजारव से संपूर्ण जंबूद्वीप को हवा से भर सकते हैं ।

७. स्तनितकुमार :-

शब्द करनेवाले देवों को स्तनितकुमार कहते हैं । स्नेहल, गंभीर, मधुर आवाज वाले, सराव के चिह्नवाले, सात हाथ ऊंचे ये स्तनितकुमार स्निग्ध शरीर की कांतिवाले, स्थिर, महास्वरवाले होते हैं । सुविशुद्ध जात्य सुवर्ण समान वर्णवाले, श्वेत वस्त्र से युक्त, मुकुट में वर्धमान या सराव के चिह्न से सुशोभित होते हैं ।

इनकी शक्ति इतनी होती है कि जो यदि इनका इन्द्र एक स्तनित (एक गर्जना) करे तो सारे जंबूद्वीप को बहरा कर दे ।

८. उदधिकुमार :-

समुद्रो में क्रीडा करनेवाले उदधिकुमार होते हैं । कमर और जंघा जिनकी अत्यंत सुंदर है, ऐसे घोड़े के चिह्न वाले उदधिकुमार श्वेत वर्ण के शरीरवाले, नील वर्ण के वस्त्रवाले होते हैं ।

शक्ति की अपेक्षा से ये देव एक ही पानी की लहर से सारे जंबूद्वीप को भिगो सकते हैं ।

९. द्वीपकुमार :-

द्वीप में क्रीडा करने से ये देव द्वीपकुमार कहलाते हैं । सात हाथ ऊंचे ये द्वीप कुमार स्कन्ध, वक्षःस्थल, बाहु और अग्रहस्त अधिक शोभायुक्त, तपे हुए

श्रेष्ठ कनक के समान वर्णवाले अर्थात् रक्त वर्णवाले, नील वस्त्रवाले, मुकुट में सिंह के चिह्न से शोभायमान होते हैं ।

द्वीपकुमारेन्द्र अपनी वैक्रिय शक्ति द्वारा विर्कुवणा करके अपने हाथ द्वारा संपूर्ण जंबूद्वीप को आच्छादित कर सकते हैं ।

१०. दिक्कुमार :-

दिशाओं में क्रीडा करनेवाले दिक्कुमार होते हैं । जंघा और पैर के अग्रभाग जिनके अधिक शोभावाले हैं ऐसे जातिवंत तपे हुए सुवर्ण के समान वर्णवाले, श्वेत वस्त्र से युक्त, मुकुट में हाथी के चिह्न से सुशोभित दिक्कुमार होते हैं ।

पैर के एक प्रहार से संपूर्ण जंबूद्वीप को कंपायमान करने की शक्ति का सामर्थ्य दिक्कुमारेन्द्र का होता है ।

इस प्रकार यौवन भी अभी जिनका नहीं खिला है, ऐसे कुमारों के समान ये दस प्रकार के भवनपति देवों का स्वरूप, उनका स्वभाव, उनकी रुचि, उनकी पहचान के चिह्न तथा उनकी शक्ति का स्वरूप निर्देश यहाँ किया गया । अब उनके अधिपति इन्द्र का स्वरूप निरूपण करेंगे ।

४. भवनपति देवों के इन्द्र का स्वरूप निरूपण :-

मनुष्यलोक में राज्य की व्यवस्था देखने के लिए राजा होता है । उसी तरह देवों में सभी देवलोक की व्यवस्था करने के लिए इन्द्र(राजा) होता है । भवनपति देवों के सभी प्रकारों में दो-दो इन्द्र होते हैं । जीवाजीवाभिगम सूत्र में विशेष वर्णन असुरकुमारों में चमरेन्द्र और बलीन्द्र का किया गया है ।^{१८} इन्द्रों के शरीर का वर्ण-महानील के समान, नील की गोली, गवल (भैंसे का सींग), अलसी के फूल के समान, विकसित कमल के समान निर्मल होता है । वे श्वेत-रक्त एवं ताम्र वर्ण के नेत्रों वाले होते हैं । उनकी नाक गरूड के समान ऊँची होती है । उनके होठ पुष्ट या तेजस्वी मूंगा तथा बिंबफल के समान होते हैं । उनके दांत श्वेत विमल चन्द्रखण्ड, जमे हुए दही, शंख, गाय के दूध, कुन्द, जलकण और मृणालिका के समान धवल होते हैं । अग्नि में तपाये और धोये हुए सोने के समान लाल तलवों जैसे उनके तालु तथा जिह्वा होते हैं । उनके बाल अंजन तथा मेघ के समान, काले रूचक रत्न के समान रमणीय होते हैं । वे बाएँ कान में कुण्डल के धारक होते हैं । इस प्रकार उनके शरीर का वर्णन

किया गया है ।

६. इन्द्र का आधिपत्य-

भवनवासी देवों के प्रकारों में प्रत्येक के दो इन्द्र होते हैं । वे दोनों अलग-अलग, दिशा का रक्षण करते हैं । जैसे असुरकुमार देव के अन्तर्गत दक्षिण दिशा में चमरेन्द्र और उत्तर दिशा में बलीन्द्र हैं । दोनों कितने देवों पर आधिपत्य करते हैं, उसका वर्णन निम्नप्रकार से किया गया है १५९

चमरेन्द्र का आधिपत्य—

दक्षिण दिशा के इन्द्र चमरेन्द्र हैं । इस दिशा में असुरकुमार देवों के ३४ लाख भवनावास हैं । वहाँ ६४ हजार सामानिक देवों पर, ३३ त्रायास्त्रिसक देव, चार लोकपाल सपरिवार ५ अग्रमहिषियों की तीन परिषदा, सात अनीक, सात अनिकाधिपति, चार ६४ हजार (अर्थात् दो लाख ५६ हजार) आत्मरक्षक देव और अन्य बहुत से दक्षिण दिशा के देव-देवियों पर चमरेन्द्र आधिपत्य करता है ।

बलीन्द्र का आधिपत्य-

इसी प्रकार उत्तर दिशा के इन्द्र बलीन्द्र हैं । उत्तर दिशा में असुरकुमारों के ३० लाख भवनावास हैं । वहाँ ६०,००० सामानिक देवों पर चार लोकपालों का सपरिवार पाँच अग्रमहिषियों की तीन परिषदों का, सात सेनाओं का, सात सेनाधिपतियों के दो लाख चालीस हजार आत्मरक्षक देवों का, अन्य बहुत से उत्तर दिशा के असुरकुमार देव-देवियों पर आधिपत्य करते हुए रहते हैं ।

प्रत्येक देव की पहचान के लिये उनका मुकुट एवं उनका, चिह्न अलग अलग होता है । यहाँ उनके मुकुट के चिह्नों के नामों का निर्देश किया जा रहा है —

सामान्य देवों का निरूपण :-

सामान्यतः भवनवासी के सभी देव अति सुखी होते हैं । वे हार से सुशोभित वृक्ष-स्थल वाले होते हैं, कड़ों और बाजुबंदों से स्तम्भित भुजा वाले होते हैं कपालों को छूने वाले कुण्डल, अंगद तथा कर्णपीठ के धारक होते हैं उनके हाथों में विचित्र नानारूप के आभूषण होते हैं । वे विचित्र पुष्पमाला और मस्तक पर मुकुट धारण किये हुए होते हैं । दसों जातियों के देवों के मुकुट या आभूषणों के रूप में चिह्न भिन्न होते हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं^{६०}

देवों के नाम	मुकुट चिह्न	देवों के नाम	मुकुट चिह्न
१. असुरकुमार	चूडामणि	६. द्वीपकुमार	सिंह
२. नागुकुमार	नाग का फण	७. उदधिकुमार	मकर
३. सुवर्णकुमार	गरूड	८. दिक्कुमार	हस्ति
४. विद्युतकुमार	वज्र	९. पवनकुमार	श्रेष्ठ अश्व
५. अग्निकुमार	पूर्णकलश	१०. स्तनितकुमार	वर्द्ध मानक

इस प्रकार के चिह्न देवों के मुकुट के होते हैं। वे कल्याणकारी, शिलिन्ध्र-पुष्प के समान किंचित् रक्त तथा संक्लेश उत्पन्न न करने वाले सूक्ष्म उत्तम वस्त्र पहने हुए होते हैं। वे कल्याणकारी श्रेष्ठ माला और अनुलेपन के धारक और दैदीप्यमान शरीर वाले होते हैं। वे लंबी वनमाला के धारक होते हैं।

दिव्य वर्ण से दिव्य गंध से स्पर्श, संहनन, आकृति, ऋद्धि, द्युति, प्रभा, छाया(शोभा) अर्चि(ज्योति), तेज, एवं दिव्य लेश्या से दसों दिशाओं को प्रकाशित करते हुए सुशोभित करते हुए वे रहते हैं।

इन्हीं में बहुत से असुरकुमार देव काले, लोहिताक्ष रत्न तथा बिम्बफल के समान होठ वाले होते हैं। उनके दांत श्वेत पुष्पों के समान होते हैं। वे काले केश वाले होते हैं। उनके बाएँ कान में एक कुण्डल होता है। उनका शरीर गीले चन्दन से लिप्त होता है। वे तलभंगक (भुजा का भूषण), त्रुटित (बाहुरक्षक) एवं अन्योन्य श्रेष्ठ आभूषणों से जटित निर्मल मणियों तथा रत्नों से मण्डित भुजाओं वाले, दस मुद्रिकाओं से सुशोभित अंगुलियों वाले होते हैं। वे अत्यंत स्वरूप वाले होते हैं। वे महर्द्धिक, महाद्युतिमान, महायशस्वी, महाप्रभावयुक्त, महासुरभियुक्त, हार से सुशोभित होते हैं। वे उपभोग्य भोगों का उपभोग करते हुए रहते हैं। यही वर्णन इन्द्रों और सामान्य देवों का भी होता है।

७. चमरेन्द्र की परिषद का वर्णन

राजाओं की राज्य सभा में जिस तरह व्यवस्था होती है, उसी तरह देवों में इन्द्र की परिषदों की व्यवस्था होती है।

असुरेन्द्र चमर की तीन परिषदाएँ हैं—^{६१}

- १) समिता
- २) चंडा
- ३) जाता

१) समिता :-

आभ्यन्तर परिषदा को समिता कहते हैं। आभ्यन्तर परिषदा के देव बुलाये जाने पर आते हैं। असुरेन्द्र असुरराज चमर किसी भी प्रकार के ऊँचे-नीचे, शोभन-अशोभन कौटुम्बिक कार्य आने पर आभ्यन्तर परिषद के साथ विचारणा करता है, उसकी सम्मति लेता है। चौबीस हजार देव इस परिषदा में होते हैं। साढ़े तीन सौ देवियाँ होती हैं। इन देवों की स्थिति ढाई पल्योपम की और देवियों की स्थिति डेढ़ पल्योपम कही गई है।

२) चंडा :-

मध्यम परिषदा को चंडा कहते हैं। देव इस परिषदा के बुलाने पर भी आते हैं, और बिना बुलाये भी आते हैं। मध्यम परिषदा को अपने निश्चित किये कार्य की सूचना देकर इंद्र उन्हें स्पष्टता के साथ कारणादि समझाता है। इस परिषदा में अट्ठावीस हजार देव और तीन सौ देवियाँ होती हैं। इन देवों की दो पल्योपम की और की देवियाँ की एक पल्योपम स्थिति कही गई है।

३) जाता :-

बाह्य परिषदा को जाता कहते हैं। इंद्र बाह्य परिषदा को आज्ञा देता हुआ विचरता है। इसमें बत्तीस हजार देव और ढाई सौ देवियाँ होती हैं। इन देवों की डेढ़ पल्योपम की और आधे पल्योपम की स्थिति कही है।

परिषद की संख्या और स्थिति बताने वाली दो संग्रहणी गाथाएँ हैं।^{१९२}

उत्तर दिशा के असुरकुमार

बलीन्द्र की परिषदा चमरेन्द्र की परिषदा की तरह होती है। अर्थात् यह भी तीन प्रकार की है-

१) समिता :-

इसमें बीस हजार देव और साढ़े चार सौ देवियाँ होती हैं। देवों की स्थिति साढ़े तीन पल्योपम की और ढाई पल्योपम की स्थिति देवियों की कही गई है। शेष वर्णन चमरेन्द्र की समिता की तरह है।

२) चंडा :-

इस परिषदा में चौबीस हजार देव और चार सौ देवियाँ होती हैं । देवों की स्थिति तीन पल्ल्योपम की और दो पल्ल्योपम की देवियों की स्थिति है । शेष वर्णन चमरेन्द्र की चंडा की तरह है ।

३) जाता :-

इसमें अट्ठावीस हजार देव और साढ़े तीन सौ देवियाँ होती हैं । ढाई पल्ल्योपम देवों की डेढ़ पल्ल्योपम की स्थिति देवियों की कही गई है ।^{६३}

इसी प्रकार शेष देव और देवियों की स्थिति, संख्या वर्णन विस्तार से जीवाभिगम सूत्र में किया गया है ।

८. अन्य भवनपति देवेन्द्रों का संक्षिप्त परिचय

शेष सभी भवनवासी देवों के इन्द्रों का वर्णन निम्न तालिका के अनुसार है-^{६४}

देवों का नाम	सामानिक देव		आत्मरक्षक देव	
	दक्षिण	उत्तर	दक्षिण	उत्तर
१. असुरकुमार	चमर	बलि	६४ हजार	६० हजार २. ला. ५६ हजार २ ला. ४० हजार
२. नागकुमार	धरण	भुतानंद	६० हजार	६० हजार २. ला. ५६ हजार २ ला. ४० हजार
३. सुवर्णकुमार	वेणुदेव	वेणुदालि	६० हजार	६० हजार " "
४. विद्युत्कुमार	हरिकांत	हरिस्सह	६० हजार	६० हजार " "
५. अग्निकुमार	अग्निशिख	अग्निमाणव	६० हजार	६० हजार २४ हजार दोनों मिलकर
६. द्वीपकुमार	पूर्ण	विशिष्ट	६० हजार	६० हजार " "
७. उदधिकुमार	जलकांत	जलप्रभ	६० हजार	६० हजार " "
८. दिक्कुमार	अमितगति	अमितवाहन	६० हजार	६० हजार " "
९. वायुकुमार	वेलंब	प्रभजंन	६० हजार	६० हजार " "
१०. स्तनितकुमार	घोष	महाघोष	६० हजार	६० हजार " "

इस प्रकार सभी भवनवासी इन्द्र वहाँ पर देवों का आधिपत्य करते हुए रहते हैं ।

९. निवास-स्थान :-

जीव के रहने के स्थान को निवास-स्थान कहते हैं। दसों प्रकार के भवनपति देवों के निवास-स्थान जम्बूद्वीपवर्ती सुमेरूपर्वत के नीचे, उसके दक्षिण और उत्तर भाग में तिरछे अनेक कोट-कोटि लक्ष योजन तक होते हैं।^{१५}

देवों के निवास-स्थान तीन प्रकार के होते हैं^{१६}—

- १) भवन
- २) भवनपुर और
- ३) आवास

१) भवन :-

रत्नप्रभा पृथ्वी में स्थित निवास स्थानों को 'भवन' कहते हैं। वलभि और कोट से रहित, देवों और मनुष्यों के आवास को भवन कहते हैं।^{१७}

रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग और पंकबहुल भाग में उत्कृष्ट रत्नों से शोभायमान भवनवासी देवों के भवन होते हैं।^{१८} ये रत्नप्रभा के नीचे नब्बे हजार योजन के भाग में ही होते हैं। ये बाहर से गोल, भीतर से समचतुष्कोण और तल में पुष्करकर्णिका जैसे होते हैं। प्रायः असुरकुमार 'आवासों' में और कभी-कभी 'भवनों' में बसते हैं तथा प्रायः नागकुमार आदि भवनों में रहते हैं।^{१९}

२) भवनपुर :-

द्वीप समुद्रों के ऊपर स्थित निवास स्थानों को 'भवनपुर' कहते हैं। भवनपुर नगर के समान होते हैं।

३) आवास :-

तालाब, पर्वत और वृक्षादि के ऊपर स्थित निवास-स्थानों को 'आवास' कहते हैं।

ये आवास रत्नप्रभा के पृथ्वीपिंड के ऊपर-नीचे के एक-एक हजार योजन को छोड़कर बीच के एक लाख अठहत्तर हजार योजन के भाग में सर्वत्र हैं। ये आवास बड़े मण्डप जैसे होते हैं।^{२०}

जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र में देवकुरु य उत्तरकुरु में स्थित दो यमक पर्वतों के उत्तर भाग में सीता नदी के दोनों ओर स्थित निषध, देवकुरु, सुर, सुलस,

विद्युत् इन पाँचों नामों के युगलों रूप द्रहों में उन-उन नामवाले नागकुमार देवों के निवासस्थान ये आवास हैं ।^{११}

१०. भवनों का स्वरूप :-

भवनवासी देवों के भवनों की सुरक्षा हेतु चारों ओर गहरी और विस्तीर्ण खाईयाँ और परिखाएँ खुदी हुई हैं, जिनका अन्तर स्पष्ट प्रतीत होता है । वे यथास्थान परकोटों, अटारियों, कपाटों, तोरणों और प्रतिद्वारों से सुशोभित हैं । वे भवन विविध यन्त्रों, शतघ्नियों (महाशिलाओं या महायष्टियों, मूसलों, मुसंडियो आदि शस्त्रों) से वेण्टित हैं । वे शत्रुओं द्वारा अयुध्य (युद्ध न करने योग्य), सदा जयशील, सदा सुरक्षित एवं अडतालीस कोठों से रचित, अडतालीस वनमालाओं में सुसज्जित, क्षेममय, शिवमय, किंकर देवों के दण्डों से उपरक्षित हैं । लीपने और पोतने से वे प्रशस्त हैं । उन पर गोशीर्षचन्दन और सरस रक्तचन्दन से पाँचों अंगुलियों के छापे लगे हुए हैं । यथास्थान चंदन के कलश रखे हुए हैं । उनके तोरण, प्रतिद्वार, देश के भाग, चंदन के घडों से सुशोभित होते हैं । वे भवन ऊपर से नीचे तक लटकती हुई लम्बी, विपुल एवं गोलाकार मालाओं से युक्त हैं तथा पंचरंगी ताजे सरस सुगंधित पुष्पों से युक्त होते हैं । वे काले अगर, श्रेष्ठ चीड, लोबान तथा धूप की महकती हुई सुगंध से रमणीय, उत्तम सुगंधित होने से गंध-वर्त्ती के समान लगते हैं । वे अप्सररंगण के संघातों से व्याप्त, दिव्य वाद्यों के शब्दों से भली-भांति शब्दायमान, सर्वरत्नमय, स्वच्छ, स्निग्ध, कोमल, घिसे हुए, पौछे हुए, रज से रहित, निर्मल, निष्पंक, आवरणरहित कान्ति वाले, प्रभायुक्त, श्रीसम्पन्न, किरणों से युक्त, उद्योत (शीतल प्रकाश) युक्त, प्रसन्न करने वाले, दर्शनीय, अभिरूप (अतिरमणीय) और प्रतिरूप (सुरूप) बने हुए हैं ।^{१२}

धनिक मानवों के घर एक से एक बढ़िया बने होते हैं, उसी तरह देव भी अपने विमानावास सुंदर बनाते हैं । ऐसा इस उद्धरण से ज्ञात होता है ।

भवनों की संख्या :-

भवनवासी देवों के खर पंक भाग में स्थित भवनों की संख्या निम्न प्रकार से है^{१३}— (ला=लाख)

भवनों की संख्या

देवों का नाम	उत्तरेन्द्र	दक्षिणेन्द्र	कुल भवन
१. असुरकुमार	३४ ला.	३० ला.	६४ ला.

२. नागकुमार	४४ ला.	१००	४० ला.	८४ ला.
३. सुवर्णकुमार	३८ ला.		३४ ला.	७२ ला.
४. विद्युत्कुमार	४० ला.		३६ ला.	७६ ला.
५. अग्निकुमार	४० ला.		३६ ला.	७६ ला.
६. द्वीप कुमार	४० ला.		३६ ला.	७६ ला.
७. उदधिकुमार	४० ला.		३६ ला.	७६ ला.
८. दिक्कुमार	४० ला.		३६ ला.	७६ ला.
९. पवनकुमार	५० ला.		४६ ला.	९६ ला.
१०. स्तनितकुमार	४० ला.		३६ ला.	७६ ला.

७ करोड ७२ लाख

सभी देवों के प्रत्येक के अलग अलग भवनों की, तथा कुल भवनों की संख्या का वर्णन मिलता है ।

११. वर्ण-आहार-श्वास आदि :-

प्रज्ञापना सूत्र आदि में भवनवासी देवों के सामान्य वर्णन निम्न तालिका अनुसार उपलब्ध होता है-^{७४}

देव का नाम	वर्ण	मुकुट चिह्न	चैत्यवृक्ष	प्रविचार (भोग)	आहारका अन्तराल	श्वासोच्छ्वास का अंतराल
१. असुरकुमार	कृष्ण	चुडामणि	अश्वत्य	प्रविचार काय	१००० वर्ष	१५ दिन
२. नागकुमार	काल श्याम	सर्प	सप्तवर्ण		१२ $\frac{१}{२}$ दिन	१ $\frac{१}{२}$ मुहूर्त
३. विद्युत्कुमार	बिजलीवत्	वज्र	प्रियंगु		१२ दिन	१२ मुहूर्त
४. सुवर्णकुमार	श्याम	गरूड	शाल्मली		१२ $\frac{१}{२}$ दिन	१ $\frac{१}{२}$ मुहूर्त
५. अग्निकुमार	अग्निवात	कलश	पलाश		७ $\frac{१}{२}$ दिन	७ $\frac{१}{२}$ मुहूर्त
६. वातकुमार	नीलकमल	तुरग	राजद्रुम		७ $\frac{१}{२}$ दिन	७ $\frac{१}{२}$ मुहूर्त
७. स्तनितकुमार	काल-श्याम	स्वस्तिक	कंदब		१२ दिन	१२ मुहूर्त
८. उदधिकुमार	"	मगर	वेतस		१२ दिन	१२ मुहूर्त
९. द्वीपकुमार	श्याम	हाथी	जामुन		१२ $\frac{१}{२}$ दिन	१ $\frac{१}{२}$ मुहूर्त
१०. दिक्कुमार	श्यामल	सिंह	शिरीष		७ $\frac{१}{२}$ दिन	७ $\frac{१}{२}$ मुहूर्त

इनके सामानिक त्रायस्त्रिंश	स्व इन्द्रवत्	स्व इन्द्रवत्
त्रायस्त्रिंश परिषद व प्रतीन्द्र		
१००० वर्ष की आयुवाले देव	२ दिन	७ क्षासो०
१ पल्य की आयुवाले देव	५ दिन	५ मुहूर्त

इस प्रकार देवों का वर्ण, मुकुट चिह्न चैत्यवृक्ष, प्रविचार, आहार का अंतराल क्षासोच्छास का अंतराल समय का वर्णन मिलता है ।

(ब) २) व्यन्तर देव

देवों का दूसरा प्रकार है व्यन्तर । व्यन्तर अर्थात् विशेष अंतर ।

अन्तर का अर्थ है-अवकाश, आश्रय या जगह । जिन देवों का अन्तर (आश्रय) भवन, नगरवास आदि रूप विशिष्ट हो वे व्यन्तर कहलाते हैं ।^{१५}

‘व्यन्तर’ शब्द का दूसरा अर्थ है-

मनुष्यो से जिनका अन्तर नहीं (विगत) हो क्योंकि कोई व्यन्तर चक्रवर्ती, वासुदेव आदि मनुष्यों की सेवक की तरह सेवा करते हैं, अथवा जिनके पर्वतान्तर, कन्दरान्तर या वनान्तर आदि आश्रयरूप विविध अन्तर हों, वे व्यन्तर कहलाते हैं । अथवा व्यन्तर का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है-वनों का अन्तर वनान्तर है, जो वनान्तरों में रहते हैं, वे व्यन्तर देव होते हैं ।^{१६}

व्यन्तर-‘वि’अर्थात् विविध प्रकार के ‘अन्तर’ अर्थात् आश्रय जिनके हों वे व्यन्तर हैं । भवन, नगर और आवासों में-विविध जगह पर रहने के कारण ये देव व्यन्तर कहलाते हैं ।^{१७}

तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वातिने इसका विशेष विवेचन किया है कि-सभी व्यन्तरदेव ऊर्ध्व मध्य और अधः तीनों लोको के भवनों तथा आवासों में निवास करते हैं । वे स्वेच्छा से या दूसरों की प्रेरणा से भिन्न-भिन्न स्थानों पर जाते रहते हैं । उनमें से कुछ तो मनुष्यों की भी सेवा करते हैं । विविध पर्वतों और गुफाओं के अन्तरों में तथा वनों के अन्तरों में रहने के कारण उन्हें ‘व्यन्तर’ कहा जाता है ।^{१८}

पूज्यपाद विरचित सर्वार्थसिद्धि में उल्लेख है कि जिनका नाना प्रकार के देशों में निवास होता है उनको व्यन्तर देव कहते हैं ।^{१९}

भवनपति और ज्योतिष्क इन दो निकाय के मध्य के आंतरों में रहनेवाले होने से भी उनको 'व्यंतर' कहते हैं ।

बालक की तरह उनका स्वभाव अव्यवस्थित होने से, एक स्थान पर स्थिर या स्थित न रहने से तथा स्वच्छन्दता व स्वतन्त्रता से इधर-उधर गमनागमन करते रहने से भी उनको व्यन्तर कहा जाता है ।

इस प्रकार विविध अर्थ में व्यन्तर शब्द का अर्थ उपलब्ध होता है । इसके पश्चात् अब व्यन्तर देवों के भेद-प्रभेदों का निरूपण करेंगे ।

१. भेद-प्रभेद

प्रज्ञापनासूत्र में वाणव्यन्तर देवों के भेदों का उल्लेख किया गया है कि ये आठ प्रकार के होते हैं । ये भेद नामकर्म के विशेष उदय के कारण हैं ।^{६०}

ये भेद हैं—१) किन्नर, २) किम्पुरुष, ३) महोरग, ४) गन्धर्व, ५) यक्ष, ६) राक्षस, ७) भूत और ८) पिशाच

१) किन्नर के दस प्रभेद हैं-

१. किन्नर, २. किम्पुरुष, ३. किम्पुरुषोत्तम, ४. किन्नरोत्तम, ५. हृदयंगम, ६. रूपशाली, ७. अनिन्दित, ८. मनोरम, ९. रतिप्रिय और १०. रतिश्रेष्ठ ।

२) किम्पुरुष के दस प्रभेद हैं-

१. पुरुष, २. सत्पुरुष, ३. महापुरुष, ४. पुरुषवृषभ, ५. पुरुषोत्तम, ६. अतिपुरुष, ७. महादेव, ८. मरूत, ९. मेरूप्रभ और १०. यशस्वन्त ।

३) महोरग के दस प्रभेद हैं-

१. भुजग, २. भोगशाली, ३. महाकाय, ४. अतिकाय, ५. स्कन्धशाली, ६. मनोरम, ७. महावेग, ८. महायक्ष, ९. मेरूकान्त और १०. भास्वन्त ।

४) गन्धर्व के बारह प्रभेद हैं-

१. हाहा २. हूहू ३. तुम्बरव, ४. नारद, ५. ऋषिवादिक ६. भूतवादिक, ७. कादम्ब ८. महा-कदम्ब ९. रैवत, १०. विश्वावसु, ११. गीतरति और १२. गीतयश ।

५) यक्ष के तेरह प्रभेद हैं-

१. पूर्णभद्र, २. माणिभद्र, ३. श्वेतभद्र, ४. हरितभद्र, ५. सुमनोभद्र, ६. व्यतिपातिक भद्र, ७. सुभद्र, ८. सर्वतोभद्र, ९. मनुष्य यक्ष, १०. वनाधिपति, ११.

वनाहार १२. रूपयक्ष और १३. यक्षोत्तम ।

६) राक्षस देव के सात प्रभेद हैं-

१. भीम, २. महाभीम, ३. विघ्न, ४. विनायक, ५. जल राक्षस, ६. राक्षस-राक्षस और ७. ब्रह्मराक्षस ।

७) भूत के नौ प्रभेद हैं-

१. सुरूप, २. प्रतिरूप, ३. अतिरूप, ४. भूतोत्तम, ५. स्कन्द, ६. महास्कन्द, ७. महावेग, ८. प्रतिच्छन्न और ९. आकाशग ।

८) पिशाच के सोलह प्रभेद हैं-

१. कूष्माण्ड, २. पटक, ३. सुजोष, ४. आह्निक, ५. काल, ६. महाकाल, ७. चोक्ष, ८. अचोक्ष, ९. तालपिशाच, १०. मुखरपिशाच, ११. अधस्तारक, १२. देह, १३. विदेह, १४. महादेव, १५. तृष्णीक और १६. वनपिशाच ।

उपर्युक्त प्रकार से व्यन्तर के भेद-प्रभेद का वर्णन किया गया है ।^{६१}

विशेष :- व्यन्तर देवों के आठ भेद हैं, वे मूलभेद हैं । इसके अतिरिक्त आठ भेदों का स्थानांग-प्रज्ञापनादि में उल्लेख है :-^{६२}

१) अणपत्री, २) पणपत्री, ३) ऋषिवादी ४) भूतवादी, ५) कंदीत, ६) महाकंदीत, ७) कोहड और ८) पतंग

ये व्यन्तर देव रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपर के १०० योजन में से ऊपर नीचे के १०-१० योजन कम करके मध्य के ८० योजन में रहते हैं ।

लोकप्रकाश^{६३} में व्यन्तर निकाय के तीन भेद अन्य रीति से दर्शाये हैं । तिर्यकजृम्भक देवों को भी इसी निकाय में सम्मिलित किया है । ये तीन भेद हैं-

१. व्यन्तर, २. वाणव्यन्तर ३. तिर्यकजृम्भक देव

तिर्यकजृम्भक के भी दश भेद हैं-

१. अन्नजृम्भक, २. पानजृम्भक, ३. वस्त्रजृम्भक, ४. वस्तीजृम्भक, ५. पुष्पजृम्भक, ६. फलजृम्भक, ७. पुष्पफल जृम्भक, ८. शयनजृम्भक, ९. विद्याजृम्भक, १०) अव्यक्तजृम्भक ।

ये देव अन्न आदि वस्तुओं की कमी हो तो पूरी करते हैं । और कम रसवाली हो तो रसयुक्त कर देते हैं । ये चित्र-विचित्र-वैताढ्य-मेरू आदि पर्वतों

के ऊपर निवास करते हैं। ये पल्योपम के आयुष्यवाले होते हैं। ये नित्य प्रमुदित रहते हैं। क्रीड़ा करते फिरते हैं, सुर समागम में लीन रहते हैं, इच्छा मुताबिक विचरण करते हैं।

इस प्रकार ये तिर्यक्जुंभक देवों का वर्णन किया गया है। अब इन व्यंतर देवों के मुख्य भेदों का स्वरूप देखें।

मुख्य आठ व्यंतरो का परिचय :-^{८५}

१. किन्नर :-

व्यंतर निकाय के ये किन्नर देव प्रियंगु के वृक्ष जैसे श्याम वर्ण के, शांत, सौम्य दर्शनवाले, सुंदर और स्वच्छ मुखाकृति वाले, मुकुट और मौलियाँ पहनते हैं। अशोकवृक्ष का चिह्न इनकी ध्वजा में होता है।

२. किंपुरुष :-

ये किंपुरुष देव उरू और बाहु से अधिक शोभावाले, मुख से अधिक भास्वर, विविध आभरणों से शोभायमान, विचित्र पुष्पमाला और विलेपन वाले होते हैं। इनके मुकुट चंपक वृक्ष की ध्वजा चिह्न से युक्त होते हैं।

३. महोरग :-

ये देव महावेग वाले, सौम्य, सौम्यदर्शनवाले, मोटे शरीरवाले, विस्तृत और पुष्ट स्कन्ध तथा ग्रीवावाले, विविध प्रकार के विलेपन युक्त, और विविध आभरणों से भूषित, श्याम वर्ण वाले, स्वच्छ और उज्ज्वल होते हैं। इन देवों का चिह्न नाग वृक्ष की ध्वजा का होता है।

४. गान्धर्व :-

ये व्यन्तर देव शुद्ध-स्वच्छ, लाल वर्णवाले, गंभीर और घन शरीर को धारण करनेवाले होते हैं। इनका स्वरूप देखने में प्रिय होता है। सुंदर रूप तथा सुंदर मुखाकृतिवाले और मनोज्ञ स्वर के धारक होते हैं। मस्तक पर मुकुट और गले में हार से विभूषित होते हैं। ये तुंबरू वृक्ष की ध्वजा का चिह्न धारण करते हैं।

५. यक्ष :-

ये देव निर्मल श्यामवर्ण वाले और गंभीर होते हैं। मनोज्ञ, देखने में विचित्र, मान-उन्मान तथा प्रमाणोपेत होते हैं। हाथ-पैर के तलियें नख, जिह,

होठ यह सब लाल रंग के होते हैं। इसका मुकुट प्रकाशमान होता है। ये विविध प्रकार के रत्नों और आभूषणों से भूषित होते हैं। इनका वटवृक्ष की ध्वजा का चिह्न होता है।

६. राक्षस :-

ये शुद्ध और निर्मल वर्णवाले तो होते हैं पर भीमकाय और देखने में भयंकर होते हैं। विकराल लाल और लंबे होंठवाले, तपे हुए सुवर्णमय आभूषणोंवाले, विविध प्रकार के विलेपनों से युक्त होते हैं। इनका चिह्न खट्वांग की ध्वजा का है।

७. भूत :-

इनका वर्ण श्याम होता है, पर सुंदर रूपवाले होते हैं। सौम्य स्वभाववाले, अतिस्थूल और अनेक प्रकार के विलेपनों से युक्त होते हैं। सुलस ध्वजा का चिह्न होता है।

८. पिशाच :-

स्वभाव से चंचल, देखने में रूपवंत, सौम्य दर्शनवाले, हाथ में और मस्तक पर मणिरत्नमय भूषणवाले, कदंब वृक्ष की ध्वजा के चिह्नवाले, ऐसे पिशाच देव होते हैं।

इस प्रकार से व्यंतर देवों के स्वभाव, वर्ण, चिह्न स्वरूप उपलब्ध होता है। अब इन देवों के स्वरूप का सामान्य निरूपण प्रस्तुत है।

२. सामान्य स्वरूप निरूपण

ये देव अव्यवस्थित चित्त के होने से अत्यन्त चपल, क्रीडातत्पर और परिहास-प्रिय होते हैं। इनकी हास्य, गीत और नृत्य में गंभीर अनुरक्ति रहती है। ये वनमाला, कलगी, मुकुट, कुण्डल तथा इच्छानुसार विकुर्वित आभूषणों से भली-भाँति मण्डित रहते हैं। सभी ऋतुओं में होने वाले सुगन्धित पुष्पों से रचित लम्बी, शोभनीय, सुन्दर एवं खिलती हुई विचित्र वनमाला से उनका वक्षःस्थल सुशोभित रहता है। ये अपनी कामनानुसार काम-भोगों का सेवन करते हैं। ये इच्छानुसार रूप एवं देह के धारक होते हैं। नाना प्रकार के वर्णों वाले श्रेष्ठ, विचित्र, चमकीले वस्त्रों के धारक होते हैं। ये विविध देशों की वेशभूषा धारण करते हैं। ये प्रमोद, कन्दर्प (काम-क्रीडा)कलह केलि ओर कोलाहल प्रिय होते

हैं। इन में हास्य और बोल-चाल बहुत होता है। इनके हाथों में खड्ग, मुद्गर, शक्ति और भाले आदि शस्त्र भी रहते हैं। ये शस्त्र अनेक मणियों और रत्नों के विविध चिह्न वाले होते हैं।^{५५} भवनवासी देवों की तरह ये भी महर्द्धिक, उपभोगों को भोगते हैं।

विशेष विवक्षा में पिशाच आदि व्यन्तर देव भी इसी प्रकार है। भौमेयनगरों में ये पिशाचदेव अपने अपने भवन, सामानिक आदि देव-देवियों का आधिपत्य करते हुए विचरते हैं। इन नगरवासों में दो पिशाचेन्द्र, पिशाचराज काल और महाकाल निवास करते हैं। वे महर्द्धिक महाद्युतिमान होते हैं। भुवनपतिदेवों की भांति ये दिव्य भोगों को भोगते हुए विचरते हैं। दक्षिणवर्ती क्षेत्र का इन्द्र पिशाचेन्द्र पिशाचराज काल है और उत्तरवर्ती क्षेत्र का इन्द्र पिशाचेन्द्र पिशाचराज महाकाल है।

इन्द्र का आधिपत्य :-^{५६}

वह पिशाचेन्द्र पिशाचराज काल तिरछे असंख्यात भूमिगृह जैसे लाखों नगरवासों का, चार, हजार सामानिक देवों का, चार अग्रमहिषियों का, तीन परिषदों का, सात सेनाओं का, सात सेनाधिपतियों का, सोलह हजार आत्मरक्षक देवों का और बहुत से दक्षिणदिशा के व्यन्तर देवों और देवियों का आधिपत्य करता है।^{५७}

४. पिशाचेन्द्र पिशाचराज काल की परिषदाँ

पिशाचेन्द्र काल जब अपनी सभा में विराजमान होता है, तब उसकी परिषदा तीन प्रकार की होती हैं।

उसकी ये तीन परिषदाँ हैं-ईशा, त्रुटिता और दृढरथा।

१) **आभ्यन्तर परिषद** को ईशा कहते हैं। इसमें आठ हजार देव और एक सौ-देवियाँ होती हैं। आधे पल्योपम स्थिति देवों की और कुछ अधिक पाव पल्योपम की स्थिति इनकी देवियों की होती है।

२) **मध्यम परिषद :-** इसे त्रुटिता कहते हैं। इसमें दस हजार देव और एक सौ देवियाँ होती हैं। देशोन आधे पल्योपम स्थिति देवों की और पाव पल्योपम देवियों की स्थिति होती है।

३) बाह्य परिषद :- इस को दृढस्था कहते हैं । इसमें बारह हजार देव और एक सौ देवियाँ होती हैं । कुछ अधिक पाव पल्योपम देवों की और देशोन पाव पल्योपम स्थिति देवियों की होती हैं ।

उत्तरवर्ती पिशाचकुमार देव दक्षिणात्य देव की भांति ही हैं । उनका इन्द्र महाकाल है । काल के समान ही महाकाल की वक्तव्यता भी है ।

इसी प्रकार की वक्तव्यता समस्त व्यन्तरेन्द्रों अर्थात् भूतों से लेकर गन्धर्वदेवों के इन्द्र गीतयश तक की है । किन्तु इसमें अपने अपने इन्द्रों के नाम, परिषदा के नामों में भिन्नता है ।

५. व्यन्तर निकाय के इन्द्र

आठ प्रकार के व्यन्तर निकाय के देवों के प्रत्येक के दो-दो इन्द्र होते हैं । इनके नाम निम्न प्रकार से हैं—

- १) पिशाच के दो इन्द्र—काल और महाकाल ।
- २) भूत के दो इन्द्र—सुरूप और प्रतिरूप ।
- ३) यक्ष के दो इन्द्र—पूर्णभद्र और माणिभद्र ।
- ४) राक्षस के दो इन्द्र—भीम और महाभीम ।
- ५) किन्नर के दो इन्द्र—किन्नर और किंपुरुष ।
- ६) किंपुरुष के दो इन्द्र—सत्पुरुष और महापुरुष ।
- ७) महोरग के दो इन्द्र—अतिकाय और महाकाय ।
- ८) गन्धव के दो इन्द्र—गीतरति और गीतयश ।^{६९}

उक्त दो-दो इन्द्रों में से प्रथम दक्षिणदिशावर्ती देवों का इन्द्र है और दूसरा उत्तरदिशावर्ती वानव्यन्तर देवों का इन्द्र है । इनकी परिषदाओं की संख्या भिन्न होती है । इसका जीवाजीवाभिगम-सूत्र में विस्तार से उल्लेख किया गया है ।^{६९}

६. इन्द्रों का परिवार

व्यन्तरेन्द्रों में से प्रत्येक के प्रतीक सामानिक, तनुरक्ष, तीनों पारिषद, सात अनीक, प्रकीर्णक और आभियोग्य इस प्रकार ८ देवों का परिवार होता है । प्रत्येक इन्द्रके चार-चार देवियाँ और दो-दो महत्तरिकाएँ होती हैं । निम्न कोष्ठक में प्रत्येक

इन्द्रके परिवार का दिग्दर्शन किया जा रहा है—

नं.	देव का नाम	परिवार की गणना	नं.	देव का नाम	परिवार की गणना
१.	प्रतीन्द्र	१	८.	प्रत्येक अनीक की प्रथम कक्षा	२८०००
२.	सामानिक	४०००	९.	द्वितीयआदि कक्षा	दूनी दूनी
३.	आत्मरक्ष	१६०००	१०.	हाथी (कुल)	३५५६०००
४.	अभ्यंतर	८०००	११.	सातों अनीक	२४८९२०००
	पारि०				
५.	मध्य पारि०	१००००	१२.	प्रकीर्णक अभियोग्य व	असंख्य "
६.	बाह्य पारि०	१२०००		किल्बिष	(त्रि. सा.)
७.	अनीक	७			

इस प्रकार व्यंतरेन्द्रो का वैभव व परिवार होता है । प्रत्येक इंद्र अपने अपने परिवार के साथ ऐश्वर्य, विपुल भोग-उपभोगादि करता हुआ रहता है ।

७. इन्द्रों की देवियों का निर्देश

व्यंतर के १६ इन्द्रों की देवियों के दो प्रकार हैं—गणिका और वल्लभिका । इनके नाम निम्न प्रकार से हैं—

गणिका			वल्लभिका		
नं.	इन्द्रका नाम	नं०	नं०	नं०	नं०
१.	किंपुरुष	१	२	१	२
		मधुरा	मधुरालापा	अवतंसा	केतुमती
२.	किन्नर	सुस्वरा	मृदुभाषिणी	रतिसेना	रतिप्रिया
३.	सत्पुरुष	पुरुषाकांता	सौम्या	रोहिणी	नवमी
४.	महापुरुष	पुरुषदर्शिनी	भोगा	ह्री	पुष्पवती
५.	महाकाय	भोगवती	भुंजगा	भोगा	भोगवती
६.	अतिकाय	भुजगप्रिया	विमला	आनन्दिता	पुष्पगंधी
७.	गीतरति	सुघोषा	अनिन्दिता	सरस्वती	स्वरसेना
८.	गीतरस	सुस्वरा	सुभद्रा	नन्दिनी	प्रियदर्शना

९.	मणिभद्र	भद्रा	मालिनी	कुन्दा	बहुपुत्रा
१०.	पूर्णभद्र	पद्ममालिनी	सर्वश्री	तारा	उत्तमा
११.	भीम	सर्वसेना	रूद्रा	पद्मा	वसुमित्रा
१२.	महाभीम	रूद्रवती	भूता	रत्नाढ्या	कंचनप्रभा
१३.	स्वरूप	भूतकान्ता	महावाह	रूपवती	बहुरूपा
१४.	प्रतिरूप	भूतरक्ता	अम्बा	सुमुखी	सुसीमा
१५.	काल	कला	रसा	कमला	कमलप्रभा
१६.	महाकाल	सुरसा	सुदर्शनिका	उत्पला	सुदर्शना

जहाँ देव रहते हैं, वहाँ देवियाँ रहती हैं, इसलिए यहाँ देवियों की गणना का वर्णन किया है ।

८. व्यंतर देवों का निवास-क्षेत्र

व्यंतर देवों का निवास स्थान जम्बूद्वीप के असंख्यात द्वीप-समुद्र को छोड़कर प्रथम नरक के खर भाग में, राक्षसों को छोड़कर अन्य सात प्रकार के व्यंतर देव रहते हैं और पंकबहुल भाग में मात्र राक्षसों के आवास हैं ।^{११}

रत्नप्रभा पृथ्वी के एक हजार योजन मोटे रत्नमय काण्ड के ऊपर से एक सौ योजन अवगाहन करके तथा नीचे भी एक सौ योजन छोड़ कर बीच में आठ सौ योजन में, व्यंतर देवों के तिरछे असंख्यात भौमेय (भूमिगृह के समान) लाखों नगरवास हैं, और आवास हैं ।^{१२} इन भवनों की बनावट भवनपति के भवनों की तरह होती है । इस प्रकार सभी व्यंतर देव तीनों लोकों के भवनों तथा आवासों में रहते हैं ।^{१३}

९. नगरवासों का स्वरूप

जिस नगर में व्यंतर देवों के आवास-भवन है, वे भौमेयनगर बाहर से गोल और अंदर से चौरस तथा नीचे कमल की कर्णिका के आकार में संस्थित हैं । उन नगरवासों के चारों ओर गहरी और विस्तीर्ण खाईयाँ एवं परिखाएँ खुदी हुई हैं, जिनका अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है । ये नगर प्राकारों, अट्टालकों, कपाटों, तोरणों, प्रतिद्वारों से युक्त होते हैं । ये नगरवास विविध यन्त्रों, शतघ्नियों, मूसलों एवं मुसुण्डी नामक शस्त्रों से परिवेष्टित होते हैं । ये देव शत्रुओं द्वारा अयोध्य-

युद्ध न कर सकने योग्य, सदाजयशील, सदागुप्त, अड़तालीस कोष्ठको-कमरों से रचित, अड़तालीस वनमालाओं से सुसज्जित, क्षेममय, शिव मंगलमय, और किंकर देवों के दण्डों से उपरक्षित हैं। लिपे-पुते होने से ये नगरवास प्रशस्त होते हैं। इसके उपर गोशीर्षचन्दन और सरस रक्तचन्दन से लिप्त पाँचो अंगुलियों वाले हाथ के छापे लगे होते हैं। उनके तोरण और प्रतिद्वार-देश के भाग चंदन घडो से भलीभांति निर्मित होते हैं इत्यादि सामान्य वर्णन भवनपति देवों के नगरवासों के सदृश ही होते हैं। इन नगरवासों में भवनों की बनावट भी भवनपति के समान ही होती है।

व्यंतरनिकाय के ये देव सभी प्रशस्त गीत, संगीत, नृत्य एवं नाट्य-कलाओं के प्रेमी होते हैं। बालसुलभ क्रीड़ा और हास-परिहास, कोलाहल करने में इन्हे आनन्दानुभूति होती है। पुष्पों से बनाये हुए मुकुट, कुंडल आदि इनके प्रिय आभूषण हैं। सर्व ऋतुओं के सुन्दर सुगंधित पुष्पों द्वारा निर्मित वनमालाओं से इनके वक्षस्थल भी शोभित रहते हैं। ये अनेक प्रकार के चित्र-विचित्र रंग-बिरंगे पंचरंगे परिधान-वस्त्र पहनते हैं। ये सभी प्रायः सुमेरू पर्वत और हिमवंत आदि पर्वतों के रमणीय प्रदेशों में निवास करते हैं।^{१४}

११. देवों की रुचि

प्रत्येक जीव की रुचि भिन्न भिन्न होती है, इसी प्रकार इन देवों की रुचि में भी भिन्नता होती है। अपने अपने स्वभाव के अनुसार रुचि में अन्तर आना स्वाभाविक है।

आठ प्रकार के व्यन्तर देवों में से किन्नर, किंपुरुष, महोरग और गंधर्व का इस प्रकार का स्वरूप होता है।

१२. व्यन्तरदेव का मनुष्यों के शरीरों में प्रवेश

व्यन्तरदेव मनुष्यों के शरीर में प्रवेश करके उन्हें विकृत कर सकते हैं। कब ? जब यदि यह विधि न की गयी हो अर्थात् क्षपक के मृत शरीर के अंग बाँधे या छेदे नहीं गये हो तो मृत शरीर में क्रीडा करने के स्वभाव वाले कोई देवता (भूत अथवा पिशाच) उसमें प्रवेश कर सकता है। उस प्रेतको लेकर वह उठ सकता है, भोग सकता है, क्रीडादि कर सकता है।^{१५}

यथा बहुत से पितर, पुत्रों के शरीर में प्रविष्ट होकर जो गया आदि तीर्थस्थानों में श्राद्ध करने के लिए कहते हैं, वे भी कोई ठगनेवाले विभंगज्ञान के धारक व्यन्तर आदि नीच जाति के देव ही हुआ करते हैं ।^{१६}

व्यन्तर निकाय के ये देव पर-काया-प्रवेश भी कर सकते हैं । कई बार सुनने में आता है कि अमुक के शरीर में देव-देवी की हाजरी उपस्थिति हुई—जैन परंपरा इसमें व्यन्तर देव को ही मान्य करती है । मात्र व्यन्तर देव ही परकाय प्रवेश कर सकते हैं । इस संदर्भ से ये हमको विशेष रूप से ज्ञात हो जाता है ।

इस प्रकार व्यन्तर निकाय के देवों का स्वरूप आदि की विवेचना यहाँ प्रस्तुत की गई है ।

(ब) ३) ज्योतिष्क देव

आकाश में चमकने वाले, दिन रात का भेद करने वाले जो विमान हैं, जैन परंपरा मानती है कि ये भी देवों का एक प्रकार है ।

चार निकाय के देवों में तीसरा भेद है—ज्योतिष्क ।

ये पाँच प्रकार के हैं—चंद्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारे ।

ज्योतिष्क देव किसे कहा जाय ? अन्य देवों से ये किस प्रकार भिन्न है ? तो इनके स्वरूप का कथन है कि—

जो देव विमानो में द्योतित (प्रकाशमान) हों, और उन में निवास करते हैं, उनको ज्योतिष्क देव कहते हैं ।^{१७}

जो मस्तक के मुकुटों से आश्रित प्रभामण्डल सदृश सूर्यमण्डल आदि के द्वारा प्रकाश करते हैं, वे सूर्यादि ज्योतिष्कदेव कहलाते हैं । सूर्यदेव के मुकुट के अग्रभाग में सूर्य के आकार का, चन्द्रदेव के मुकुट के अग्रभाग में चन्द्र के आकार का, ग्रहदेव के मुकुट के अग्रभाग में ग्रह के आकार का, नक्षत्रदेव के मुकुट के अग्रभाग में नक्षत्र के आकार का और तारकदेव के मुकुट के अग्रभाग में तारे के आकार का चिह्न होता है । इससे वह प्रकाश करते हैं ।^{१८}

व्युत्पत्तिपरक अर्थ—ज्योतिष् शब्द में स्वार्थ में 'क' प्रत्यय होने पर ज्योतिष्क शब्द निष्पन्न होता है । यद्यपि ज्योतिष् शब्द नपुंसक लिंग है फिर भी 'क' प्रत्यय स्वार्थ में होने पर पुल्लिंग ज्योतिष्क शब्द बन जाता है । जैसे कुटी से कूटीर, शुण्डासे शुण्डार आदि । अर्थात् कहीं कहीं लिंग-व्यतिक्रम हो जाता

है ।^{१९}

सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे ये पांचो प्रकार के देव ज्योतिर्मय हैं । इसलिए इनकी ज्योतिष्क यह सामान्य संज्ञा सार्थक है । तथा सूर्य आदि संज्ञाएँ विशेष नामकर्म के उदय से प्राप्त होती हैं ।^{२०}

इस प्रकार ज्योतिष्क शब्द का अर्थ विविध रूप में प्राप्त होता है ।

१. देवों के भेद :—

प्रज्ञापना सूत्र में ज्योतिष्क देवों के भेदों का उल्लेख किया गया है कि ये पाँच प्रकार के हैं । ये भेद नामकर्म के उदय के कारण निम्न प्रकार हैं^{२१}—

१. चंद्र
२. सूर्य
३. ग्रह
४. नक्षत्र
५. तारे

२. देवों का स्वरूप :-^{२२}

ज्योतिष्क विमानवासों में बहुत से ज्योतिष्क देव निवास करते हैं— बृहस्पति, चन्द्र, सूर्य, शुक्र, शनैश्वर, राहु, धूमकेतु, बुध एवं अंगारक (मंगल) । ये तपे हुए स्वर्ण के समान वर्ण वाले अर्थात् किञ्चित् रक्त वर्ण के होते हैं । ग्रह ज्योतिष्कक्षेत्र में गति (संचार) करते हैं, गति में रत रहते हैं । अट्टाईस प्रकार के नक्षत्रदेव गण नाना आकारों वाले होते हैं । तारे पाँच वर्णों के होते हैं । स्थित लेश्या वाले होते हैं । ये संचार करते हैं । ये अविश्रान्त (बिना रूके) मंडल (वृत्त गोलाकार) में गति करने वाले होते हैं । प्रत्येक देवों के मुकुट में अपने अपने नाम का चिह्न व्यक्त होता है । ये महर्द्धिक होते हैं । वाणव्यंतर के स्वरूप के समान ही इन देवों का स्वरूप होता है ।

३. ज्योतिष्केन्द्र का वैभव :-

इन्द्र अर्थात् सभी देवों पर अपना वर्चस्व रखनेवाला । अपने लाखों विमानावासों में अपने हजारों सामानिक देवों पर, अपनी अग्रमहिषियों पर, अपनी सेना परिषदाओं और सेनाधिपति देवों, हजारों आत्मरक्षक देवों और बहुत से ज्योतिष्क देवों और देवियों का आधिपत्य करते हुए ये इन्द्र रहते हैं । इनके दो

इन्द्र हैं-चन्द्र और सूर्य ।

४. इन्द्रों की तीन परिषदाएँ होती हैं :-^{१०३}

तुंबा, त्रुटिता और प्रेत्या । तुंबा को आभ्यन्तर परिषद् कहते हैं, तो त्रुटिता को मध्यम परिषद् कहते हैं और प्रेत्या को बाह्य परिषद् कहते हैं । इन परिषदों में देवों और देवियों की संख्या तथा उनकी स्थिति पूर्ववर्णित वाणव्यंतर काल इन्द्र के समान ही होती है ।

सूर्य और चंद्र का अधिकार समान रूप से कहा गया है । प्रत्येक इंद्र का विशेष रूप से स्वरूप कथन निम्न है-

५. चन्द्र इंद्र-अग्रमहिषियाँ :-

चंद्र इंद्र की अग्रमहिषियों का उल्लेख जीवाजीवाभिगम सूत्र में किया गया है ।^{१०४} चन्द्रदेव के अंतःपुर में अग्रमहिषिया होती है ।

ज्योतिष्केन्द्र चन्द्र की चार अग्रमहिषियाँ १) चन्द्रप्रभा २) ज्योत्सनाभा ३) अर्चिमाला और ४) प्रभंकरा ।

प्रत्येक अग्रमहिषी चार हजार देवियों की विकुर्वणा कर सकती है । इनका कुल मिलाकर १६,००० देवियों का परिवार है ।

६. भोगोपभोग :-

चंद्र इंद्र की अग्रमहिषियाँ एवं परिवार होने पर भी वह अंतःपुर में भोगोपभोग नहीं कर पाता क्योंकि चन्द्र के चन्द्रावतंसक विमान की सुधर्मा सभा में माणवक चैत्यस्तंभ में वज्रमय गोल मंजुषाओं में बहुत सी जिनदेव की अस्थियाँ रखी हुई होती हैं । इसलिए वहाँ पर ज्योति राज चन्द्र और अन्य विविध ज्योतिषी देव, और देवियाँ पूजा, अर्चना, करते हैं । इस कारण चंद्रराजा चन्द्रावतंसक विमान में चंद्रसिंहासन पर भोगोपभोग नहीं कर सकता ।

जब ज्योतिष्केन्द्र चन्द्र विमान में सुधर्मा सभा में सिंहासन पर अपने ४००० सामानिक देव, १६००० आत्मरक्षक देव तथा अन्य बहुत से ज्योतिषी देव और देवियों के साथ घिरे हुए होते हैं, तब जोर-जोर से बजाये गये नृत्य में, गीत, वार्जित्तो, तन्त्री, तल, ताल, त्रुटिक, घन, मृदंग आदि के बजाये जाने से उत्पन्न शब्दों से चन्द्र उन दिव्य भोगोपभोगों को भोग सकने में समर्थ होता है । पर अपने अंतःपुर के साथ मैथुनबुद्धि से भोग भोगने में वह समर्थ नहीं होता

है । तात्पर्य यह है कि अरिहंत परमात्मा की अस्थियाँ होने से वहाँ पर विषय भोग नहीं कर सकता ।

७. सूर्य की अग्रमहिषिया^{१०५} :-

ज्योतिष्केन्द्र ज्योतिषराज सूर्य की चार अग्रमहिषिया हैं । १) सूर्यप्रभा, २) आतप्रभा, ३) अर्चिमाली और ४) प्रभंकरा ।

यहाँ पर सूर्यावतंसक विमान में सूर्यसिंहासन पर वह आरूढ होता है ।

ग्रहादि की अग्रमहिषिया^{१०६} -

उसकी चार अग्रमहिषियाँ होती हैं । १) विजया, २) वैजयंती, ३) जयंति और ४) अपराजिता । उनका परिवार चंद्र इंद्र के सदृश ही होता है ।

ग्रह, नक्षत्र और ताराओं का शेष सब वर्णन इसी प्रकार चन्द्र के समान ही होता है ।

ये सभी विकुर्वणा तो कर सकते हैं किन्तु भोगोपभोगों को भाव से अर्थात् मन से ही भोगने में समर्थ हो पाते हैं, वचन और काया से नहीं ।

८. ज्योतिष्क इंद्र देव-देवियों की स्थिति (आयुष्य) —

चंद्र—चन्द्र विमान में चंद्र, सामानिक देव तथा आत्मरक्षक देवों की जघन्य स्थिति पल्योपम के चतुर्थ भाग प्रमाण और उत्कृष्ट स्थिति एक हजार वर्ष अधिक एक पल्योपम की है ।

यहाँ की देवियों की स्थिति जघन्य पल्योपम के चतुर्थ भाग प्रमाण और उत्कृष्ट पाँच सौ वर्ष अधिक आधे पल्योपम की है ।

सूर्य—सूर्यविमान में देवों की जघन्य स्थिति १/४ पल्योपम और उत्कृष्ट स्थिति एक हजार वर्ष अधिक एक पल्योपम की है । यहाँ देवियों की स्थिति जघन्य १/४ पल्योपम और उत्कृष्ट पाँच सौ वर्ष अधिक आधा पल्योपम है ।

ग्रह—देवों की जघन्य स्थिति १/४ पल्योपम और उत्कृष्ट एक पल्योपम की है । यहाँ देवियों की जघन्य स्थिति पल्योपम का चतुर्थभाग और उत्कृष्ट आधा पल्योपम हैं ।

नक्षत्र—देवों की जघन्य स्थिति १/४ पल्योपम और उत्कृष्ट एक पल्योपम की है । देवियों की जघन्य १/४ पल्योपम और उत्कृष्ट कुछ अधिक १/४ पल्योपम की है ।

तारा—देवों की जघन्य स्थिति १/८ पल्योपम की और उत्कृष्ट १/२ पल्योपम है। देवियों की स्थिति जघन्य १/८ पल्योपम और उत्कृष्ट कुछ अधिक पल्योपम का १/८ भाग प्रमाण है।

इस प्रकार ज्योतिष्क देव, देवियों की जघन्य और उत्कृष्ट रूप से आयुष्य का उल्लेख किया गया है।

९. उपपातनिवास स्थान :-

भवनपति देवों का निवासस्थान भूगर्भ में है, तो ज्योतिष्क देवों का स्थान अंतरिक्ष में है। जिस का हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। प्रज्ञापना सूत्र^{१००} में उल्लेख है कि एवं रमणीय भूभाग से ७९० योजन की ऊँचाई पर, एक सौ दस योजन विस्तृत एवं तिरछे असंख्यात योजन में ज्योतिष्क क्षेत्र है। यहाँ ज्योतिष्क देवों के असंख्यात लाख ज्योतिष्कविमानावास हैं। इस भूमिभाग से ९०० योजन ऊँचाई पर ज्योतिष्क लोकस्थिति है, जो कि स्वयंभूरमणसमुद्र पर्यंत विस्तृत है।

१०. विमानों का स्वरूप :-

ज्योतिष्क देवों के विमान आधे कपीठ के आकार के होते हैं। ये पूर्णरूप से स्फटिकमय होते हैं। ये सामने से चारों ओर ऊपर उठे हुए होते हैं। सभी दिशाओं में फैले हुए तथा प्रभा से श्वेत होते हैं। विविध मणियों, स्वर्ण और रत्नों की छटा से वे चित्र विचित्र होते हैं। हवा से उड़ती हुई विजय-वैजयंती पताका, छत्र पर छत्र (अतिछत्र) से युक्त होते हैं। ये विमान बहुत ऊँचे गगनचुंबी शिखरों वाले होते हैं। इनकी जालियों के बीच में लगे हुए रत्न ऐसे लगते हैं मानो फिन्नेरे से बाहर निकाले गए हों। वे मणियों और रत्नों की स्तूपिकाओं से युक्त होते हैं। इस में शतपत्र और पुण्डरीक कमल खिले हुए होते हैं। तिलकों तथा रत्नमय अर्धचंद्रो से वे चित्र-विचित्र होते हैं। ये नानामणिमय मालाओं से सुशोभित होते हैं। ये अंदर और बाहर से चिकने होते हैं। विमान के प्रस्तर (पाथड़े) सोने की रूचिर बालू वाले होते हैं। वे सुखद स्पर्शवाले, श्री से सम्पन्न, सुरूप प्रसन्नता-उत्पादक, दर्शनीय, अभिरूप एवं प्रतिरूप, अति सुंदर होते हैं।^{१००}

इस प्रकार से ज्योतिष्क देवों के विमान होते हैं।

यहाँ इनके विमानों की विशालता को भी निरूपित किया जा रहा है। हमको छोटा सा दिखने वाला चंद्र कितना विशाल है ?

विष्कंभं, परिधि और बाहल्य :-

जीवाजीवाभिगम^{१०९} सूत्र में उल्लेख है कि-विष्कंभ अर्थात् लंबाई-चौड़ाई, परिधि अर्थात् गोलाई, और बाहल्य का अर्थ मोटाई है ।

चंद्र विमान-एक योजन के ६१ भागों में से ५६ वें भाग $\frac{५६}{६१}$ की लंबाई-चौड़ाई है, इसमें तीन गुणी से कुछ अधिक उसकी गोलाई होती है, और एक योजन के ६१ भागों में से २८ भाग ($\frac{२८}{६१}$) प्रमाण विमान की मोटाई है । इतना विशाल चंद्र विमान है । इसी प्रकार शेष ज्योतिष्क देवों के विमानों का प्रमाण है ।

सूर्य विमान-एक योजन के ६१ भागों में से ४८ वा भाग प्रमाण लम्बा-चौड़ा है । इससे तीन गुणी से कुछ अधिक उसकी परिधि है । एक योजन के ६१ भागों में से २४ भाग ($\frac{२४}{६१}$) प्रमाण की मोटाई सूर्यविमान की है ।

ग्रह विमान-आधा योजन लम्बा-चौड़ा, इससे तीन गुणी से कुछ अधिक परिधि वाला और एक कोस की मोटाई वाला होता है ।

नक्षत्र विमान-एक कोस लम्बा-चौड़ा है । इससे तीन गुणी से कुछ अधिक परिधि वाला और आधे कोस की मोटाई युक्त है ।

तारों के विमान-आधे कोस की लम्बाई-चौड़ाई के होते हैं । इससे तीन गुणी से कुछ अधिक परिधि वाले हैं, और पाँच सौ धनुष की मोटाई वाले हैं ।

११. चन्द्र विमान का वहन-

वहन अर्थात् उठाना, चलाना गति करना । वैज्ञानिक युग में सभी वाहन मशीन, पेट्रोल, बिजली से चलाये जाते हैं । छोटे-छोटे गाँवों में बैलगाड़ी को बैल, रथ को घोड़े या हाथी चलाते हैं ।

उसी तरह चंद्र विमान को चारों ओर से विविध रूप धारण किये हुए देव 'वहन' करते हैं । सोल हजार देव इस विमान को उठाते हैं ।

पूर्वदिशा में चार हजार देव सिंह का रूप धारण करते हैं ।

दक्षिण दिशा में चार हजार देव हाथी का रूप धारण करते हैं ।

पश्चिम दिशा में चार हजार देव बैल का रूप धारण करते हैं ।

उत्तर दिशा में चार हजार देव अश्व का रूप धारण करते हैं ।

एक साथ सोलह हजार देव विविध प्रकार के रूप धारण करके विमान को पालकी की तरह चलाते हैं। इसका विशेष विशेषणों के साथ वर्णन जीवाजीवाभिगम सूत्र में किया गया है।^{११०}

इसी प्रकार शेष सभी ज्योतिष्क देवों के विमानों का वहन भी देव गण करते हैं। सूर्य विमान को १६००० देव वहन करते हैं।

ग्रह विमान के ८००० देव होते हैं। एक-एक दिशा में दो हजार देव होते हैं।

नक्षत्र विमान के ४००० देव होते हैं। चारों दिशा में एक हजार देव होते हैं।

तारा विमान के २००० देव होते हैं। चारों दिशा में ५०० देव वहन करते हैं।

जिस समय ज्योतिष्केन्द्र विमान में आरूढ़ होते हैं, तब ये सब देव एक साथ विमान का वहन करते हैं। इस प्रकार पाँचो ही ज्योतिष्क इंद्र देवों के विमान, देवों द्वारा ही गतिमान किये जाते हैं।

१२. ज्योतिष्क देवों की गति, ऋद्धि

गति :-

चन्द्र से सूर्य की तेजगति होती है। सूर्य से ग्रह शीघ्रगति वाले हैं। ग्रह से नक्षत्र की शीघ्रगति है। नक्षत्रों से तारे शीघ्रगति करते हैं। सबसे मन्दगति चन्द्रों की है और सबसे तीव्रगति तारों की है।

ऋद्धि :-

ऋद्धि अर्थात् वैभव।

तारों से नक्षत्र महर्द्धिक हैं, नक्षत्र से ग्रह महर्द्धिक हैं— ग्रहों से सूर्य महर्द्धिक हैं, सूर्यों से चन्द्रमा महर्द्धिक हैं। इसप्रकार अल्पऋद्धि वाले तारे हैं और सबसे महर्द्धिक चन्द्र हैं।^{१११}

१३. ज्योतिष्क देवों की लोक में संचार विधि

सभी ज्योतिष्क देव भ्रमण करते हैं। एक धूरी के चारों ओर प्रदक्षिणा रूप से ये गति करते हैं। यह धूरी है—मेरु पर्वत। यहाँ पर प्रत्येक ज्योतिष्क

देव की संचार विधि का उल्लेख दूरी को लक्ष्य करके किया गया है कि मेरु पर्वत से कौन सा देव, कितनी दूरी पर गति कर रहा है ?

ज्योतिष्क देवों की संचरण विधि का उल्लेख जीवाजीवाभिगम सूत्र में निम्न प्रकार से किया गया है—

जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत के पूर्व चरमान्त से ज्योतिष्कदेव ग्यारह सौ इक्कीस (११२१) योजन दूरी पर प्रदक्षिणा करते हैं । इसी तरह दक्षिण चरमान्त, पश्चिम चरमान्त और उत्तर चरमान्त से ग्यारह सौ इक्कीस योजन दूरी पर प्रदक्षिणा करते हैं ।

लोकान्त से ग्यारह सौ ग्यारह (११११) योजन पर एक ज्योतिष्कचक्र है ।

इस रत्नाप्रभापृथ्वी के बहुसम रमणीय भूमिभाग से ७९० योजन दूरी पर सबसे नीचला तारा गति करता है । आठ सौ (८००) योजन दूरी पर सूर्यविमान संचरण करता है । आठ सौ अस्सी (८८०) योजन पर चंद्रविमान संचार करता है । नौ सौ (९००) योजन दूरी पर सबसे ऊपरवर्ती तारा गति करता है ।

सबसे निचले तारे से दस योजन दूरी पर सूर्यविमान गति करता है, नब्बे योजन दूरी पर चंद्रविमान संचरता है । एक सौ दस योजन दूरी पर सबसे ऊपर का तारा गति करता है ।

सूर्यविमान से अस्सी योजन की दूरी पर चंद्रविमान है और एक सौ योजन ऊपर सर्वोपरि तारा भ्रमण करता है ।

चंद्रविमान से बीस योजन दूरी पर सबसे ऊपर का तारा गति करता है । इस प्रकार सब मिलाकर एक सौ दस योजन के बाहल्य (मोटई) में तिर्यक्दिशा में असंख्यात योजन पर्यन्त ज्योतिष्कचक्र कहा गया है ।

जम्बूद्वीप में अभिजित नक्षत्र सबसे भीतर रहकर मण्डलगति से परिभ्रमण करता है । मूल नक्षत्र-सब नक्षत्रों से बाहर रहकर मण्डलगति से परिभ्रमण करता है । स्वाति नक्षत्र सब नक्षत्रों से ऊपर रहकर भ्रमण करता है और भरणी नक्षत्र सबसे नीचे मण्डलगति से विचरण करता है ।^{११२} इस प्रकार सभी ज्योतिष्कदेव जंबूद्वीप में भ्रमण करते हैं ।

१४. स्थिर ज्योतिष्क^{११३} :-

मनुष्यलोक से बाहर के सूर्य आदि ज्योतिष्क विमान स्थिर हैं, क्योंकि उनके विमान स्वभावतः एक स्थान पर स्थिर रहते हैं, यत्र-तत्र भ्रमण नहीं करते ।

अतः उनकी लेश्या और प्रकाश भी एक रूप में स्थिर हैं। वहाँ राहु आदि की छाया न पड़ने से ज्योतिष्कों का स्वाभाविक पीतवर्ण ज्यों का त्यों बना रहता है और उदय-अस्त न होने से उनका लक्ष योजन का प्रकाश भी एक-सा स्थिर रहता है। मनुष्य लोक से बाहर ही ये स्थिर ज्योतिष्क देव हैं।

१५. चरज्योतिष्क^{११५} :-

मनुष्यलोक के ज्योतिष्क देव सदा मेरु के चारों ओर भ्रमण करते रहते हैं। मनुष्यलोक में एक सौ बत्तीस सूर्य और चंद्र है। जम्बूद्वीप में दो-दो, लवणसमुद्र में ४-४, धातकीखण्ड में १२-१२, कालोदधि में ४२-४२ और पुष्करार्ध में ७२-७२ हैं। एक चंद्र का परिवार २८ नक्षत्र, ८८ ग्रह और ६६९७५ कोटकोटि तारों का है। यद्यपि लोकमर्यादा के स्वभावानुसार ज्योतिष्कविमान सदा अपने-आप घुमते रहते हैं तथापि समृद्धि-विशेष प्रकट करने के लिए और आभियोग्य (सेवक) नामकर्म के उदय से कुछ क्रीड़ाशील देव उन विमानों को उठाते हैं। सामने के भाग में सिंहाकृति, दाहिने गजाकृति, पिछे वृषभाकृति और बायें अश्वकृतिवाले ये देव विमान को उठाकर चलते रहते हैं।

इस प्रकार चर ज्योतिष्क देवों की संचार विधि, गति के अनुसार ही समय अर्थात् काल का निर्धारण होता है। यहाँ अब इससे काल का निर्धारण किस प्रकार होता है उसका उल्लेख किया जा रहा है।

१६. कालविभाग^{११६} :-

जैन परंपरा यह मान्य करती है कि इन ज्योतिष्क देवों के उदय, अस्त के परिणाम स्वरूप ही काल का विभाजन होता है। चूंकि चर ज्योतिष्क ही भ्रमण करते हैं, और यह भ्रमण मनुष्य लोक में ही होने से काल का विभाजन भी मनुष्यलोक तक ही सीमित है। इसका उल्लेख है कि मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास आदि, अतीत, वर्तमान आदि एवं संख्येय-असंख्येय आदि के रूप में अनेक प्रकार का कालव्यवहार मनुष्यलोक में ही होता है, उसके बाहर नहीं होता। मनुष्यलोक के बाहर भी यदि कोई कालव्यवहार करनेवाला हो और व्यवहार करे तो मनुष्यलोक प्रसिद्ध व्यवहार के अनुसार ही होगा, क्योंकि व्यावहारिक कालविभाग का मुख्य आधार नियत क्रिया मात्र है। ऐसी क्रिया सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिष्कों की गति ही है। यह गति भी ज्योतिष्कों की सर्वत्र नहीं, केवल

मनुष्यलोक में भी वर्तमान ज्योतिष्कों में ही मिलती है। इसीलिए माना गया है कि काल का विभाग ज्योतिष्कों की विशिष्ट गति पर ही निर्भर है। दिन, रात, पक्ष आदि स्थूल कालविभाग सूर्य आदि ज्योतिष्कों की नियत गति पर अवलम्बित होने के कारण उससे ज्ञात हो सकते हैं। किन्तु समय, आवलिका आदि सूक्ष्म कालविभाग उससे ज्ञात नहीं हो सकता। स्थान-विशेष में सूर्य के प्रथम दर्शन से लेकर स्थान-विशेष में सूर्य का जो अदर्शन होता है उस उदय और अस्त के बीच सूर्य की गतिक्रिया ही दिन का व्यवहार होता है। इसी प्रकार सूर्य के अस्त से उदय तक की गतिक्रिया से रात्रि का व्यवहार होता है।

दिन और रात्रि का तीसवाँ भाग मुहूर्त कहलाता है। पन्द्रह दिनरात का पक्ष होता है। दो पक्ष का मास, दो मास की ऋतु, तीन ऋतु का अयन, दो अयन का वर्ष, पाँच वर्ष का युग इत्यादि अनेक प्रकार का लौकिक कालविभाग सूर्य की गतिक्रिया से किया जाता है। जो क्रिया चालू है वह वर्तमानकाल, जो होनेवाली है वह अनागतकाल और जो हो चुकी है वह अतीतकाल है। जो काल गणना में आ सकता है वह संख्येय है। जो गणना में न आकर केवल उपमान से जाना जाता है वह असंख्येय है। जैसे पल्योपम, सागरोपम आदि और जिसका अंत नहीं है वह अनन्त है।

१७. विमानों का विस्तृत वर्णन :-

ज्योतिष देवों के आवासों को विमान कहा जाता है। यहाँ किस देव के कितने विमान हैं उसका निर्देश तालिका के माध्यम से दिया जा रहा है—

नाम	प्रमाण	आकार	व्यास	गहराई	रंग	किरणों	वाहक
१. चन्द्र	३७-३८	अर्धगोल	५६/६९ यो.	२८/६१ यो.	मणिमय	१२०००	१६०००
२. सूर्य	६६-६८	अर्धगोल	४८/६९ यो.	२४/६१ यो.	मणिमय	१२०००	१६०००
३. बुध	८४-८५	अर्धगोल	१/२ को.	१/४ को.	स्वर्ण	मंद	८०००
४. शुक्र	९०-९१	अर्धगोल	१ को.	१/२ को.	रजत	२५००	८०००
५. बृहस्पति	९४-९५	अर्धगोल	कुछकम १ को.	१/२ को.	स्फटिक	मंद	८०००
६. मंगल	९७-९८	अर्धगोल	१/२ को.	१/४ को.	रक्त	मंद	८०००

७. शनि	९९-१०१	अर्धगोल	१/२ को.	१/४ को.	स्वर्ण	मंद	८०००
८. नक्षत्र	१०६	अर्धगोल	१ को.	१/२ को.	सूर्यवत्	मंद	१०००
९. तारे उत्कृष्ट	१०९-११०	अर्धगोल	१ को.	१/२ को.	सूर्यवत्	मंद	५००
१० तारे मध्यम	१०९-१११	अर्धगोल	१/२, ३/४ को.	१/४, ३/८ को.	सूर्यवत्	मंद	५००
११ तारे जघन्य	१०९-१११	अर्धगोल	१/४ को.	१/८ को.	सूर्यवत्	मंद	५००
१२. राहु	२०२-२०३	अर्धगोल	१ यो.	२५० धनु.	अंजन	मंद	५००
१३. केतु	२७३-२७४	अर्धगोल	१ यो.	२५० धनु.	अंजन	मंद	५००

नोट : १) यो - योजन, को - कोश

२) सर्वत्र पूर्वादि दिशाओं में क्रमसे सिंह, हाथी, बैल व अश्व के रूप वाले वाहक देव उक्त प्रमाण से १/४ चौथाई-चौथाई होते हैं ।

१८. चन्द्रादि की संख्या^{१९६} :-

जंबूद्वीप के अन्तर्गत भरतक्षेत्र में यद्यपि हमको सूर्य, चंद्र आदि १-१ ही दिखाई देते हैं, किन्तु जैन परंपरा में इनकी संख्या में अन्तर है । असंख्यात द्वीपों समुद्रों में इनकी संख्या अलग-अलग मान्य की गई है । यहाँ पर द्वीप एवं समुद्र के अनुसार इन ज्योतिष देव की संख्या की अवधारणा प्रस्तुत की जा रही है-

जंबूद्वीप में दो चंद्र और दो सूर्य हैं । दो चंद्र होने से ५६ नक्षत्र, १७६ ग्रह और १,३३,९५० कोडाकोडी तारागण हैं ।

जबकि लवणसमुद्र में चार चंद्र और चार सूर्य हैं । ११२ नक्षत्र, ३५२ ग्रह और २,६७,९०० कोडाकोडी तारागणों से आकाश सुशोभित होता है ।

धातकीखण्ड द्वीप में बारह चंद्र और बारह सूर्य हैं । ३३६ नक्षत्र, १०५६ ग्रह और ८,०३,७०० कोडाकोडी तारागण हैं ।

कालोदधि समुद्र में ४२ चन्द्र और ४२ सूर्य संबद्ध लेश्या वाले हैं । ११७६ नक्षत्र, ३६९६ ग्रह और २८,१२,९५० कोडाकोडी तारागण हैं ।

पुष्करवर द्वीप में १४४ चन्द्र और १४४ सूर्य हैं । ४०३२ नक्षत्र और १२६७२ ग्रह और ९६४४४०० कोडाकोडी तारे हैं ।

एवं मनुष्यलोक (समयक्षेत्र) में १३२ चन्द्र और १३२ सूर्य प्रभासित होते हैं । ३६९६ नक्षत्र और ११६१६ ग्रह और ८८४०७०० कोडाकोडी तारागण

आकाश में शोभित होते हैं ।^{११७}

इसी प्रकार सभी द्वीप समुद्रों में ज्योतिष्क देवों की संख्या हैं ।

१९. ग्रहों का नाम निर्देश

ग्रहों के ८८ नाम हैं^{११८}-

१) बुध; २) शुक्र; ३) बृहस्पति; ४) मंगल; ५) शनि; ६) काल; ७) लोहित; ८) कनक; ९) नील; १०) विकाल; ११) केश; १२) कवयव; १३) कनक-संस्थान; १४) दुन्दुभक(दुन्दुभि); १५) रक्तनिभ; १६) नीलाभास; १७) अशोक संस्थान; १८) कंस; (१९) रूपनिभ (रूपनिभास); २०) कंसक वर्ण (कंस वर्ण); २१) शंखपरिणाम; २२) तिलपुच्छ; २३) शंखवर्ण; २४) उदकवर्ण (उदय); २५) पंचवर्ण; २६) उत्पात; २७) धूमकेतु; २८) तिल; २९) नभ; ३०) क्षारराशि; ३१) विजिष्णु (विजयिष्णु); ३२) सदृश; ३३) संधि; (शन्ति); ३४) कलेवर; ३५) अभिन्न (अभिन्न सन्धि); ३६) ग्रन्थि; ३७) मानवक(मान); ३८) कालक; ३९) कालकेतु; ४०) नलिय; ४१) अनय; ४२) विद्युज्जिह; ४३) सिंह; ४४) अलक; ४५) निर्दुःख; ४६) काल; ४७) महाकाल; ४८) रूद्र; ४९) महारूद्र; ५०) सन्तान; ५१) विपुल; ५२) संभव; ५३) स्वार्थी; ५४) क्षेम (क्षेमकर); ५५) चन्द्र; ५६) निर्मन्त्र; ५७) ज्योतिष्माण; ५८) दिशमस्थितदिशा; ५९) विरत; ६०) वीतशोक; ६१) निश्चल; ६२) निश्चल; ६३) प्रलम्ब; ६४) भासुर; ६४) स्वयंप्रभ; ६५) विजय; ६६) वैजयन्त; ६७) सीमंकर; ६८) अपराजित; ६९) जयन्त; ७०) विमल; ७१) अभयंकर; ७२) विकस; ७३) काष्ठी (करिकाष्ठ); ७४) विकट; ७५) कज्जली; ७६) अग्निज्वाल; ७७) अशोक; ७८) केतु; ७९) क्षीरस्स; ८०) अघ; ८१) श्रवण, ८२) जलकेतु; ८३) केतु (गह); ८४) अंतरद; ८५) एकसंस्थान; ८६) अश्व; ८७) भावग्रह; ८८) महाग्रह इस प्रकार ये ८८ ग्रहों के नाम हैं । इनको द्विगुणित करने पर ये १७६ होते हैं ।

सब ग्रहों की १) विजया २) वैजयन्ती, ३) जयन्ती तथा ४) अपराजिता नामक चार-चार अग्रमहिषियाँ होती हैं । इस प्रकार १७६ ग्रहों की इन्हीं नामों की अग्रमहिषियाँ होती हैं ।^{११९}

२०. नक्षत्र परिचय तालिका^{१२०}

नं.	नाम	अधिपति देवता	आकार	मूल नक्षत्रोंका प्रमाण	परिवार नक्षत्रोंका प्रमाण
१.	कृतिका	अग्नि	बीज	६	६६६६
२.	रोहिणी	प्रजापति	गाड़ी की अद्धि	५	५५५५
३.	मृगशिरा	सोम	हिरण का सर	३	३३३३
४.	आर्द्रा	रूद्र	दीप	९	९९९९
५.	पुनर्वसु	दिति	तोरण	६	६६६६
६.	पुष्य	देवमन्त्री (बृहस्पति)	छत्र	३	३३३३
७.	अश्लेषा	सर्प चींटी	आदि कृत मिट्टीका पुंज	६	६६६६
८.	मघा	पिता	गोमूत्र	४	४४४४
९.	पूर्वाफाल्गुनी	भग	शर युगल	२	२२२२
१०.	उत्तराफाल्गुनी	अर्यमा	हाथ	२	२२२२
११.	हस्त	दिनकर	कमल	५	५५५५
१२.	चित्रा	त्वष्टा	दीप	१	११११
१३.	स्वाति	अनिल	अधिकरण (अहिरिणी)	१	११११
१४.	विशाखा	इन्द्राग्नि	हार	४	४४४४
१५.	अनुराधा	मित्र	वीणा	६	६६६६
१६.	ज्येष्ठा	इन्द्र	सींग	३	३३३३
१७.	मूल	नैऋति	बिच्छू	९	९९९९
१८.	पूर्वाषाढा	जल	जीर्ण वापी	४	४४४४
१९.	उत्तराषाढा	विश्व	सिंह का सर	४	४४४४

२०. अभिजित	ब्रह्मा	हाथी का सर	३	३३३३
२१. श्रवण	विष्णु	मृदंग	३	३३३३
२२. धनिष्ठा	वसु	पतित पक्षी	५	५५५५
२३. शतभिषा	वरुण	सेना	१११	१२३३२१
२४.पूर्वाभाद्रपदा	अज	हाथीका अगला शरीर	२	२२२२
२५.उत्तराभाद्रपदा	अभिवृद्धि	" " पीछला शरीर	२	२२२२
२६. रेवती	पूषा	नौका	३२	३५५५२
२७. अश्विनी	अश्व	घोडे का सर	५	५५५५
२८. भरणी	यम	चूल्हा	३	३३३३

२१. नक्षत्रों के उदय व अस्त का क्रम^{१२१}

जिस समय किसी विवक्षित नक्षत्र का अस्तमन होता है, उस समय उससे आठवाँ नक्षत्र उदय को प्राप्त होता है। इस नियम के अनुसार कृतिकादिक के अतिरिक्त शेष नक्षत्रों के भी अस्तमन मध्याह्न और उदय को स्वयं प्राप्त होते हैं।

जैसे :- कृतिका नक्षत्र के अस्तमन काल में मघा मध्याह्न को और अनुराधा उदय को प्राप्त होता है, इसी प्रकार शेष नक्षत्रों के भी उदयादि का क्रम होता है।

२२. ताराओं में वृद्धि-हानि :-

चन्द्र और सूर्यो के क्षेत्र की अपेक्षा नीचे रहे हुए जो तारा देव हैं, वे द्युति, वैभव, लेश्या आदि की अपेक्षा कोई हीन भी हैं और कोई बराबर भी हैं। चन्द्र-सूर्यो के क्षेत्र की समश्रेणी में रहे हुए तारा देव, चन्द्र-सूर्यो से द्युति आदि में हीन भी हैं और समान भी हैं। तथा जो तारे, चन्द्र और सूर्यो के ऊपर अवस्थित हैं, वे द्युति आदि की अपेक्षा हीन भी हैं और समान भी हैं।

जैसे-जैसे उन तारों के पूर्वभव में किये हुए नियम और ब्रह्मचर्यादि में उत्कृष्टता या अनुत्कृष्टता होती है, उसी अनुपात में उनमें अणुत्व या तुल्यत्व होता है। इसलिए चन्द्र-सूर्यो के नीचे, समश्रेणी में या ऊपर जो तारा देव हैं वे हीन भी हैं और बराबर भी हैं।

प्रत्येक चन्द्र और सूर्य के परिवार में अठ्यासी (८८) ग्रह, अट्ठावीस (२८) नक्षत्र होते हैं और ताराओं की संख्या छियासठ हजार नौ सौ पचहत्तर (६६९७५) कोडाकोडी होती है।^{१२२}

२३. ताराओं का अंतर

अंतर :- दो प्रकार होता है - १) व्याघातिम (कृत्रिम) २) निर्व्याघातिम

१) व्याघातिम :- जघन्य २६६ योजन का और उत्कृष्ट १२२४२ योजन प्रमाण है।

२) निर्व्याघातिम(स्वाभाविक):- यह अंतर जघन्य ५०० धनुष और उत्कृष्ट दो कोस का होता है।

(निषध व नीलवंत पर्वत के कूट ऊपर से २५० योजन लम्बे-चौड़े हैं। कूट की दोनों ओर से ८-८ योजन को छोड़कर तारामंडल चलता है; अतः २५० में १६ जोड़ देने से २६६ योजन अन्तर निकल आता है। उत्कृष्ट अन्तर मेरू की अपेक्षा से है। मेरू की चौड़ाई १०,००० योजन की हैं और दोनों ओर के ११२१ योजन प्रदेश छोड़कर तारामण्डल चलता है। इस तरह १०,००० योजन में २२४२ मिलाने में उत्कृष्ट अन्तर आ जाता है।^{१२३}

(ब) ४. वैमानिक देव

देवों के चार भेदों में एक वैमानिक देव नामका भेद है। ये देव उर्ध्वलोक के देवविमानों में रहते हैं, तथा बड़ी विभूति व ऋद्धि आदि को धारण करनेवाले होते हैं।

इन देवों के पास घूमने फिरने को विमान होते हैं, इसलिए वैमानिक संज्ञा भी प्राप्त है।^{१२४} बहुत अधिक पुण्यशाली जीव वहाँ जन्म लेते हैं, और सागरों की आयु पर्यन्त दुर्लभ भोग भोगते हैं।

३. देवों के प्रकार :-

वैमानिक देवों के दो भेद हैं^{१२५}—

१) कल्पोपन्न

२) कल्पातीत

१. कल्पोपपन्न-

जहाँ कल्प-आचार-मर्यादा हो अर्थात् जहाँ इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि की मर्यादा और व्यवहार हो, वे कल्पोपपन्न हैं। कल्प अर्थात् १२ स्वर्गों में उत्पन्न होनेवाले देव कल्पोपपन्न होते हैं।

२. कल्पातीत-

जहाँ उपरोक्त व्यवहार अर्थात् मर्यादा न हो वे कल्पातीत हैं। नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पांच अनुत्तर विमानो में उत्पन्न होनेवाले देव कल्पातीत कहलाते हैं।

ये समस्त वैमानिक न तो एक ही स्थान में हैं और न तिरछे हैं, किन्तु एक-दूसरे के ऊपर-ऊपर स्थित हैं।^{१२६}

४. वैमानिक देवों के प्रभेद :^{१२७}—

कल्पोपपन्न के १२ प्रकार हैं—

- | | |
|--------------|--------------|
| १) सौधर्म | ७) महाशुक |
| २) ईशान | ८) सहस्रार |
| ३) सनत्कुमार | ९) आनत |
| ४) माहेन्द्र | १०) प्राणत |
| ५) ब्रह्मलोक | ११) आरण |
| ६) लान्तक | १२) अच्युत । |

कल्पातीत के दो प्रकार हैं —

- १) ग्रैवेयक २) अनुत्तरौपपातिक

ग्रैवेयक के ९ भेद हैं—

- | | |
|------------------|-----------------|
| १) अधस्तनाधस्तन | ६) मध्यमोपरितन |
| २) अधस्तन मध्यम | ७) उपरिम-अधस्तन |
| ३) अधस्तन उपरितन | ८) उपरिम-मध्यम |
| ४) मध्यम अधस्तन | ९) उपरिम-मध्यम |
| ५) मध्यम-मध्यम | |

इनके नाम हैं^{१८}—

- १) सुदर्शन, २) सुप्रतिबद्ध, ३) मनोरम, ४) सर्वतोभद्र, ५) सुविशाल, ६) सुमनस् ७) सौमनस्य ८) प्रियंकर ९) नंदिकर

अनुत्तरौपपातिक के ५ प्रकार हैं—

- १) विजय
- २) वैजयंत
- ३) जयन्त
- ४) अपराजित
- ५) सर्वार्थसिद्ध

वैमानिक देवों के विमान तीन प्रकार के होते हैं :-

- १) इन्द्रक विमान
- २) श्रेणि विमान और
- ३) पुष्प प्रकीर्णक विमान ।

१) **इन्द्रक विमान** :- इन्द्र के समान मध्य में स्थित हैं, वे इन्द्रक विमान होते हैं ।

२) **श्रेणि विमान** :- जो इन्द्रक विमान के चारों दिशाओं में पंक्तिबद्ध स्थित हैं, उनको श्रेणि विमान कहते हैं ।

३) **पुष्पप्रकीर्णक विमान** :- बिखरे हुए फूलों के समान विदिशाओं में जो विमान अवस्थित हैं, उनको पुष्पप्रकीर्णक विमान कहते हैं ।

इन विमानों में जो देवप्रासाद हैं तथा जो शाश्वत जिन चैत्यालय हैं, वे सब अकृत्रिम हैं अर्थात् शाश्वत हैं । इनका परिमाण मानवयोजन कोश आदि से जाना जाता है । अन्य शाश्वत या अकृत्रिम पदार्थों का परिमाण प्रमाण-योजन कोश आदि से किया जाता है । यह परिभाषा है । परिभाषा नियम बनानेवाली होती है ।^{१९}

कल्पोपन्न देवों के नामों का रहस्य^{२०} :-

(१) **सौधर्म** :- सौधर्म नाम का इन्द्र वहाँ होने से उसको सौधर्म कल्प कहते हैं । इनका विमान अर्ध चंद्र के समान आकार वाला पूर्णरत्नमय शोभायुक्त

होता है ।

- (२) **ऐशान** :- ईशान नामक इन्द्र के आश्रित होने से ऐशान कहते हैं । इनका विमान सौधर्म कल्प की तरह अर्ध चंद्राकार होता है ।
- (३) **सनत्कुमार** :- सनतकुमार नामक इन्द्र का निवास होने से सनत्कुमार कल्प कहलाता है । अर्ध चंद्राकार संस्थान वाला यह देवलोक अति सुंदर विमान है ।
- (४) **महेन्द्र** :- महेन्द्र नामक इन्द्र का निवास होने से उसको महेन्द्र कल्प कहते हैं । इनका विमान अर्ध चन्द्र की आकृति संस्थान वाला है ।
- (५) **ब्रह्मलोक** :- ब्रह्म नामक इन्द्र वहाँ रहता है इसलिए ब्रह्मलोक कल्प कहते हैं । पूर्ण चंद्र की आकृतिवाला इनका विमान है ।
- (६) **लान्तक** :- लान्तक नाम के इन्द्र का आधिपत्य होने से लान्तक कल्प कहते हैं । ये पूर्ण चंद्राकार विमान है ।
- (७) **महाशुक्र** :- महाशुक्रावतंसक नामक विमान में उत्पन्न हुए महाशुक्र इन्द्र के कारण इस कल्प को महाशुक्र कल्प कहते हैं । यह कल्प संपूर्ण चंद्राकार है ।
- (८) **सहस्रार** :- राजा के जैसे शोभायमान सहस्रार इन्द्र के नाम पर से यह कल्प पहचाना जाता है । यह संपूर्ण चंद्राकार कल्प है ।
- (९-१०) **आनत-प्राणत** :- इन दोनों कल्प के बीच में एक ही इंद्र होता है । उस इंद्र का नाम प्राणत है, और वह प्राणतावतंसक विमान में उत्पन्न होता है । यहाँ आनतावतंसक इन्द्रक विमान के कारण इसे आनत कल्प कहते हैं । और प्राणत इन्द्र के नाम पर से अथवा प्राणतावतंसक इन्द्रक विमान के कारण इसे प्राणत कल्प कहा है । इन दोनों विमानों का आकार अर्ध चंद्राकार है ।

१०-११ **आरण-अच्युत** :- यहाँ भी दोनों के बिच में एक ही इन्द्र होता है, उसका नाम अच्युतेन्द्र है । दक्षिण दिशा में आरणावतंसक इन्द्रक विमान के कारण इसे आरण कल्प कहते हैं । उत्तरदिशा में अच्युतावतंसक विमान में उत्पन्न होने के कारण अच्युतेन्द्र के नाम से इस कल्प को अच्युत कल्प कहते हैं । दोनों विमान अर्धचंद्राकार है और मणिमय विमानों से तेजोमय

हुए दोनों अति सुंदर दिखते हैं। इस प्रकार कल्पोपपन्न वैमानिक देवों के बारह कल्पों के नाम व उनके इंद्रों के नाम उल्लेख प्राप्त हुआ।

१ कल्पातीत वैमानिक देव—

ग्रैवेयक^{१३३} :- बारह कल्प पूर्ण होने पर ग्रैवेयक आते हैं। कल्प का व्यवहार न होने से ये कल्पातीत कहे जाते हैं। ये चौदह राज्यलोक के पुरुषाकार के ग्रीवा यानि कंठ स्थान पर रहते हैं। इनके नौ प्रतर को ग्रैवेयक कहते हैं। ये विमान लोकपुरुष के ग्रीवा-मस्तक के आभूषण के रूप जैसे होने से भी इनको ग्रैवेयक कहा जाता है। ये नौ संपूर्ण चंद्राकार रत्न जैसे तेजस्वी दिखते हैं। इनके नाम व प्रतरों के स्थानों का उल्लेख भेदों के साथ दिया जा चुका है।

अनुत्तर :- विजय, वैजयन्त, जयन्त - मोक्ष मार्ग के बीच आनेवाले सभी विघ्नों पर जिन्होंने विजय प्राप्त करली है, उससे उनको विजय-वैजयन्त और जयन्त ऐसे भिन्न-भिन्न तीन नामों से पहचाना जाता है। ये तीनों अलग-अलग अनुत्तर विमान हैं।

अपराजित :- मोक्ष मार्ग में आने वाले विघ्नों से जो पराजित नहीं हो सके ऐसे उस विमान एवं उनके स्वामी को अपराजित कहा जाता है।

सर्वार्थसिद्ध :- सभी प्रकार से उन्नति प्राप्त कर ली हो, सर्व पारमार्थिक स्वार्थों को पा लिये हो, संपूर्ण अभ्युदयरूप प्रयोजनों के विषय में जो सिद्ध हो चुके हैं, उनको सर्वार्थसिद्ध कहते हैं। इनके विमान को भी सर्वार्थसिद्ध विमान कहा जाता है।

इन पाँचों को अनुत्तर कहने का कारण यह है कि-

- १) ये अल्प संसारी होने से उत्तम-प्रधान है।
- २) कल्प के अंत में आये हैं, उसके बाद कोई विमान नहीं है इसलिए भी अनुत्तर हैं।

इस प्रकार सभी देवों का संक्षिप्त परिचय और विमानों को आकार के वर्णन यहाँ किया गया है।

५. सामान्य वैमानिक देवों का स्वरूप निरूपण :-

वैमानिक देवों का वर्ण कमल के पत्र के समान गौर, श्वेत और सुखद होता है। ये शुभ गन्ध, रस, और स्पर्श वाले होते हैं। ये उत्तम विक्रिया

शक्तिधारी होते हैं। ये प्रवर वस्त्र, गंध, माल्य और अनुलेपन के धारण करते हैं।

ये देव भी मुकुट के चिह्नों से पहचाने जाते हैं। सौधर्म देव से अच्युत देव के मुकुट चिह्न का वर्णन प्रज्ञापना सूत्र में निम्न प्रकार से हैं-^{१३२}

क्रम	देवों के नाम	मुकुट के चिह्न
१.	सौधर्म	मृग
२.	ईशान	महिष
३.	सनत्कुमार	वराह (शूकर)
४.	माहेन्द्र	सिंह
५.	ब्रह्मलोक	बकरा (छगल)
६.	लान्तक	दर्दुर (मेंढक)
७.	महाशुक	हय (अश्व)
८.	सहस्रार	गजराज
९.	आनत	भुजंग (सर्प)
१०.	प्राणत	खड्ग(चौपगा वन्य जानवर या गेंडा)
११	आरण	वृषभ (बैल)
१२.	अच्युत	विडिम (एक प्रकार का जानवर)

अपने- अपने चिह्नों से युक्त ये शिथिल और श्रेष्ठ मुकुट और किरिट के धारक होते हैं। ये श्रेष्ठ कुण्डलों से उद्योतित मुख वासे, महर्द्धिक, महाद्युतिमान, महायशस्वी, महाबली, महानुभाग, महासुखी तथा हार से सुशोभित वक्षस्थल वाले होते हैं। कड़े और बाजूबंदों से मानो भुजाओं को उन्होंने स्तब्ध कर रखी हो, ऐसा अहसास होता है। अंगद, कुण्डल आदि आभूषण उनके कपोलस्थल को मानों सहलाते हैं। कानों में ये कर्णपीठ और हाथों में विचित्र करभूषण धारण किये हुए होते हैं। इनका रक्त आभायुक्त होता है।

इनकी विचित्र पुष्पमालाएँ मस्तक पर शोभायमान होती हैं। इनके वस्त्र उत्तम और कल्याणकारी होते हैं। ये कल्याणकारी श्रेष्ठ माला और अनुलेपन धारण किये हुए होते हैं। उनका शरीर दिव्य गन्ध से, दिव्य स्पर्श से, दिव्य संहनन

से, दिव्य संस्थान से, दिव्य ऋद्धि से, दिव्य द्युति से, दिव्य प्रभा से, दिव्य छाया से, दिव्य अर्चि (ज्योति) से, दिव्य तेज से, दिव्य लेश्या से दसों दिशाओं को उद्योतित एवं प्रभासित करता है ।

इस प्रकार ये वैमानिक देव अन्य तीन निकायों के देवों की अपेक्षा अधिक ऋद्धि ऐश्वर्य एवं वैभव सम्पन्न होते हैं । इनके सुखों में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है । ये कल्पोपपन्न की अपेक्षा कल्पातीत और अधिक दिव्यता के धारक होते हैं । ये अल्प संसारी होते हैं, अल्प भवों में मोक्ष सुख को वरण करते हैं ।

६. देवों के शरीर का वर्णन^{१३३} :-

वर्ण :- सौधर्म-ईशान देवों के शरीर का वर्ण तपे हुए स्वर्ण के समान लाल आभायुक्त होता है ।

सनतकुमार और माहेन्द्र कल्प के देवों का वर्ण पद्म कमल के पराग (केशर) के समान गौर है ।

ब्रह्मलोक के देव गीले महुए के वर्ण वाले सफेद हैं । इसी प्रकार ग्रैवेयक देवों तक सफेद वर्ण के हैं ।

अनुत्तरौपपातिक देवों के शरीर का वर्ण परमशुक्ल है ।

इस प्रकार मानव की भांति देवों का भी वर्ण होता है ।

गंध^{१३४} :- सौधर्म से अनुत्तरौपपातिक तक शरीर का गंध जैसे कोष्ठपुट (लकड़ी के जैसे) आदि सुगंधित होती है, उसमें भी अधिक इष्ट, कान्त गंध इन देवों के शरीर की होती है ।

स्पर्श^{१३५} :- सौधर्म से अनुत्तरौपपातिक देवों के शरीर का स्पर्श स्थिर रूप से मुदुल, स्निग्ध और मुलायम होता है ।

७. निवास-स्थान-

वैमानिक देवों का निवास स्थान रत्नप्रभापृथ्वी के अत्याधिक सम-भूभाग से ऊपर चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र तथा तारकरूप ज्योतिष्कों के बहुत कोटाकोटी योजन ऊपर दूर जा कर सौधर्म से अनुत्तर विमानों के ८४ लाख, ९७ हजार, २३ विमानावास हैं ।^{१३६}

८. विमानों का स्वरूप -

ये विमान पूर्ण रत्नमय, स्फटिक के समान, स्वच्छ, कोमल, घिसे हुए—चिकने बनाए हुए होते हैं। ये रजरहित, निर्मल, पंकरहित, निरावरण कान्ति वाल होते हैं। प्रभायुक्त, श्री सम्पन्न, उद्योतसहित, प्रसन्नता उत्पन्न करने वाले, दर्शनीय, रमणीय होते हैं।

९. विमानों की व्यवस्था-

सौधर्म, ईशान आदि जो बारह कल्प (स्वर्ग) हैं^{१३०} उनमें प्रथम सौधर्म कल्प ज्योतिश्चक्र के असंख्यात योजन ऊपर मेरूपर्वत के दक्षिण भाग से उपलक्षित आकाशप्रदेश में स्थित हैं। उसके बहुत ऊपर किन्तु उत्तर की ओर ईशान कल्प है। सौधर्म कल्प के बहुत ऊपर समश्रेणी में सनत्कुमार कल्प है और ईशान के ऊपर समश्रेणि में माहेन्द्र कल्प है। इन दोनों के मध्य में किन्तु ऊपर ब्रह्मलोक कल्प है। इसके ऊपर समश्रेणि में क्रमशः लान्तक, महाशुक्र और सहस्रार ये तीन कल्प एक-दूसरे के ऊपर हैं। इनके ऊपर सौयार्म और ईशान की तरह आनत और प्राणत ये दो कल्प हैं। इनके ऊपर समश्रेणि में सनत्कुमार और माहेन्द्र की तरह-

आरण और अच्युत कल्प हैं। कल्पों से ऊपर-ऊपर अनुक्रम से नौ विमान हैं जो पुरुषकृति लोक के ग्रीवास्थानीय 'ग्रैवेयक' हैं। इनसे ऊपर-ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध ये पाँच अनुत्तर विमान हैं। सबसे उत्तर (प्रधान) होने के कारण ये 'अनुत्तर' कहलाते हैं।

सौधर्म कल्प से अच्युत कल्प तक के देव कल्पोपपन्न हैं और इनसे ऊपर के सभी देव कल्पातीत हैं। कल्पोपपन्न देवों में स्वामिसेवकभाव होता है, कल्पातीत में नहीं। सभी कल्पातीत देव इन्द्रवत् होते हैं, इसलिए उनको अहमिन्द्र कहते हैं।^{१३१}

मनुष्यलोक में किसी निमित्त से आवागमन का कार्य कल्पोपपन्न देव ही करते हैं, कल्पातीत देव अपना स्थान छोड़कर कहीं नहीं जाते।

इस प्रकार से वैमानिक देवों के विमानों के स्थान की व्यवस्था है।

कल्पोपपन्न वैमानिक देवों के विमानों की संख्या :-

कल्पोपपन्न देवों के इन्द्र सहित श्रेणि बद्ध विमानों की संख्या और उनके आकार का उल्लेख निम्न तालिका में किया गया है^{१३२} :-

	वृत्त विमान	त्रिकोण विमान पुष्पावकीर्ण विमान
(१) सौधर्म	वृत्त विमान-७२७, चौरस-४८६,	त्रिकोण विमान -४९४, पुष्पावकीर्ण ३१, ९८, २९३, कुल विमान ३२ लाख
(२) ईशान	वृत्त वि० - २३८, चौ. वि. ४८६	त्रि० वि० ४९४; पुष्पा वि. २७, ९८ ७८२ कु. वि. २८ लाख
(३) सनत्कुमार	वृ. वि. ५२२, चौ. वि. ३४८	त्रि० वि० ३५६; पुष्पा वि. ११, ९८, ७७४ कु. वि. १२ लाख
(४) माहेन्द्र	वृ. वि. १७०; चौ. वि. ३४८	त्रि. वि. ३५६; पुष्पा वि. ७, ९९, १२६ कु. वि. ८ लाख
(५) ब्रह्मलोक	वृ. वि. २७४; चौ. वि. २७६	त्रि. वि. २८४; पुष्पा वि. ३९९१६६ कु. वि. ४ लाख
(६) लांतक	वृ. वि. १९३; चौ. वि. १९२	त्रि. वि. २००; पुष्पा. वि. ४९४ १५ कु. वि. ५०,०००
(७) महाशुक	वृ. वि. १२८; चौ. वि. १३२	त्रि. वि. १३६; पुष्पा. वि. ३९, ६०४ कु. वि. ४०,०००
(८) सहस्रार	वृ. वि. १०८; चौ. वि. १०८	त्रि. वि. ११६; पुष्पा वि. ५६६८ कु. वि. ६०००
(९) आनत+ प्राणत-	वृ. वि. ८८; चौ. वि. ८८	त्रि. वि. ९२; पुष्पा. वि. १३२ कु. वि. ४००
(१०) आरण अच्युत	वृ. वि. ६४; चौ. वि. ६८	त्रि. वि. ७२; पुष्पा. वि. ९६ कु. वि. ३००

इस प्रकार से बारह देवलोक में रहे हुए इन्द्रक सहित श्रेणीबद्ध विमानो की तथा पुष्पावकीर्ण विमानो की संख्या का निर्देश किया गया है ।

संकेत सूची :- वृ-वृत्त; वि-विमान; चौ-चौरस; त्रि-त्रिकोण, पुष्पा :- पुष्पावकीर्ण; कु-कुल ।

इसमें वृत्त-त्रिकोण और चतुष्कोण ऐसा भाग करने का कारण यह है कि-श्रेणीओं के बीच में रहे हुए इन्द्रक विमान वृत्ताकार हैं ।

इन विमानों की चारो दिशा में क्रमशः त्रिकोण-चतुष्कोण-वृत्त-त्रिकोण-चतुष्कोणवृत्त इस रीति से विमानों की श्रेणी होती है। इस कारण इन श्रेणी का विभाजन करके उपर्युक्त संख्या दी गयी है।

११. लोकान्तिक देव

लोकान्तिक देवों का स्वरूप :-

लोक अर्थात् जन्म-जरा-मरण रूप संसार। उसका अंत जिन्होंने किया है, वह लोकान्तिक। क्योंकि इन देवों ने कर्मक्षय का अभ्यास किया हुआ है। वे अब मनुष्य पर्याय को धारण करके नियम से मुक्त होनेवाले हैं। इसलिए अनुभाव की अपेक्षा से उसमें विशेषता हैं^{१४०}। इस के उपरांत उनकी विशेषता का वर्णन करते हुए कथन है कि

१. लोकान्तिक देव लघुकर्मी और विषय से रहित होने से 'देवर्षि' कहलाते हैं।
२. ये परस्पर छोटे-बड़े न होने से 'स्वतंत्र' भी होते हैं।
३. तीर्थकर परमात्मा की दीक्षा का अर्थात् गृहत्याग-निष्क्रमण का अवसर जानकर वे यहाँ तिरच्छलोक में आते हैं। और तीर्थकर बनने वाली आत्मा के पास जाकर 'बुज्झह', 'बुज्झह' - (हे भगवान् ! बोध पाओ, बोध पाओ।) तीर्थ को प्रवर्ताओ-ऐसे शब्दों से परमात्मा को दीक्षा का अवसर याद करवाने के अपने आचार का पालन करते हैं।^{१४१}

लोकान्तिक देव :-

स्थानाङ्गसूत्र की वृत्ति^{१४२} में श्री अभयदेवसूरिजी ने भविष्य में भूत का उपचार करके लोकान्तिक देवों की एक सुंदर व्याख्या की है—देवलोक से च्यवन होकर मनुष्य बनकर तुरत मोक्ष में जानेवाले अथवा भविष्य में लोकान्त ऐसे सिद्ध स्थान पर आवास होने से लोकान्तिक देव कहे जाते हैं।

स्थान :-

सौधर्मादि जो १२ कल्प पूर्व में कहे हैं, उनमें जो पाँचवां कल्प 'ब्रह्मलोक' है, उसमें लोकान्तिक देव रहते हैं।^{१४३}

ब्रह्मलोक के अंत में चार दिशा में चार विदिशा में, एक-एक विमान है, मध्य में भी एक विमान है। तत्त्वार्थसूत्र में मध्य के विमान का उल्लेख नहीं है, आठ विमानों का उल्लेख है। वहाँ इन लोकान्तिक देवों का निवास स्थान है।

ये देव स्वयं के इस निवास के बिना कोई कल्प में रहते नहीं हैं । और कल्पातीत ऐसे ग्रैवेयक और अनुत्तर में भी नहीं रहते हैं ।

लोकान्तिक देवों के नाम और जाति^{१४४} :-

इन लोकान्तिक देवों के नाम तथा उनकी जाति विषयक प्ररूपणा निम्न प्रकार से हैं—

नाम	जाति
१) सारस्वत	अर्चि
२) आदित्य	अर्चिमाली
३) वह्नि	वैरोचन
४) अरूण	प्रभंकर
५) गर्दतोय	चन्द्राभ
६) तुषित	सूर्याभ
७) अव्याबाध	शुक्राभ
८) मरूत	सुप्रतिष्ठाम
९) अरिष्ट	रिष्ट

लोकान्तिक देवों के विमानों के नाम से ही लोकान्तिक देवों के नाम होते हैं । तत्त्वार्थसूत्र के २५ ओर २६ इन दो सूत्रों के मूल भाष्य में लोकान्तिक देवों के आठ ही भेद निर्दिष्ट हैं, नौ नहीं । दिगंबर संप्रदाय के सूत्रपाठ में भी आठ की संख्या ही उपलब्ध होती है, उसमें 'मरूत' का उल्लेख नहीं है । जबकि स्थानाङ्ग आदि सूत्रों में नौ भेद मिलते हैं । उत्तमचरित्र में तो दस भेदों का भी उल्लेख मिलता है । इससे ज्ञात होता है कि मूल सूत्र में 'मरूतो' पाठ बाद में प्रक्षिप्त हुआ है ।

इन नौ देवों का दिशा में स्थान :-

- | | |
|------------------------------|----------------------------|
| १) ईशान दिशा में सारस्वत । | २) पूर्व दिशा में आदित्य । |
| ३) अग्नि दिशा में वह्नि । | ४) दक्षिण दिशा में अरूण । |
| ५) नैऋत्य दिशा में गर्दतोय । | ६) पश्चिम दिशा में तुषित । |
| ७) वायव्य दिशा में अव्याबाध | ८) पश्चिम दिशा में तुषित । |

९) बराबर मध्यभाग में अरिष्ट देव का विमान होता है ।

१२. वैमानिक देवों के विमानों की मोटाई ऊँचाई^{१४५} :-

देवों के नाम	(मोटाई)लंबाई	ऊँचाई
१. सौधर्म-ईशान कल्प	२७ योजन मोटाई	५०० योजन ऊँचाई
२. सनत्कुमार-माहेन्द्र	२६ योजन मोटाई	६०० योजन ऊँचाई
३. ब्रह्मलोक-लान्तक	२५ योजन मोटाई	७०० योजन ऊँचाई
४. महाशुक्र-सहस्रार	२४ योजन मोटाई	८०० योजन ऊँचाई
५. आणत, प्राणत, आरण और अच्युत	२३ योजन मोटाई	९०० योजन ऊँचाई
६. ग्रैवेयक विमान	२२ योजन मोटाई	१००० योजन ऊँचाई
७. अनुत्तर विमान	२१ योजन मोटाई	११०० योजन ऊँचाई

इस प्रकार से देवों के विमानों का प्रमाण योजनों में माप किया गया है ।

१४. विमानों के रंग और प्रभा :-

सौधर्म-ईशानकल्प के विमान पांचो वर्ण के हैं—

१) कृष्ण, २) नील, ३) लाल, ४) पीले और ५) सफेद ।

सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प के विमान चार वर्ण के हैं—

१) नील, २) लाल, ३) पीले और ४) सफेद (शुक्ल) ।

ब्रह्मलोक और लान्तक कल्पों के विमान तीन वर्ण के हैं—

१) लाल, २) पीले और ३) शुक्ल

महाशुक्र और सहस्रार कल्प में विमान दो रंग के हैं—

१) पीले और २) सफेद

आणत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्पों में विमान एक रंग के हैं—

१) सफेद (शुक्ल) ।

ग्रैवेयकविमान भी सफेद होते हैं ।

अनुत्तरौपपातिक के विमान परम-शुक्ल वर्ण के होते हैं ।

इस प्रकार विमानों को रंगों का उल्लेख है ।

देवों के विमान की प्रभा

सौधर्म-ईशानकल्प के विमान नित्य स्वयं की प्रभा से प्रकाशमान और नित्य उद्योत वाले हैं, यावत् अनुत्तरौपपातिकविमान भी स्वयं की प्रभा से नित्यालोक और नित्योद्योत करते हैं ।^{१४६}

१५. कल्योपपन्न वैमानिक देवों की वर्णन तालिका^{१०} :-

कल्पों के नाम	देवों की संख्या	देवी संख्या	स्थिति		विमानवास	सामानिक देव	मध्य में	पूर्वदिशामें	दक्षिणदिशा	पश्चिम दिशा	उत्तर दिशामें
			देव	देवी							
१. सौधर्म					३२ लाख	८४ हजार	सौधर्मा- वतंसक	अशोका- वतंसक	सप्तपर्णा- वतंसक	चम्यका- वतंसक	चूलावतंसक
आभ्यन्तर पर्वद	१२०००	७००	५ पत्न्यो.	३ प.							
मध्यम पर्वद	१४०००	६००	४ पत्न्यो.	२ प.							
ब्राह्म पर्वद	१६०००	५००	३ पत्न्यो.	१ प.							
२. ईशान					२८ लाख	८० हजार	ईशाना- वतंसक	अंकावतंसक	स्फटिका- वतंसक	रत्नावतंसक	जातरूपा वतंसक
आभ्यन्तर पर्वद	१००००	१००	७ पत्न्यो.	५ प. से कुछ अधिक							
मध्यम पर्वद	१२०००	८००	६ पत्न्यो.	४ प.							
ब्राह्म पर्वद	१४०००	७००	५ पत्न्यो.	३ प.							
३. सनत्कुमारा					१२ लाख	७२ हजार	सनत्कुमारा वतंसक	अशोका- वतंसक	सप्तपर्णा- वतंसक	चम्यका- वतंसक	चूलावतंसक
आभ्य. पर्वद	८०००	देवियाँ नहीं	साढे चार सागरो ५ प.	"							
मध्यम पर्वद	१००००	देवियाँ नहीं	साढे चार सागरो ४ प.	"							

कल्पों के नाम	देवों की संख्या	देवीसंख्या	स्थिति		विमानवास	सामानिक देव	मध्य में	पूर्वदिशामें	दक्षिणदिशा	पश्चिम दिशा	उत्तर दिशामें
			देव	देवी							
बाह्य पर्वद	१२०००	देवियाँ नहीं	साढे चार सागरो ३ प.	"	८ लाख	७० हजार	माहेन्द्रा वतसंक	अंकावतंसक	स्फटिका-वतसंक	खलावतंसक	जातरू पा-वतसंक
४. माहेन्द्र	६०००	देवियाँ नहीं	साढे चार सा. ७ प.	"							
आभ्य. पर्वद	८०००	देवियाँ नहीं	साढे चार सा. ६ प.	"							
मध्यम पर्वद	१००००	देवियाँ नहीं	साढे चार सा. ५ प.	"							
बाह्य पर्वद	४०००	देवियाँ नहीं	साढे आठ सा ५ प नहीं है ।	"	४ लाख	६० हजार	ब्रह्मलोका-वतसंक	अशोका-वतसंक	सप्तपर्णा-वतसंक	चम्पका-वतसंक	चूलावतंसक
५. ब्रह्म	६०००	देवियाँ नहीं	साढे आठ सा ४ प नहीं है ।	"							
आभ्य. पर्वद	८०००	देवियाँ नहीं	साढे आठ सा ३ प नहीं है ।	"							
मध्यम पर्वद											
बाह्य पर्वद											

कल्पों के नाम	देवों की संख्या	देवीसंख्या	देव	स्थिति	विमानवास	सामानिक देव	मध्य में	पूर्वदिशामें	दक्षिणदिशा	पश्चिम दिशा	उत्तर दिशामें
६. लांतक											
आभ्य. पर्षद	२०००	देवियाँ नहीं	१२ सागरो ७ प.	नहीं है।	५० हजार	५० हजार	लांतका वंतंसक	अंकावंतंसक	स्फटिका वंतंसक	रत्नावंतंसक	जातरू पा- वंतंसक
मध्यम पर्षद	४०००	देवियाँ नहीं	१२ सागरो ६ प.	नहीं है।							
बाह्य पर्षद	६०००	देवियाँ नहीं	१२ सागरो ५ प.	नहीं है।							
७. महाशुक्र											
आभ्य. पर्षद	१०००	देवियाँ नहीं	सोढ १५ सा. ५ पल्यो	नहीं है	४० हजार	४००००	महाशुक्रा- वंतंसक	अशोका- वंतंसक	सप्तपर्णा- वंतंसक	चम्पका- वंतंसक	चूलावंतंसक
मध्यम पर्षद	२०००	देवियाँ नहीं	सोढ १५ सा. ४ पल्यो	नहीं है							
बाह्य पर्षद	४०००	देवियाँ नहीं	सोढ १५ सा. ३ पल्यो	नहीं है							
८. सहस्रार											
आभ्य. पर्षद	५००	देवियाँ नहीं	सोढ १७ सा. ७ पल्यो	नहीं है	६ हजार	३००००	सहस्रा- वंतंसक	अंका- वंतंसक	स्फटिका- वंतंसक	रत्ना- वंतंसक	जातरू पा- वंतंसक

कालों के नाम	देवों की संख्या	देवीसंख्या	स्थिति		विमानवास	सामानिक देव	मध्य में	पूर्वदिशामें	दक्षिणदिशा	पश्चिम दिशा	उत्तर दिशामें
			देव	देवी							
मध्यम पर्वद	१०००	देवियों नहीं	सोढ १७ सा. ६ पल्यो	नहीं है	४००	२००००	प्राणाता- वर्तंसक	अशोका- वर्तंसक	सप्तपर्णा- वर्तंसक	चम्पका- वर्तंसक	चूलावर्तंसक
बाह्य पर्वद	२०००	देवियों नहीं	सोढ १७ सा. ५ पल्यो	नहीं है							
१-१० आनत- प्राणत	२५०	देवियों नहीं	११ सा. ५ पल्यो.	नहीं है							
आध्य. पर्वद	५००	देवियों नहीं	११ सा. ४ पल्यो.	नहीं है							
मध्यम पर्वद	१०००	देवियों नहीं	११ सा. ३ पल्यो.	नहीं है							
बाह्य पर्वद											
११-१२ आरणा अच्युत	१२५	देवियों नहीं	२१ सा. ७ पल्यो.	नहीं है	३००	१००००	अच्युता- वर्तंसक	अंका- वर्तंसक	स्फटिका- वर्तंसक	रत्ना- वर्तंसक	जातरू पा- वर्तंसक
आध्य. पर्वद	२५०	देवियों नहीं	२१ सा. ६ पल्यो.	नहीं है							
मध्यम पर्वद											

कल्पों के नाम	देवों की संख्या	देवीसंख्या	देव	स्थिति	विमानवास	सामानिक देव	मध्य में	पूर्वदिशामें	दक्षिणदिशा	पश्चिम दिशा	उत्तर दिशामें
बाह्य पर्षद	५००	देवियाँ नहीं	२१ सा. ५ पाल्यो.	देवी नहीं है							
नव ग्रैवेयक					३१८						
प्रथम त्रिक					१११						
द्वितीय त्रिक					१०७						
तृतीय त्रिक					१००						
अनुत्तर विमान					५						
				कुल	८४९७०२३						
					विमानवास						

१६. विशेष नाम वाले विमान

‘विमान’ शब्द की व्युत्पत्ति है वि-विशेषरूप से पुण्यशाली जीवों के द्वारा मन्यन्ते-तद्गत सुखों का अनुभव किया जाता है जहां वह विमान है।^{१४९}

विमानों के नामों में प्रथम स्वस्तिक नामवाले; स्वस्तिकावर्त नामवाले, स्वस्तिकप्रभ, स्वस्तिक-कान्त, स्वस्तिकवर्ण, स्वस्तिकलेश्य, स्वस्तिकध्वज, स्वस्तिकशृंगार, स्वस्तिककूट, स्वस्तिकशिष्ट और स्वस्तिकोत्तरावतंसक नामक विमान कहे गये हैं। जब कि मलयगिरि ने पहले अर्चि, अर्चिरावर्त आदि पाठ मानकर व्याख्या की है।^{१५०} उन्होंने स्वस्तिक, स्वस्तिकावर्त आदि नामों का उल्लेख दूसरे नम्बर पर किया है। इस प्रकार क्रम में अन्तर है।

विमानों की विशालता को बताने के लिए देवों के दृष्टांत से बताया गया है। जैसे कोई देव सर्वोत्कृष्ट दिन में जितने क्षेत्र में सूर्य उदित होता है और जितने क्षेत्र में वह अस्त होता है इतने क्षेत्र को अवकाशान्तर कहा जाता है ऐसे तीन अवकाशान्तर जितने क्षेत्र को वह देव एक पदन्यास से पार कर लेता है। इस प्रकार की उत्कृष्ट, त्वरित और दिव्यगति से लगातार एक दिन, दो दिन और उत्कृष्ट छह मास तक चलता रहे तो वह किसी विमान के पार पहुँच जाता है और किसी विमान को पार नहीं कर सकता है। इतने बड़े वे विमान हैं।

जम्बूद्वीप में सर्वोत्कृष्ट दिन में कर्कसंक्रान्ति के प्रथम दिन में सूर्य सैंतालिस हजार दो सौ त्रेसठ योजन और एक योजन के $\frac{३३}{६०}$ भाग (इक्कीस साठिया भाग) जितनी दूरी से उदित होता हुआ दिखता है।^{१५१} ४७२६३ $\frac{३३}{६०}$ योजन उसका उदयक्षेत्र है और इतना ही उसका अस्तक्षेत्र है। उदयक्षेत्र और अस्तक्षेत्र मिलकर $९४५२६\frac{३३}{६०}$ योजन क्षेत्र का परिमाण होता है। यह एक अवकाशान्तर का परिमाण है। यहाँ ऐसे तीन अवकाशान्तर होने से उसका परिमाण अट्ठाईस लाख तीन हजार पाँच सौ योजन और एक योजन के $\frac{६}{६०}$ भाग (२८,०३,५८० $\frac{६}{६०}$) इतना उस देव के एक पदन्यास का परिमाण होता है।

अर्चि: अर्चिरावर्त आदि की विशालता भी इसी के समान है। अन्तर यह है कि यहाँ पाँच अवकाशान्तर जितना क्षेत्र उस देव के एक पदन्यास का प्रमाण है।

काम, कामावर्त आदि विमानों की विशालता केवल देव के पदन्यास का प्रमाण सात अवकाशान्तर के समान है।

विजय, वैजयंत, जयंत और अपराजितों के विमानों की विशालता में अन्तर यह है कि यहाँ नौ अवकाशान्तर जितना क्षेत्र उस देव के एक पदन्यास के प्रमाण के समान है।^{१५२}

(क) आगमों में प्राप्त विशिष्ट देवताओं का वर्णन

सूर्याभदेव का विस्तार से वर्णन

एक प्रकीर्णक आगम ग्रंथ राजप्रश्नीय सूत्र (प्रा. रायपसेणीय सूत्र) एक विशिष्ट आगम ग्रंथ है। उसमें भगवान महावीर के दर्शन-वन्दन के लिए आये हुए सूर्याभदेव नामक सौधर्म देवलोक के एक देव का विस्तृत वर्णन मिलता है। सूर्याभदेव और उसके नगर, उसके विमान, उसके निवासस्थान, उसके वैभव, उसके परिवार इत्यादि का अत्यंत रोचक वर्णन वहाँ पर मिलता है। उस वर्णन के आधार से हम इस प्रकार के देवों का क्या वैभव था वह जान सकते हैं। इस लिए यहाँ पर सूर्याभदेव का विस्तार से वर्णन दिया जा रहा है।

सूर्याभदेव के सभावैभव

सौधर्म विमान में सूर्याभ नामक विमान की सुधर्मा सभा में सूर्याभ देव सिंहासन पर बैठा है। उसके साथ चार हजार सामानिक देवों, सपरिवार चार अग्रमहिषियों, तीन परिषदाओं, सात अनीकों-सेनाओं, सात अनीकाधिपतियों, सोलह हजार आत्मरक्षक देवों तथा और दूसरे बहुत से सूर्याभ विमानवासी वैमानिक देव-देवियों सहित अव्याहत निरन्तर नाट्य एवं निपुण पुरुषों द्वारा वादित-बजाये जा रहे तंत्री-वीणा, हस्तताल, कात्यताल और अन्यान्य वाद्यों तथा घनमृदंग-मेघ के समान ध्वनि करने वाले मृदंगों की ध्वनि (आवाज) के साथ दिव्य भोगने योग्य भोगों को भोगता हुआ रहता है।

सभा में उपस्थित देव-देवियों का स्वरूप निर्देश—

सामानिक देव-आज्ञा और ऐश्वर्य के अतिरिक्त ये सभी देव विमानधिपति देव के समान द्युति, वैभव आदि से संपन्न होते हैं और इनको भाई आदि के तुल्य आदर-सम्मान योग्य माना जाता है।

अग्रमहिषी-कृताभिषेका राजा की पत्नी महिषी और शेष अकृताभिषेका अन्य स्त्रियां भोगिनी कहलाती हैं (या कृताभिषेका नृपस्त्री सा महिषी, अन्या अकृताभिषेका नृपस्त्रियो भोगिन्य इत्युच्यन्ते-अमरकोश द्वितीय कांड, मनुष्यवर्ग, श्लोक ५) अपनी परिवारभूत अन्य सभी पत्नियों में उसकी अग्रता-प्रधानता, मुख्यता-बताने के लिये महिषी के साथ अग्र विशेषण का प्रयोग किया जाता है।

तीन परिषदा :- सभी विमानधिपति देवों की-१. आभ्यन्तर, २. मध्यम और ३. बाह्य ये तीन परिषदायें होती हैं। जिनसे अपने अंतरंग, गुप्त गूढ़ रहस्यों के लिये विचार किया जाता है, ऐसे परमविश्वसनीय समवयस्क मित्र समुदाय को आभ्यन्तर परिषद, आभ्यन्तर परिषद में चर्चित एवं निर्णीत विचारों के लिये जिससे सम्मति-राय ली जाती है उसे मध्यमपरिषद और आभ्यन्तर तथा मध्यम परिषद द्वारा विचारित, निर्णीत एवं सम्मत कार्य को क्रियान्वित करने का दायित्व जिसे दिया जाता है, उसे बाह्य परिषद कहते हैं।

सात सेनायें :- अश्व, गज, रथ, पदाति, वृषभ (बैल), गंधर्व और नाट्य ये सेनाओं के सात प्रकार हैं। इनमें से आदि की पांच का युद्धार्थ और अंतिम दो का आमोद-प्रमोद के लिये उपयोग किया जाता है और ये अपने अपने अधिपति के नेतृत्व में कार्य संपादित करने में सक्षम होने से इनके सात सेनापति होते हैं।

आत्मरक्षक देव-शिरस्त्राण जैसे प्राणरक्षक होता है, उसी प्रकार ये देव भी अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर अपने अधिपतिदेव की रक्षा करने में तत्पर रहने से आत्मरक्षक कहलाते हैं। यद्यपि इन्द्र आदि देवों को किसी का भय नहीं होता फिर भी आत्मरक्षकों की आवश्यकता होती है। यह भी इन्द्र का एक वैभव है।^{१५३}

आभियोगिक देव :- जैसे हमारे यहाँ घरेलू काम करने के लिये वेतनभोगी भृत्य-नौकर होते हैं, उसी प्रकार की स्थिति देवलोक में आभियोगिक देवों की है। वे अपने स्वामी देव की आज्ञा का पालन करने के लिये नियुक्त रहते हैं। अर्थात् अपने स्वामी देव की आज्ञा का पालन करने वाले भृत्य-सेवक स्थानीय देवों को आभियोगिक देव कहा जाता है।^{१५४}

इस प्रकार के देवों से संपूर्ण ऐसी सूर्याभदेव की सभा होती है।

सूर्याभदेव की आभियोगिक देवों को आज्ञा-

सूर्याभदेव आभियोगिक देवों को आदेश इस प्रकार देते हैं :- हे देवानुप्रियो ! तुम जाओ और जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भरतक्षेत्र में स्थिति आमलकल्या नगरी के बाहर आम्रशालवन चैत्य में विराजमान श्रमण भगवान महावीर की दक्षिण दिशा से प्रारंभ करके तीन बार प्रदक्षिणा करो। प्रदक्षिणा करके वंदना, नमस्कार करो। वंदना, नमस्कार करके तुम अपने-अपने नाम और

गोत्र उन्हें कह सुनाओ । तदनन्तर श्रमण भगवान महावीर के बिराजने के आसपास चारों ओर एक योजन प्रमाण गोलाकार भूमि में घास, पत्ते, काष्ठ, कंकड-पत्थर, अपवित्र, मलिन, सड़ी-गली दुर्गन्धित वस्तुओं को अच्छी तरह से साफ कर दूर एकान्त स्थान में ले जाकर फैक दो । इसके अनन्तर उस भूमि को पूरी तरह से साफ स्वच्छ करके उस जमीन उपर दिव्य सुरभि-सुगंधित गंधोदक की वर्षा करो कि जिसमें जल अधिक न बरसे, कीचड़ न हो । रिमझिम-रिमझिम विरल रूप में नन्हीं-नन्हीं बूंदे बरसें और धूल मिट्टी नष्ट हो जाये । इस प्रकार की वर्षा करके उस स्थान को रजविहिन, नष्टरज, भ्रष्टरज, उपशांतरज, प्रशांतरज वाला बना दो ।

जलवर्षा करने के अनन्तर उस स्थान पर सर्वत्र एक उत्सेध-ऊँचाई प्रमाण भास्वर चमकीले जलज और स्थलज पंचरंगे-रंगबिरंगे सुगंधित पुष्पों की प्रचुर प्रमाण में इस प्रकार से वर्षा करो कि उनके वृन्त (उड़ियाँ) नीचे की ओर और पंखुडियाँ चित्त-ऊपर की ओर रहें ।

पुष्पवर्षा करने के बाद उस स्थान पर अपनी सुगंध से मन को आकृष्ट करने वाले काले अगर, श्रेष्ठ कुन्दुरूष्क तुरूष्क (लोबान) और धूप को जलाओ कि जिसकी सुगंध से सारा वातावरण मधमघा जाये-महक जाये, श्रेष्ठ सुगंध-समूह के कारण वह स्थान गंधवट्टिका-गंध की गोली के समान बन जाये, दिव्य सुखरों-उत्तम देवों के अभिगमन योग्य हो जाये । ऐसा तुम स्वयं करो और दूसरों से करवाओ । यह करके और करवा कर शीघ्र मेरी आज्ञा वापस मुझे लौटाओ अर्थात् आज्ञानुसार कार्य हो जाने की मुझे सूचना दो ।^{१५५}

इस प्रकार से काम करने के बाद वापिस देव को सूचित करना पड़ता है ।

आभियोगिक देवों द्वारा आज्ञापालन :

आभियोगिक देव सूर्याभदेव की आज्ञा को सुन कर हर्षित हुए, सन्तुष्ट हुए यावत् (आनंदित चित्त वाले हुए, उनके मन में प्रीति उत्पन्न हुई, परम प्रसन्न हुए और हर्षातिरेक से उनका) हृदय विकसित हो गया । उन्होंने ईशान कोने में जाकर वैक्रिय समुद्घात करके संख्यात योजन का रत्नमय दंड बनाया ।

समुद्घात :- मूल शरीर को न छोड़कर अर्थात् मूल शरीर में रहते हुए जीवप्रदेशों को शरीर से बाहर निकलने को समुद्घात कहते हैं। वेदना आदि सात कारणों से जीव-प्रदेशों के शरीर से बाहर निकलने के कारण समुद्घात के सात भेद हैं। उनमें से यहाँ वैक्रिय समुद्घात का उल्लेख है। यह वैक्रिय-शरीरनामकर्म के आश्रित है। वैक्रियलब्धि वाला जीव विक्रिया करते समय अपने आत्मप्रदेशों को विष्कंभ और मोटाई में शरीर परिमाण और ऊँचाई में संख्यात योजन प्रमाण दंडाकार रूप में शरीर से बाहर निकालता है। इसमें रत्नों का समावेश करते हैं।

रत्नों के नाम इस प्रकार हैं-(१) कर्केतन रत्न (२) वज्र-रत्न, (३) वैडूर्यरत्न (४) लोहिताक्ष रत्न (५) मसारगल्ल रत्न (६) हंसगर्भ रत्न (७) पुलक रत्न (८) सौगन्धिक रत्न (९) ज्योति रत्न (१०) अंजन रत्न (११) अंजनपुलक रत्न (१२) रजत रत्न (१३) जातरूप रत्न (१४) अंक रत्न (१५) स्फटिक रत्न (१६) रिष्ट रत्न।

इन रत्नों के यथा बादर (असार-अयोग्य) पुद्गलों को अलग किया और फिर यथासूक्ष्म (सारभूत) पुद्गलों को ग्रहण करके पुनः दूसरी बार वैक्रिय समुद्घात करके उत्तर वैक्रिय रूपों की विकुर्वणा करके अर्थात् अपना-अपना वैक्रिय लब्धिजन्य उत्तर वैक्रिय शरीर बनाकर वे उत्कृष्ट त्वरा वाली, चपल, अत्यन्त तीव्र होने के कारण चंड, जवन-वेगशील, आँधी जैसी तेज दिव्य गति से तिरछे-तिरछे, स्थित असंख्यात द्वीप समुद्रों को पार करते हुए जहाँ जम्बूद्वीप में भारत की आमलकल्या नगरी थी, आम्रशालवन चैत्य था और उसमें भी जहाँ श्रमण भगवान महावीर बिराजमान थे, वहाँ आये।^{१५६}

आभियोगिक देव किस प्रकार, किसकी विकुर्वणा करते हैं वह आगे दर्शाया गया है।

संवर्तक वायु की विकुर्वणा

जैसे कोई तरुण, बलवान, युगवान-कालकृत उपद्रवों से रहित, युवा-युवास्था वाला, युवान, रोग रहित-निरोग, स्थिर पंजे वाला-जिसके हाथ का अग्रभाग कांपता न हो, पूर्णरूप से दृढ पुष्ट हाथ पैर पृष्ठान्तर-पीठ एवं पसलियों और जंघाओ वाला हो, अतिशय निश्चित परिपुष्ट मांसल गोल कंधोंवाला हो, चर्मैष्टक (चमड़े से वेष्टित पत्थर से बना अस्त्र विशेष), मुद्गर और मुक्कों की

मार से सघन, पुष्ट सुगठित शरीर वाला हो, आत्मशक्ति सम्पन्न, युगपत्, उत्पन्न तालवृक्षयुगल के समान सीधी लम्बी और पुष्ट भुजाओं वाला हो, लांघने-कूदने-वेगपूर्वक गमन एवं मर्दन करने में समर्थ, कलाविज्ञ, दक्ष, पटु, कुशल, मेधावी एवं कार्यनिपुण भृत्यदारक सीकों से बनी अथवा मूठ वाली अथवा बांस की सीकों से बनी बुहारी को लेकर राजप्रांगण, अन्तःपुर देवकुल, सभा, प्याऊ, आरामगृह और उद्यान को बिना किसी घबराहट-चपलता-सम्भ्रम-आकुलता के निपुणतापूर्वक चारों तरफ से प्रमार्जित करता है-बुहारता है—वैसे ही सूर्याभदेव के उन आभियोगिक देव भी संवर्तक वायु की विकुर्वणा करके श्रमण भगवान महावीर के आस-पास चारों ओर एक योजन-चार कोस के इर्दगिर्द भूभाग में जो कुछ भी घास पत्ते आदि थे उसे उठाकर एकान्त स्थान में ले जाकर फैककर शीघ्र अपने कार्य पूर्ण करते हैं ।

अभ्र-बादलों की विकुर्वणा

जिस प्रकार कोई एक कार्यकुशल भृत्यदारक-सींचने वाला नौकर जल से भरे एक बड़े घड़े वारक (मिट्टी से बने पात्र विशेष-चाड़े) अथवा जलकुंभ (मिट्टी के घड़े) अथवा जल-स्थालक (कांसे के घड़े) अथवा जलकलश को लेकर आराम-फुलवारी से परब (प्याऊ) को बिना किसी उतावली के सब तरफ से सींचता है, इसी प्रकार से सूर्याभदेव के उन आभियोगिक देवों ने आकाश में घुमड़-घुमड़कर गरजने वाले और विजलियों की चमचमाहट से युक्त मेघों की विक्रिया की और विक्रिया करके भगवान महावीर के बिराजने के स्थान के आस-पास चारों ओर एक योजन प्रमाण गोलाकार भूमि में इस प्रकार से सुगन्धित गंधोदक बरसाया कि जिससे न भूमि जलबहुल हुई, न कीचड़ हुआ, किन्तु रिमझिम-रिमझिम विरल रूप से बूँदाबूदी होने से उड़ते हुए रजकण दब गये । इस प्रकार की मेघ वर्षा करके उस स्थान को निहितरज, नष्टरज, भ्रष्टरज, उपशांतरज, प्रशांत रज वाला बना दिया ।^{१५७} इस प्रकार अपना कार्य पूर्ण किया ।

पुष्प-मेघों की रचना

इसके पश्चात् आभियोगिक देवों ने तीसरी बार वैक्रिय समुद्घात करके जैसे कोई तरुण कार्यकुशल मालाकारपुत्र एक बड़ी पुष्पछानदिका (फूलों से भरी टोकरी) पुष्पपटलक (फूलों की पोटली) अथवा पुष्पचंगेरिका (फूलों से भरी

डलिया) से कचग्रहवत् (कामुकता से हाथों में ली गई कामिनी की केश-रशि के तुल्य) फुलों को हाथ में लेकर छोड़े गये पंचरंगे पुष्पपुंजों को बिखेर कर राजप्रांगण से परब (प्याऊ) को सब तरफ से समलंकृत कर देता है उसी प्रकार से पुष्प-वर्षक बादलों की विकुर्वणा की। वे अभ्रबादलों की तरह गरजने लगते हैं। एक योजन प्रमाण गोलाकार भूभाग में दीप्तिमान जलज और स्थलज पंचरंगी पुष्पों को प्रभूत मात्रा में इस तरह बरसाया कि सर्वत्र उनकी ऊँचाई एक हाथ प्रमाण हो गई एवं डंडिया नीचे और पंखुडियाँ ऊपर रही।

पुष्पावर्षा करने के पश्चात् मनमोहक सुगंध वाले काले अगर, श्रेष्ठ कुन्दरूष्क, तुरूष्क-लोबान और धूप को जलाया। उनकी मनमोहक सुगन्ध से सारा प्रदेश महकने लगा, श्रेष्ठ सुगन्ध के कारण सुगन्ध की गुटिका जैसा बन गया। दिव्य एवं श्रेष्ठ देवों के अभिगमन योग्य हो गया। इस प्रकार से स्वयं करके और दूसरों से करवा करके उन्होंने अपने कार्य को पूर्ण किया।^{१५८}

इस तरह तीन बार आभियोगिक देव अलग-अलग प्रकार की विकुर्वणा करते हैं।

सूर्याभदेव की उद्घोषणा एवं आदेश

सूर्याभदेव ने पदाति-अनीकाधिपति (स्थलसेनापति) को बुलाकर उससे कहा—

हे देवानुप्रिय ! तुम शीघ्र ही सूर्याभ विमान की सुधर्मा सभा में स्थित मेघसमूह जैसी गंभीर मधुर शब्द करने वाली एक योजन प्रमाण गोलाकार सुस्वर घंट को तीन बार बजाकर उच्चाति उच्च स्वर में घोषणा-उद्घोषणा करते हुए यह कहना कि—

हे सूर्याभ विमान में रहने वाले देवों और देवियों ! सूर्याभदेव की आज्ञा सुनो ! जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र में स्थित आम्रशालवन चैत्य में बिराजमान श्रमण भगवान महावीर की वंदना करने के लिए सूर्याभ देव जा रहे हैं। अतएव है देवानुप्रियो ! आप लोग समस्त ऋद्धि (आभूषण) आदि की कांति बल (सेना) समुदय-अभ्युदय दिखावे। अपने अपने आभियोगिक देवों के समुदाय, आदर-सम्मान विभूति, विभूषा, एवं भक्तिजन्य उत्सुकतापूर्वक सर्व प्रकार के पुष्पों, वेश-भूषाओं, सुगंधित पदार्थों, एक साथ बजाये जा रहे। समस्त दिव्य वाद्यों-शंख, प्रणव, (ढोलक) पटह (नगाड़ा) भेरी, झालर, खरमुखी, हुडुक्क, मुरज (तबला),

मृदंग एवं दुदुंभि आदि के निघोष के साथ अपने-अपने परिवार सहित अपने-अपने यान-विमानों में बैठकर बिना विलंब के-अविलंब तत्काल सूर्याभ-देव के समक्ष उपस्थित हो जाओ । इस प्रकार की घोषणा अनीकाधिपति ने करी ।

अधिक से अधिक बारह योजन की दूरी से आया हुआ शब्द ही श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जा सकता है । मगर सूर्याभ विमान तो एक लाख योजन विस्तार वाला है । ऐसी स्थिति में घण्टा का शब्द सर्वत्र कैसे सुनाई दिया ? इस प्रश्न का समाधान मूलपाठ के अनुसार ही यह है कि घंटा के ताड़न करने पर उत्पन्न हुए शब्द पुद्गलों के इधर-उधर टकराने से तथा दैवी प्रभाव से, लाखों प्रतिध्वनियाँ उत्पन्न हो गई ।^{१५९}

देवों का औचित्य

औचित्य अर्थात् दृष्टिकोण ।

सूर्याभदेव की आज्ञा को सुनकर सूर्याभविमानवासी कितने देव-देवियाँ वन्दना करने के विचार से, कितने पर्युपासना करने की आकांक्षा से, कितने ही सत्कार करने की भावना से, कितने ही सम्मान करने की इच्छा से, कितने ही जिनेन्द्र भगवान के प्रति कृतुहलजनित भक्ति-अनुराग से, कितने ही सूर्याभ देव की आज्ञा पालन करने के लिए, कितने ही अश्रुतपूर्व (जिसको पहले नहीं सुना) को सुनने की उत्सुकता से, कितने ही सुने हुए अर्थविषयक शंकाओं का समाधान करके निःशंक होने के अभिप्राय से, कितने ही एक दूसरे का अनुसरण करते हुए, कितने ही जिन-भक्ति के अनुराग से, कितने ही अपना धर्म (कर्तव्य) मानकर और कितने ही अपना परम्परागत व्यवहार समझकर, सर्व ऋद्धि के साथ बिना किसी विलम्ब के तत्काल सूर्याभदेव के समक्ष उपस्थित हो गये ।

यहाँ मानवीय रुचि की विविधरूपता का चित्रण किया गया है, कि कार्य के एक समान होने पर भी प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार उसमें प्रवृत्त होता है । लोक विभिन्न रूचि वाले है । वैसे ही देवों में भी विभिन्न रूचि वाले होते हैं ।

जैन सिद्धान्त के अनुसार इस प्रकृति-स्वभाव-जन्य विविधता का कारण कर्म है- 'कर्मजं लोकवैचित्र्यं तत्स्वभावानुकारणम् ।'^{१६०}

सूर्याभदेव द्वारा विमान निर्माण का आदेश

सूर्याभदेव ने अपने आभियोगिक देवों को बुलाकर कहा-

हे देवानुप्रियो ! तुम शीघ्र ही अनेक सौकड़ो स्तम्भों पर संनिविष्ट - बने हुए एक यान-विमान की विकुर्वणा-रचना करो । जिसमें स्थान-स्थान पर हाव-भाव विलास लीलायुक्त अनेक पुतलियां स्थापित हों । ईहामृग, वृषभ, तुरंग, नर (मनुष्य), मगर, विहग (पक्षी), सर्प, किन्नर, रूरू (मृगों की एक जाति विशेष— बारहसिंगा अथवा कस्तूरीमृग), सरभ (अष्टपाद) चमरी गाय, हाथी, वनलता, पद्मलता आदि के चित्र चित्रित हों । जो स्तम्भों पर बनी वज्र रत्नों की वेदिका से युक्त होने के कारण रमणीय दिखलाई दे । समश्रेणी में स्थित विद्याधरों के युगल यंत्रचालित जैसे दिखलाई दे । हजारो किरणों से व्याप्त एवं हजारों रूपको चित्रों से युक्त होने से जो देदीप्यमान और अतीव देदीप्यमान जैसे प्रतीत हो । देखते ही दर्शकों के नयन जिसमें चिपक जायें । जिसका स्पर्श सुखप्रद और रूप शोभा - सम्पन्न हो । हिलने डुलने पर जिसमें लगी हुई घंटवलि से मधुर और मनोहर शब्द-ध्वनि हो रही हो । जो वास्तुकला से युक्त होने के कारण शुभ कान्त-कमनीय और दर्शनीय हो । निपुण शिल्पियों द्वारा निर्मित, देदीप्यमान मणियों और रत्नों के घुंघरुओं से व्याप्त हो, एक लाख योजन विस्तार वाले हो । दिव्य तीव्रगति से चलने की शक्ति-सामर्थ्य सम्पन्न एवं शीघ्रगामी हो ।

इस प्रकार के यान-विमान की विकुर्वणा-रचना करने का आदेश दिया ।^{१६१}

आभियोगिक देवों द्वारा विमानरचना

विमान रचना के लिए प्रवृत्त होने के बाद सर्व प्रथम आभियोगिक देवों ने उस दिव्ययान-विमान की तीन दिशाओं-पूर्व, दक्षिण और उत्तर में विशिष्ट रूप-शोभासंपन्न तीन सोपानों (सोढ़ियों) वाली तीन सोपान पंक्तियों की रचना की । वे रूपशोभा संपन्न सोपान पंक्तियां इस प्रकार की थीं-

इनकी नेम (भूमि से ऊपर निकला प्रदेश, वेदिका) वज्ररत्नों से बनी हुई थी । रिष्ट रत्नमय इनके प्रतिष्ठान (पैर रखने को स्थान) और वैडूर्य रत्नमय स्तम्भ थे । स्वर्ण-रजत मय फलक (पाटिये) थे । लोहिताक्ष रत्नमयी इनमें सूचियाँ-कीले लगी थीं । वज्ररत्नों से इनकी संधियां (सांधे) भरी हुई थीं । चढने-उतरने में अवलंबन के अनेक प्रकार के मणिरत्नों से बनी इनकी अवलंबनवाहा थीं तथा ये

त्रिसोपान पंक्तिया मन को प्रसन्न करने वाली यावत् असाधारण सुन्दर थी ।

इन दर्शनीय मनमोहक प्रत्येक त्रिसोपान-पंक्तियों के आगे तोरण बंधे हुए थे । उन तोरणों का वर्णन निम्न प्रकार का है-

वे तोरण मणियों से बने हुए थे । गिर न सके, इस विचार से विविध प्रकार के मणिमय स्तंभों के ऊपर भली-भांति निश्चल रूप से बांधे गये थे । बीच के अन्तराल विविध प्रकार के मोतियों से निर्मित रूपकों से उपशोभित थे और सलमा सितारों आदि से बने हुए तारारूपकों-बेल कूटों से व्याप्त यावत् (मन को प्रसन्न करने वाले, दर्शनीय, अभिरूप, मनाकर्षक और) अतीव मनोहर थे ।

उन तोरणों के ऊपरी भाग में स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्दिकावर्त, वर्धमानक भद्रासन, कलश, मत्स्ययुगल और दर्पण, इन आठ-आठ मांगलिकों की रचना की । जो (सर्वात्मना रत्नों से निर्मित अतीव स्वच्छ, चिकने, घर्षित, मृष्ट, नीरज, निर्मल, निष्कलंक, दीप्त-प्रकाशमान चमकीले थे । शीतल प्रभायुक्त मनाह्लादक दर्शनीय अभिरूप और प्रतिरूप थे ।

उन तोरणों के ऊपर स्वच्छ निर्मल सलौनी, रजतमय पट्ट से शोभित वज्रनिर्मित डंडियोवाली है । कमलों जैसा सुरभि गंध से सुगंधित, रमणीय और आह्लादक, दर्शनीय मनोहर, अतीव मनोहर, बहुत सी कृष्ण चामर ध्वजाओं वाला (नील चामर ध्वजाओं, लाल चामर ध्वजाओं, पीली चामर ध्वजाओं और श्वेत चामर ध्वजाओं की रचना करते हैं ।

उन तोरणों के शिरोभाग में निर्मल यावत् अत्यन्त शोभनीय रत्नों से बने हुए अनेक छत्रातिछत्रों (एक छत्र के उपर दूसरा छत्र), पताकातिपताकाओं, घंटायुगल, उत्पल (श्वेतकमल) कुमुद, नलिन, सुभग, सौगन्धिक, पुंडरिक, महापुंडरिक, शतपत्र, सहस्रपत्र कमलों के झूमकों को लटकाया है ।

सोपानों आदि की रचना करने के अनन्तर उस आभियोगिक देवों ने उस दिव्ययान-विमान के अन्दर एकदम समतल भूमिमाग-स्थान की विक्रिया की । वह भूभाग आर्लिगपुष्कर (मुरज का ऊपरी भाग), मृदंग पुष्कर, पूर्ण रूप से भरे हुए सरोवर के ऊपरी भाग, करतल (हथेली), चन्द्रमंडल, सूर्यमंडल, दर्पण मंडल अथवा शंकु जैसे बड़े-बड़े खीलों को ठोक और खींचकर चारों ओर से सम किये गये भेड़, बैल, सुअर, सिंह, व्याघ्र, बकरी और भेड़िये के चमड़े के समान अत्यन्त रमणीय एवं सम था ।

वह सम भूमिमाग अनेक प्रकार के आवर्त, प्रत्यावर्त, श्रेणि, प्रश्रेणि, स्वस्तिक, पुष्पमाणव, शराबसंपुट, मत्स्यांड, मकराण्ड, जार मार आदि शुभलक्षणों और कृष्ण, नील, लाल, पीले और श्वेत इन पांच वर्णों की मणियों से उपशोभित था और उनमें कितनी, ही मणियों में पुष्पलताओं, कमलपत्रों, समुद्रतरंगों, वसंतमालाओं, पद्मलताओं, आदि के चित्र बने हुए थे तथा वे सभी मणियां, निर्मल, चमकदार किरणों वाली उद्योत-शीतल प्रकाश वाली थीं ।

मणियों का वर्ण :-

मणियों की कृष्ण वर्ण वाली मणियां क्या सचमुच में सघन मेघ घटाओं अंजन-सुरमा, संजन (गाड़ी के पहिये की कीच) काजल, काली स्याही की गोली, भैसे के सींग की गोली, भ्रमर पंक्ति, भ्रमर, पंख, जामुन, कच्चे अरोठे के बीज अथवा कौए के बच्चे, कोयल, हाथी के बच्चे, कृष्ण सर्प, कृष्ण बकुल, शरद ऋतु के मेघरहित आकाश, कृष्ण अशोक वृक्ष, कृष्ण कनेर, कृष्ण बंधुजीवक (दोपहर में फूलने वाला वृक्ष-विशेष) जैसी काली थीं ?

ये सभी तो उपमाये हैं । वे काली मणियां तो इन सभी उपमाओं से भी अधिक इष्टतर, कांततर (कांति-प्रभाववाली), मनोजतर और अतीव मनोहर कृष्ण वर्ण वाली थीं ।

उनमें से नील वर्ण की मणियाँ क्या भृंगकीट, भृंग के पंख, शुक (तोता), शुकपंख, चाण पक्षी (चातक), चाव पंख, नील के अंदर का भाग, नील गुटिका, सावा (धान्य), उच्चन्तक (दातों को नीला रंगने का चूर्ण) वनराजि, बलदेव के पहनने के वस्त्र, मोर की गर्दन, कबूतर की गर्दन, अलसी के फूल, बाणपुष्प, अंजन कोशी के फूल, नीलकमल, नीले अशोक, नीले कनेर और नीले बंधुजीवक जैसी नीली थीं ?

वे नीली मणियां तो इन उपमेय पदार्थों से भी अधिक इष्टतर, अतीव मनोहर नील वर्ण वाली थीं ।

उन मणियों में की लोहित (लाल) रंग की मणियों का रंग सचमुच में क्या शशक (खरगोश) के खून, भेड़ के रक्त, सुअर के रक्त, मनुष्य के रक्त, भैंसों के रक्त, बाल, इन्द्रगोप, प्रातःकालीन सूर्य, संध्याराग (संध्या के समय होने वाली लालिमा), गुंजाफल (घुंघची) के आधे भाग, जपापुष्प, किंशुक पुष्प (केसुडा के फूल), परिजातकुसुम, शुद्ध हिंगुलुक (खनिजपदार्थ-विशेष), प्रबाल (मूंगा), प्रवाल

के अंकुर, लोहिताक्ष मणि, लाख के रंग, कृमिराग (अत्यन्त) गहरे लाल रंग से रंगे कंबल, चीणा (धान्य विशेष) के आटे, लाल कमल, लाल अशोक, लाल कनेर अथवा रक्त बंधुजीवक जैसा लाल था ?

ये पदार्थ उनकी लालिमा का बोध कराने में समर्थ नहीं हैं। वे मणियाँ तो इनसे भी अधिक इष्ट यावत् अत्यन्त मनोहर रक्त (लाल) वर्ण की थीं।

उन मणियों में की पीले रंग की मणियों का पीतरंग क्या सचमुच में स्वर्ण चंपा, स्वर्ण चंपा की छाल, स्वर्ण चंपा के अंदर का भाग, हल्दी हल्दी के अंदर का भाग, हल्दी की गोली, हरताल (खनिज-विशेष), हरताल के अंदर का भाग, हरताल की गोली, चिकुर (गंधद्रव्य-विशेष) चिकुर के रंग से रंगे वस्त्र, शुद्ध स्वर्ण की कसौटी पर खींची गई रेखा, वासुदेव के वस्त्रों, सल्लकी (वृक्ष-विशेष) के फूल, चंपाकुसुम, कूष्मांड (कदू-कोला) के फूल, कोरंटक पुष्प की माला, तडवडा (आंवला) के फूल-घोषातिकी पुष्प, सुवर्णयुधिका, जूही के फूल, सुहिरण्य के फूल, बीजक के फूल, पीले अशोक, पीली कनेर अथवा पीले बंधुजीवक जैसा पीला था ?

उन मणियों में जो श्वेत वर्ण की मणियाँ थीं क्या वे अंक रत्न, शंख, चंद्रमा, कुमुद, शुद्ध जल, ओस बिंदु, दही, दुध, दुध के फेन, कोंच पक्षी की पंक्ति, मोतियों के हार, हंस पंक्ति, बलाका पंक्ति, चन्द्रमा की पंक्ति (जाल के मध्य में प्रतिबिम्बित चन्द्रपंक्ति), शरद ऋतु के मेघ, अग्नि में तपाकर धोये गये चांदी के पतरे, चावल के आटे, कुन्दपुष्प-समूह, कुमुद पुष्प के समूह, सूखी सिम्बा फली (सेम की फली), मयूरपिच्छ का सफेद मध्य भाग, विस-मृणाल, मृणालिका, हाथी के दाँत, लोंग के फूल, पुंडरीक कमल (श्वेतकमल) श्वेत अशोक, श्वेत कनेर अथवा श्वेत बंधुजीवक जैसी श्वेत वर्ण की थीं ?

वे श्वेत मणियाँ तो इनसे भी अधिक इष्टतर, यावत् सरस, मनोहर आदि मनोज्ञ श्वेत वर्ण वाली थीं।

मणियों का गन्ध - वर्णन

उस दिव्य यान विमान के अन्तर्वर्ती सम भूभाग में खचित मणियाँ सुरभिगंध वाली थीं जैसी कोष्ठ (गन्धद्रव्य-विशेष) तगर, इलाइची, चोया, चंपा, दमनक, कुंकुम, चंदन, उशीर (खश), मरूआ (सुगंधित पौधा विशेष), जाई पुष्प, जुही, मल्लिका, स्नान-मल्लिका, केतकी, पाटल, नवमल्लिका, अगर, लवंग, वास

कपूर और कपूर के पुडों को अनुकूल वायु में खोलने पर, कूटने पर, तोड़ने पर उत्कीर्ण करने पर, बिखेरने पर, उपभोग करने पर, दूसरों को देने पर, एक पात्र से दूसरे पात्र में रखने पर (उडेलने पर), उदार, आकर्षक, मनोज्ञ, मनहर, घ्राण और मन को शांतिदायक गंध सभी दिशाओं में मधमधाती हुई फैलती है, महकती है।

मणियों का स्पर्श—

उन मणियों का स्पर्श अजिनक (चर्म का वस्त्र अथवा मृगछाला), रूई, बूर (वनस्पति विशेष), मक्खन, हंसगर्भ नामक रूई विशेष, शिरीष पुष्पों के समूह अथवा नवजात कमलपत्रों की राशि जैसा कोमल था। वे मणियां तो इनसे भी अधिक इष्टतर यावत् (सरस, मनोहर और मनोज्ञ कोमल) स्पर्शवाली थीं।

प्रेक्षागृह-निर्माण

आभियोगिक देवों ने उस दिव्य यान विमान के अंदर बीचों-बीच एक विशाल प्रेक्षागृह मंडप की रचना की।

वह प्रेक्षागृह मंडप अनेक सैकड़ों स्तम्भों पर संनिविष्ट (स्थित) था। अभ्युन्नत-ऊँची एवं सुरचित वेदिकाओं, तोरणों तथा सुंदर पुतलियों से सजाया गया था। सुंदर विशिष्ट रमणीय संस्थान-आकार-वाली प्रशस्त और विमल वैदूर्य मणियों से निर्मित स्तम्भों से उपशोभित था। उसका भूमिभाग विविध प्रकार की उज्ज्वल मणियों से खचित, सुविभक्त एवं अत्यन्त सम था। उसमें ईहामृग (भेडिया), वृषभ, तुरंग-घोडा, नर मगर, विहग-पक्षी, सर्प, किनर, रूरु (कस्तुरी मृग), सरभ (अष्टापद), चमरी गाय, कुंजर (हाथी), वनलता, पद्मलता आदि के चित्र चित्रित थे। स्तम्भों के शिरोभाग में वज्र रत्नों से बनी हुई वेदिकाओं से मनोहर दिखता था। यंत्रचालित-जैसे विद्याधर युगलों से सुशोभित था। सूर्य के सदृश हजारों किरणों से सुशोभित एवं हजारों सुंदर घंटाओ से युक्त था। देदीप्यमान और अतीव देदीप्यमान होने से दर्शकों के नेत्रों को आकृष्ट करने वाला सुखप्रद स्पर्श और रूप-शोभा से सम्पन्न था। उस पर स्वर्ण, मणि एवं रत्नमय स्तुप बने हुए थे। उसके शिखर का अग्र भाग नाना प्रकार की घंटियों और पंचरंगी पताकाओं से परिमंडित-सुशोभित था। और अपनी चमचमाहट एवं सभी और फैल रही किरणों के कारण चंचल सा दिखता था। उसका प्रांगण गोबर से लिपा था और दिवारे सफेद मिट्टी से पुती थीं। स्थान-स्थान पर सरस गौशीर्ष

रक्तचंदन के हाथ लगे हुए थे और चंदनचर्चित कलश रखे थे । प्रत्येक द्वार तोरणो और चन्दन-कलशों से शोभित था । दीवालोंने पर ऊपर से लेकर नीचे तक सुगंधित गोल मालायें लटक रही थी । सरस सुगन्धित पंचरंगी पुष्पो के माडने बने हुए थे । उत्तम कृष्ण अगर मंडप कुन्दरूष्क, तुरूष्क और धूप की मोहक सुगंध से महक रहा था और उस उत्तम सुरभि गंध से गंध की वर्तिका (अगरबत्ती, धूपबत्ती) प्रतीत होता था । अप्सराओं के समुदायों के गमनागमन से व्यापत था । दिव्य वाद्यों के निनाद से गूँज रहा था । वह स्वच्छ यावत् (सलौना, अभिरूप) था ।

उस प्रेक्षागृह मंडप के अंदर अतीव सम रमणीय भू-भाग की रचना की । उस भूमि-भाग में खचित मणियों के रूप-रंग, गंध आदि का समस्त वर्णन पूर्ववत् है ।

उस सम और रमणीय प्रेक्षागृह मंडप की छत में पद्मलता आदि के चित्रों से युक्त यावत् (स्वच्छ), सलौना, चिकना, घृष्ट, नीरज, निर्मल, निष्पंक, अप्रतिहतदीप्ति, प्रभा, किरणों वाला, उद्योत वाला, मन को प्रसन्न करने वाला, दर्शनीय, अभिनव, अतीव मनोहर चंद्रवा बांधा था ।

रंगमंच आदि की रचना

उस सम रमणीय भूमिभाग के भी मध्यभाग में वज्ररत्नों से निर्मित एक विशाल अक्षपाट (अखाड़े-क्रीडामंच) की रचना करके उस क्रीडामंच के ठीक बीचोंबीच आठ योजन लंबी-चौड़ी और चार योजन मोटी पूर्णतया वज्ररत्नों से बनी हुई निर्मल, चिकनी प्रतिरूप एक विशाल मणिपीठिका की विकुर्वणा की । जिसका वर्णन प्रेक्षागृह के समान है ।

सिंहासन की रचना-

मणिपीठिका के ऊपर एक महान सिंहासन बनाया । उस सिंहासन के चकला (पायों के नीचे के गोल भाग) सोने के, सिंहाकृति वाले हत्थे रत्नों के पाये सोने के, पादशीर्षक अनेक प्रकार को मणियों के और बीच के गीते जाम्बीनद (विशिष्ट स्वर्ण) के थे । उसकी संधियाँ (सांधे) वज्ररत्नों से भरी हुई थी और मध्यभाग की बुनाई का वेंत बाण (निवार) मणिमय था ।

उस सिंहासन पर ईहामृग, वृषभ, तुरग-अश्व, नर, मगर, विहग-पक्षी, सर्प, किन्नर, रूरु, सरभ (अष्टापद), चमर अथवा चमरी गाय, हाथी, वनलता, पद्मलता

आदि के चित्र बने हुए थे । सिंहासन के सामने स्थापित पाद-पीठ सर्वश्रेष्ठ मूल्यवान मणियों और रत्नों का बना हुआ था । उस पादपीठ पर पैर रखने के लिए बिछा हुआ मसूरक (गोल आसन) नवतृण, कुशाग्र और केसर तंतुओं जैसे अत्यन्त सुकोमल सुन्दर आस्तरक से ढका हुआ था । उसका स्पर्श आजिनक (चर्म का वस्त्र), (मृग छाला) रूई, बूर, मक्खन और आक की रूई जैसा मृदु-कोमल था । वह सुंदर सुरचित रजस्त्राण से आच्छादित था । उस पर कसीदा काढ़े क्षोम दुकूल (रूई से बने वस्त्र) का चद्दर बिछा हुआ था और अत्यन्त रमणीय लाल वस्त्र से आच्छादित था । जिससे वह सिंहासन अत्यन्त रमणीय, मन को प्रसन्न करने वाला, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप अतीव मनोहर दिखता था ।

उस सिंहासन के ऊपरी भाग में शंख, कुंदपुष्प, जलकण, मधे हुए क्षीरोदधि के फेनपुंज के सदृश प्रभावले रत्नों से बने हुए, स्वच्छ, निर्मल, स्निग्ध, प्रासादिक, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप एक विजयदूष्य (वस्त्र विशेष, छत्राकार जैसे चंदेवे) को बांधा ।

उस सिंहासन के ऊपरी भाग में बंधे हुए विजयदूष्य के बीचों-बीच वज्ररत्नमय एक अंकुश (अंकुडिया) लगाया ।

उस वज्र रत्नमयी अंकुश में (मगध देश में प्रसिद्ध) कुंभ परिणाम जैसे एक बड़े मुक्तादाम (मोतियों के झूमर-फानूस) को लटकाया और वह कुंभपरिमाण वाला मुक्तादाम भी चारों दिशाओं में उसके परिमाण से आधे अर्थात् अर्धकुंभ परिमाण वाले और दूसरे चार मुक्तादामों से परिवेष्टित था ।

वे सभी दाम (झूमर) सोने के लंबूसकों (गेंद जैसे आकार वाले आभूषणों), विविध प्रकार की मणियों, रत्नों अथवा विविध प्रकार के मणिरत्नों से बने हुए हारों, अर्ध हारों के समुदायों से शोभित हो रहे थे और पास-पास टंगे होने से लटकने से जब पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर की मंद-मंद हवा के झोकों से हिलते-डुलते तो एक दूसरे से टकराने पर विशिष्ट, मनोज्ञ, मनहर, कर्ण एवं मन को शांति प्रदान करने वाली रूनझुन शब्द-ध्वनि से समीपवर्ती समस्त प्रदेश को व्याप्त करते हुए अपनी श्री-शोभा से अतीव-अतीव शोभित होते थे ।

सिंहासन की चतुर्दिग्वर्ती भद्रासन-रचना

आभियोगिक देव ने उस सिंहासन के पश्चिमोत्तर(वायव्य लोक), उत्तर और उत्तर पूर्व दिग्भाग (ईशान कोण) में सूर्याभदेव के चार हजार सामानिक देवों के बैठने के लिए चार हजार भद्रासनों की रचना की ।

पूर्व दिशा में सूर्याभ देव की परिवार सहित चार अग्र महिषियों के लिए चार हजार भद्रासनों की रचना की ।

दक्षिणपूर्व दिशा में सूर्याभ देव की आभ्यन्तर परिषद के आठ हजार देवों के लिये आठ हजार भद्रासनों की रचना की । दक्षिण दिशा में मध्यम परिषद के देवों के लिए दस हजार भद्रासनों की, दक्षिण-पश्चिम दिग्भाग में बाह्य परिषदा के बारह हजार देवों के लिए बारह हजार भद्रासनों की और पश्चिम दिशा में सप्त अनीकाधिपतियों के लिए सात भद्रासनों की रचना की ।

तत्पश्चात् सूर्याभदेव के सोलह हजार आत्मरक्षक देवों के लिए क्रमशः पूर्व दिशा में चार हजार, दक्षिण दिशा में चार हजार, पश्चिम दिशा में चार हजार और उत्तर दिशा में चार हजार, इस प्रकार कुल मिलाकर सोलह हजार भद्रासनों को स्थापित किया ।

सूर्याभदेव की जिज्ञासा का समाधान

सूर्याभ देव के प्रश्न पुछने पर भगवान् महावीर ने उत्तर दिया है-तुम भवसिद्धिक-भव्य हो, अभवसिद्धिक-अभव्य नहीं हो, यावत् चरम शरीरी हो अर्थात् इस भव के पश्चात् का तुम्हारा मनुष्यभव अंतिम होगा, अचरम शरीर नहीं हो अर्थात् हे सूर्याभ ! तुम भव्य हो, सम्यग् दृष्टि हो, परिमित संसार वाले हो, तुम्हें बोधि की प्राप्ति सुलभ है, तुम आराधक हो और चरम शरीरी हो ।

सूर्याभविमान के द्वारों का वर्णन

सूर्याभदेव के विमान की एक-एक बाजू में एक-एक हजार द्वार कहे गये हैं, अर्थात् उस विमान की पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण इन चारों दिशाओं में प्रत्येक में एक-एक हजार द्वार हैं ।

ये प्रत्येक द्वार पाँच-पाँच सौ योजन ऊँचे हैं, अढाई सौ योजन चौड़े हैं और इतना ही (अढाई सौ योजन) इनका प्रवेशन-गमनागमन के लिए घुसने का

स्थान- है । ये सभी द्वार श्वेत वर्ण के हैं । उत्तम स्वर्णमयी स्तुपिकाओं-शिखरों से सुशोभित हैं । उन पर ईहामृग, वृषभ, अश्व, नर, मकर, विहग, सर्प, किन्नर, रुरू, सरभ-अष्टापद, चमर, हाथी, वनलता, पद्मलता आदि के चित्र चित्रित हैं ।

स्तम्भों पर बनी हुई वज्र रत्नों की वेदिका से युक्त होने के कारण रमणीय दिखाई पड़ते हैं । समश्रेणी में स्थित विद्याधरों के युगल यन्त्र द्वारा चलते हुए-से दीख पड़ते हैं । वे द्वारा हजारों किरणों से व्याप्त और हजारों रूपकों-चित्रों से युक्त होने से दीप्यमान और अतीव देदीप्यमान हैं । देखते ही दर्शकों के नयन उनमें चिपक जाते हैं । उनका स्पर्श सुखप्रद है । रूप शोभासम्पन्न है ।

इन द्वारों का वर्ण स्वरूपवर्णन निम्न प्रकार है-उन द्वारों के नेम (भूभाग से ऊपर निकलते प्रदेश) वज्र रत्नों से प्रतिष्ठान (मूल पाये) रिष्टरत्नों से-स्तम्भ वैदूर्य मणियों से तथा तलभाग स्वर्णजडित पंचरंगे मणि रत्नों से बने हुए हैं । इनकी देहलियाँ हंसगर्भ रत्नों की, इन्द्रकीलियाँ गोमेद रत्नों की, द्वारशाखायें लोहिताक्ष रत्नों की, उत्तरंग (ओतरंग-द्वार के ऊपर पाटने के लिये तिरछा रखा पाटिया) ज्योतिरस रत्नों के, दो पाटियों को जोड़ने के लिये ठोकी गई कीलियाँ लोहिताक्ष रत्नों की हैं और उनकी सांधे वज्र रत्नों से भरी हुई हैं । समुद्रगक (कीलियों का ऊपरी हिस्सा-टेपी) विविध मणियों के हैं । अर्गलाये अर्गलापाशक (कुंदा) वज्ररत्नों के हैं । आवर्तन पीठिकाये (इन्द्रकीली का स्थान) चाँदी की हैं । उत्तरपार्श्वक (बेनी) अंक रत्नों के हैं । इनमें लगे किवाड़ इतने सटे हुए सघन हैं कि बन्द करने पर थोड़ा-सा भी अन्तर नहीं रहता है । प्रत्येक द्वार की दोनों बाजुओं की भीतों में एक सौ अड़सठ-एक सौ अड़सठ सब मिलाकर तीन सौ छप्पन भित्तिगुलिकायें (देखने के लिये गोल-गोल गुप्त झरोखे) हैं और उतनी ही गोमानसिकायें-बैठके हैं । प्रत्येक द्वार पर अनेक के मणि रत्नमणि व्यालरूपो-सर्पों-से क्रीडा करती पुतलियाँ बनी हुई हैं । अथवा सर्परूप धारिणी अनेक प्रकार के मणि-रत्नों से निर्मित क्रीडा करती हुई पुतलियाँ इन द्वारों पर बनी हुई हैं । इनके माड़ वज्ररत्नों के और माड़ के शिखर चाँदी के हैं और द्वारों के ऊपरी भाग स्वर्ण के हैं । द्वारों के जालीदार झरोखे भाँति-भाँति के मणि-रत्नों से बने हुए हैं । मणियों के बांसो का छप्पर है और बांसों को बाँधने की खपपियाँ लोहिताक्ष रत्नों की हैं । रजतमयी भूमि है अर्थात् छप्पर पर चाँदी की परत बिछी हुई है । उनकी पाखें और पाखों की बाजुयें अंकरत्नों की हैं । छप्पर के नीचे

सीधी और आड़ी लगी हुई वल्लियाँ तथा कबेलू ज्योतिरस-रत्नमयी हैं । उनकी पाटियाँ चांदी की हैं । अवघाटनियाँ (कबेलुओं ढक्कन) स्वर्ण की बनी हुई हैं । प्रोच्छानियाँ (टाटियाँ) वज्ररत्नों की हैं । टाटियों के ऊपर और कबेलुओं के नीचे के आच्छादन सर्वात्मना श्वेत-धवल और रजतमय हैं । उनके शिखर अंकरत्नों के हैं और उन पर तपनीय-स्वर्ण की स्तूपिकायें बनी हुई हैं । ये द्वार शंख के समान विमल, दही एवं दुग्धफेन और चाँदी के ढेर जैसी श्वेतप्रभा वाले हैं । उन द्वारों के ऊपरी भाग में तिलकरत्नों से निर्मित अनेक प्रकार के अर्धचंद्रों के चित्र बने हुए हैं । अनेक प्रकार की मणियों की मालाओं से अलंकृत हैं । वे द्वार अंदर और बाहर अत्यन्त स्निग्ध और सुकोमल हैं । उनमें सोने के समान पीली बालुका बिछी हुई है । सुखद स्पर्श वाले रूपशोभासम्पन्न, मन को प्रसन्न करने वाले, देखने योग्य, मनोहर और अतीव रमणीय हैं ।

उन द्वारों की दोनों बाजुओं की दोनों निशीधिकाओं (बैठकों) में सोलह-सोलह चंदन-कलशों की पंक्तियाँ हैं, ये चन्दन कलश श्रेष्ठ उत्तम कमलों पर प्रतिष्ठित-रखे हैं, उत्तम सुगन्धित जल से भरे हुए हैं, चन्दन के लेप से चर्चित-मंडित, विभूषित हैं, उनके कंठों में कलावा (रक्तवर्ण सूत) बंधा हुआ है और मुख पद्मोत्पल के ढक्कनों से ढँके हुए है । ये सभी कलश सर्वात्मना रत्नमय हैं, निर्मल, निष्कलंक, निरावरण, दीप्ति, कान्ति, तेज और उद्योत-प्रकाशयुक्त, मन को प्रसन्न करने वाले, दर्शनीय, मनोहर बृहत् इन्द्रकुंभ जैसे विशाल एवं अतिशय रमणीय हैं ।

इन द्वारों की उभय पार्श्ववर्ती दोनों निशीधिकाओं में सोलह-सोलह नागदन्तों (खूटियों-नकूचों) की पंक्तियाँ हैं।

ये नागदन्त मोतियों और सोने की मालाओं में लटकती हुई गवाक्षाकार (गाय की आँख) जैसी आकृति वाले घुंघरूओं से युक्त छोटी-छोटी घंटिकाओं से परिवेष्टित-व्याप्त, घिरे हुए हैं । इनके अग्रभाग ऊपर की ओर उठा और दीवाल से बहार निकलता हुआ है एव पिछला भाग अन्दर दिवाल में अच्छी तरह से घुसा हुआ है और आकार सर्प के अधोभाग जैसा है । अग्रभाग का संस्थान सर्पार्ध के समान है । वे वज्ररत्नों से बने हुए हैं । बड़े-बड़े गजदन्तों जैसे ये नागदन्त अतिशय शोभाजनक हैं ।

सभी नागदंतो पर काले सूत्र से गूथी हुई तथा नीले, लाल, पीले और सफेद डोरे से गूथी हुई लंबी-लंबी मालायें लटक रही हैं। वे मालायें सोने के झूमकों और सोने के पत्तों से परिमंडित तथा नाना प्रकार के मणि-रत्नों से रचित विविध प्रकार के शोभनीक हारों-अर्धहारों के अभ्युदय (पास-पास टंगे होने से पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर की हवा के मंद-मंद झोंकों से हिलनेडुलने और एक दूसरे से टकराने पर विशिष्ट, मनोज्ञ, मनहर कर्ण और मन को शांति प्रदान करने वाली ध्वनि से समीपवर्ती समस्त प्रदेश को व्याप्त करते हैं।

ये नागदंतों के भी ऊपरी अन्य-दूसरी सोलह-सोलह नागदंतो की पंक्तियाँ हैं। पूर्ववर्णित नागदंतों की तरह ये नागदंत भी विशाल गजदंतों के समान हैं।

इन नागदंतों पर बहुत से रजतमय शीके (छींके) लटके हैं। इन प्रत्येक रजतमय शीके में वैदूर्य-मणियों से बनी हुई धूप-घटिकायें रखी हैं।

ये धूपघटिकायें काले अगर, श्रेष्ठ कुन्दरूष्क, तुरुष्क (लोभान) और सुगंधित धूप के जलने से उत्पन्न मधमघाती मनमोहक सुगन्ध के उड़ने एवं उत्तम सुरभि-गंध की अधिकता से गंधवर्तिका के जैसी प्रतीत होती हैं तथा सर्वोत्तम मनोज्ञ, मनोहर, नासिका और मन को तृप्तिप्रदायक गंध से उस प्रदेश को सब तरफ से अधिवासित करती हुई यावत् अपनी श्री से अतीव-अतीव शोभायमान हो रही हैं।

द्वारस्थित पुतलियां

द्वारों की दोनों बाजुओं की दोनों निषीधिकाओं में सोलह-सोलह जालकटक (जाली झरोखों से बने प्रदेश) हैं, ये प्रदेश सर्वरत्नमय हैं।

ये पुतलियाँ विविध प्रकार की लीलायें-(क्रीड़ायें) करती हुई, सुप्रतिष्ठित-मनोज्ञ रूप से स्थित सब प्रकार के आभूषणों-अलंकारों से शृंगारित, अनेक प्रकार के रंग-बिरंगे परिधानों-वस्त्रों एवं मालाओं से शोभायमान, मुट्टी प्रमाण (मुट्टी में समा जाने योग्य) कृश-पतले मध्य भाग (कटि प्रदेश) वाली, शिर पर ऊँचा अंबोडा-जूड़ा बांधे हुए और समश्रेणि में स्थित हैं। वे सहवर्ती, अभ्युन्नत-ऊँचे, परिपुष्ट-मांसल, कठोर, भगवदार-पीवर-स्थूल गोलाकार पयोधरों-स्तनों वाली, लालिमा युक्त नयनान्तभाग वाली, सुकोमल, अतीव निर्मल, शोभनीय सघन घुंघराली काली-काली कजरारी केशराशि वाली, उत्तम अशोक वृक्ष का सहारा

लेकर खड़ी हुई और बायें हाथ से अग्र शाखा को पकड़े हुए अर्ध निमीलित नेत्रों की ईषत् वक्र कटाक्ष-रूप चेष्टाओं द्वारा देवों के मनो को हरण करती हुई-सी और एक दूसरे को देखकर परस्पर खेद-खिन्न होती हुई-सी, पार्थिवपरिणाम (मिट्टी से बनी) होने पर भी शाश्वत-नित्य विद्यमान, चंद्रार्धतुल्य ललाट वाली, चंद्र से भी अधिक सौम्य कांतिवाली, उल्का-खिरते तारे के प्रकाश पुंज की तरह उद्योत वाली-चमकीली विद्युत (मेघ की बिजली) की चमक एवं सूर्य के देदीप्यमान तेज से भी अधिक प्रकाश-प्रभावाली, अपनी सुंदर वेशभूषा से शृंगार रस के गृह-जैसी और दर्शनीय मनोहर हैं ।^{१६२}

इन द्वारों की उभय पार्श्ववर्ती दोनों निषीधिकाओं में सोलह-सोलह घंटाओ की पंक्तियाँ हैं । वे प्रत्येक घंटे जाम्बूनद स्वर्ण से बने हुए हैं, उनके लोलक वज्ररत्नमय हैं, भीतर और बाहर में विविध प्रकार के मणि जड़े हैं, लटकाने के लिये बंधी हुई साँकलें सोने की और रस्सियाँ (डोरियाँ) चाँदी की हैं ।

उनके बाजूओं में वनमालाओं की परिपाटियाँ हैं । ये वनमालायें अनेक प्रकार की मणियों से निर्मित द्रुमों-वृक्षों, पौधों, लताओं, किसलयों (नवीन कोपलों) और पल्लवों-पत्तों से व्याप्त हैं । मधुपान के लिये बारंबार षटपदों-भ्रमरों के द्वारा स्पर्श किये जाने से सुशोभित ये वनलतायें हैं ।

द्वारों की उभय पार्श्ववर्ती दोनों निषीधिकाओं में प्रकंठक (वेदिका रूप पीठविशेष चबूतरा) हैं ।

ये प्रत्येक प्रकंठक अठई सौ योजन लंबे अठई सौ योजन चौड़े और सवा सौ योजन मोटे हैं तथा सर्वात्मना रत्नों से बने हुए हैं ।^{१६३}

वाद्यों और वाद्यवादकों की रचना

सूर्याभदेव ने एक सौ आठ देवकुमारों और देवकुमारियों की विकुर्वणा करने के बाद उसने एक सौ आठ शंखों की और एक सौ आठ शंखवादकों की विकुर्वणा की । इसी प्रकार से एक सौ-आठ-एक सौ आठ शृंगो-रणसिंगों और उनके वादकों-बजाने वालों की, शंखिकाओं (छोटे शंखों) और उनके वादकों की, खरमुखियों और उनके वादकों, पेयों और उनके वादकों की, परिपिरीकाओं और उनके वादकों की विकुर्वणा की । इस प्रकार कुल मिलाकर ४९ प्रकार के वाद्यों और उनके बजाने वालों की विकुर्वणा की । वह निम्न प्रकार से-

१. शंख २) शृंग (रणसिंगा) ३. शंखिका (छोटे शंख) ४. खरमुखी. ५. पेया, ६. पिरिपिरिका, ७. पणव-ढोल, ८. पटह-नगाडा, ९. भंभा, १०. होरम्भ, ११. भेरी, १२. झालर १३. दुन्दुभि, १४. मुखज १५. मृदंग १६. नन्दीमृदंग, १७. आर्लिंग १८. कुस्तुंबा १९. गोमुखी २०. मादला २१. वीणा २२. विपंची २३. वल्लकी २४. षडभ्रामरी वीणा २५. भ्रामरी वीणा २६. बहवीसा, २७. परिवादिनी, वाणी २८. सुघोषा घंट २९. नन्दीघोष घंट, ३०. सो तार की वीणा ३१. काछवी वीणा, ३२. चित्र वीणा, ३३. आमोट; ३४. झंझा; ३५. नकुल; ३६. तृण; ३७. तुंबवीणा; तम्बूर; ३८. मुकिन्द-मुखज सरीखा एक वाद्य विशेष ३९. हुडुक्क; ४०. विचिकी ४१. करटी ४२. डिडिम, ४३. किणिक; ४४. कडंब; ४५. दर्दर; ४६. दर्दरिका; ४७. कलाशिका; ४८. मडक्क; ४९. तल; ५०. ताल; ५१. कांस्य ताल; ५२. रिंगरिसिका; ५३. लत्तिका; ५४. मकरिका ५५. शिशुमारिका; ५६. वाली; ५७. वेणुं; ५८. परिली; ५९. बहदका^{१६४}

वाद्यों के मूल भेद तो उनपचास ही हैं । शेष दश उनके अवान्तरभेद हैं ।

सूर्याभ देव के द्वारा नाट्यविधियों

सूर्याभदेव के द्वारा भगवान श्री महावीर स्वामी के सन्मुख बत्तीस प्रकार की नाट्यविधियों का प्रदर्शन निम्न प्रकार-

१. स्वस्तिकादि अष्टमंगलाकर अभिनयरूप प्रथम नाट्यविधि ।
२. आवर्त प्रत्यावर्त यावत् पद्मलताभक्ति चित्राभिनयरूप द्वितीय नाट्यविधि ।
३. ईहामृगवृषभतुरगनर यावत् पद्मलताभक्ति चित्रात्मक तृतीय नाट्यविधि ।
४. एकताचक्र द्विधाचक्र यावत् अर्धचक्रवालाभिनय रूप ।
५. चन्द्रावलिप्रविभक्ति सूर्यावलिप्रविभक्ति यावत् पुष्पावलिप्रविभक्ति रूप ।
६. चन्द्रोद्गमप्रविभक्ति सूर्योद्गमप्रविभक्ति अभिनयरूप ।
७. चन्द्रागमन-सूर्यागमनप्रविभक्ति अभिनयरूप ।
८. चन्द्रावरणप्रविभक्ति सूर्यावरणप्रविभक्ति अभिनयरूप ।
९. चन्द्रास्तमयनप्रविभक्ति सूर्यास्तमयनप्रविभक्ति अभिनय ।

१०. चन्द्रमण्डलप्रविभक्ति सूर्यमण्डलप्रविभक्ति यावत् भूतमण्डलप्रविभक्तिरूप अभिनय ।
११. ऋषभमण्डलप्रविभक्ति सिंहमण्डलप्रविभक्ति यावत् मत्तगजविलम्बित अभिनय रूप द्रूतविलम्बित नाट्य विधि ।
१२. सागरप्रविभक्ति नागप्रविभक्ति अभिनय रूप ।
१३. नन्दाप्रविभक्ति चम्पाप्रविभक्ति अभिनय रूप ।
१४. मत्स्याण्डकप्रविभक्ति यावत् जारमार प्रविभक्ति रूप अभिनय ।
१५. ककारप्रविभक्ति यावत् ङ कार प्रविभक्ति रूप अभिनय ।
१६. चकारप्रविभक्ति यावत् जताकप्रविभक्ति रूप अभिनय ।
१७. टकारप्रविभक्ति यावत् णकारप्रविभक्ति ।
१८. तकारप्रविभक्ति यावत् नकारप्रविभक्ति ।
१९. प्रकारप्रविभक्ति यावत् मकारप्रविभक्ति ।
२०. अशोकपल्लवप्रविभक्ति यावत् कोशाम्बपल्लवप्रविभक्ति ।
२१. पद्मलताप्रविभक्ति यावत् श्यामलताप्रविभक्तिरूप अभिनय ।
२२. द्रुत नामक नाट्यविधि ।
२३. विलम्बित नामक नाट्यविधि ।
२४. द्रुतविलम्बित नामक नाट्यविधि ।
२५. अंचित नामक नाट्यविधि ।
२६. रिभित नामक नाट्यविधि ।
२७. अंचित रिभित नामक नाट्यविधि ।
२८. आरभट नामक नाट्यविधि ।
२९. भसोल नामक नाट्यविधि ।
३०. आरभट-भसोल नामक नाट्यविधि ।
३१. उत्पातनिपातप्रसक्त संकुचितप्रसारित रेकरचित (रियारिय) भ्रान्त-सम्भ्रान्त नामक नाट्यविधि ।

३२. चरमचरमनामानिबद्ध नामा उस नाट्यविधि में भगवान वर्धमान स्वामी का चरम पूर्व मनुष्यभव, चरम देवलोक भव, चरम-च्यवन, चरम गर्भसंहरण, चरम तीर्थकर जन्माभिषेक, चरम बालभाव, चरम यौवन, चरम निष्कमण, चरम तपश्चरण, चरम ज्ञानोत्पाद, चरम तीर्थप्रवर्तन, चरम परिनिर्वाण को बताने वाला अभिनय किया जाता था ।

इन बत्तीस प्रकार की नाट्यविधियों को भगवान महावीर और गौतम आदि गणधरों के सामने सूर्याभदेवने अति आग्रह पूर्वक प्रस्तुत किया था ।

वाद्य चार प्रकार के हैं—

- (१) तत-मृदग, पटह आदि ।
- (२) वितत-वीणा आदि ।
- (३) घन-कंसिका आदि ।
- (४) शुषिर-बांसुरी (काहला) आदि ।

गेय चार प्रकार हैं-१) उत्क्षिप्त-प्रथम आरंभिक रूप. २) प्रवृत्त-अक्षिप्त अवस्था से अधिक ऊँचे स्वर से गेय ३) मन्दाय-मध्यभाग में मूर्छनादियुक्त मंद-मंद घोलनात्मक गेय। ४) रोचितावसान-जिस गेय का अवसान यथोचित रूप से किया गया हो । अभिनय के चार प्रकार हैं-^{१६५}

१) दार्ष्टान्तिक २) प्रतिश्रुतिक ३) सामान्यतोविनिपातिक और ४) लोकमध्यावसान ।

इनका स्वरूप नाट्यकुशलों द्वारा जानना चाहिए ।

प्रकण्ठकों के उपर प्रासादावतंसक

सभी प्रकण्ठकों के ऊपर एक-एक प्रासादावतंसक (श्रेष्ठमहल-विशेष) है । वे अठाई सौ योजन ऊँचे और सवा सौ योजन चौड़े हैं, चारों दिशाओं में व्याप्त अपनी प्रभा से हँसते हुए से प्रतीत होते हैं । विविध प्रकार के मणि-रत्नों से, इनमें चित्र-विचित्र रचनायें बनी हुई हैं । हवा से फहरती हुई, विजय को सूचित करने वाली वैजयन्ती-पताकाओं एवं छत्रातिछत्रों (एक दुसरे के ऊपर रहे हुए छत्रों) से अलंकृत हैं, अत्यन्त ऊँचे होने से इनके शिखर मानो आकाशतल का उल्लंघन करते हैं । विशिष्ट शोभा के लिये जाली-झरोखों में रत्न जड़े हुए हैं । वे रत्न ऐसे चमकते हैं मानों तत्काल पिटारों से निकाले हुए हों । मणियों और

स्वर्ण से इनकी स्तुपिकायें निर्मित (शिखर) हैं । तथा स्थान-स्थान पर विकसित शतपत्र एवं पुंडरीक कमलों के चित्र और तिलक रत्नों से रचित अर्धचंद्र बने हुए हैं । प्रांगणों में स्वर्णमयी बालुका बिछी हुई है, इनका स्पर्श सुखप्रद है, रूप शोभासम्पन्न, चित्त में प्रसन्नता देनेवाला और दर्शनीय है । मुक्तादामों आदि से सुशोभित हैं ।^{१६६}

सूर्याभदेव के विमान का वर्णन

विमान के प्रासादावतंसकों का अन्तर्वर्ती भूभाग आर्लिंग, पुष्कर, मृदंग पुष्कर, सूर्यमंडल, चंद्रमंडल अथवा कीलों को ठोक और चारों ओर से खींचकर सम किये गये भेड़, बैल, सुअर, सिंह आदि के चमड़े के समान अतीव सम, रमणीय है एवं अनेक प्रकार के शुभ लक्षणों तथा आकार प्रकार वाले काले, पीले, नीले, आदि वर्णों की मणियों से उपशोभित है ।

प्रत्येक श्रेष्ठ महल के उस समभूमि भाग के बीचों-बीच वेदिकाओं, तोरणों, पुतलियों आदि से अलंकृत प्रेक्षागृहमंडप बने हुए हैं और उन मंडपों के भी मध्यभाग में स्थित मणिपीठिकाओं पर ईहामृग, वृषभ, अश्व, नर, मगर, आदि-आदि के चित्रामों से युक्त स्वर्ण-मणि रत्नों से बने हुए सिंहासन रखे हैं ।

सिंहासनों के उपरी भाग में शंख कुंद-पुष्प क्षीरोदधि के फेनपुंज आदि के सदृश श्वेतधवल विजयदूष्य बंधे हैं और उनके बीचों बीच वज्ररत्नों से बने हुए अंकुश लगे हैं ।

उन अंकुशों में कुंभप्रमाण, अर्धकुंभ प्रमाण जैसे बड़े-बड़े मुक्तादाम (झूमर) लटक रहे हैं । ये सभी दाम सोने के लंबुसकों, मणि रत्नमयी हारों-अर्धहारों से परिवेष्टित हैं तथा हवा के झोकों से परस्पर एक-दूसरे से टकराने पर कर्णप्रिय ध्वनि से समीपवर्ती प्रदेश को व्याप्त करते हुए असाधारण रूप से सुशोभित हो रहे हैं ।

सूर्याभ विमान के प्रत्येक द्वार के ऊपर चक्र, मृग, गरूड, छत्र, मयूरपिच्छ, पक्षी, सिंह, वृषभ, चार दांत वाले श्वेत हाथी और उत्तम नाग (सर्प) के चित्र (चिह्न) से अंकित एक सौ आठ, एक सौ आठ ध्वजायें फहरा रही हैं । सब मिलाकर एक हजार अस्सी- एक हजार अस्सी ध्वजायें सूर्याभ विमान के प्रत्येक द्वार पर फहरा रही हैं-ऐसा तीर्थंकर भगवंतो ने कहा है ।^{१६७}

सभी द्वारों के ऊपर ध्वजाओं, छात्रातिछत्रों से शोभित स्वस्तिक आदि आठ-आठ मंगल से सूर्याभ विमान के चार हजार द्वार शोभित होते हैं ।^{१६८}

विमानों में वनखण्डों का वर्णन

सूर्याभविमान के चारों दिशा में पाँच सौ-पाँच सौ योजन के अन्तर पर वनखंड आये हुए हैं । वे निम्न लिखित...

- १) पूर्व दिशा में — अशोक वन
- २) दक्षिण दिशा में — सप्तपर्ण वन
- ३) पश्चिम दिशा में — चंपक वन
- ४) उत्तर दिशा में — आम्रवन हैं ।

यह प्रत्येक वनखंड साढ़े बारह लाख योजन से कुछे अधिक लम्बे और पाँच सौ योजन चौड़े हैं । प्रत्येक वनखंड एक-एक परकोटे से परिवेष्टित-घिरा है ।^{१६९}

इन वनखंडों के वर्ण, आभा, वृक्ष जमीन के भीतर गहरी फँसली हुई जड़ों से युक्त हैं, इत्यादि समग्र वर्णन औपपातिक सूत्र के वनखंडों के वर्णन अनुसार ही है ।

वनखंडवर्ती वापिकाओं का वर्णन

वनखंडों में स्थान-स्थान पर अनेक छोटी-छोटी चौरस वापिकायें-बावड़ियाँ, गोल पुष्करिणियाँ, दीर्घिकायें (सीधी बहती नदियाँ), गुंजालिकायें (टेड़ी-तिरछी-बांकी बहती नदियाँ), फूलों से ढँकी हुई सरोवरों की पंक्तियाँ, पानी के प्रवाह के लिये नहर द्वारा एक दूसरे से जुड़े हुए तालाबों की पंक्तियाँ एवं कूपपंक्तियाँ बनी हुई हैं ।

सभी वापिकायें बाहर से स्फटिक और मणि अतीव निर्मल हैं । इनके तट रजतमय हैं और तटवर्ती भाग अत्यन्त सम-चौरस हैं । ये सभी वज्ररत्न रूपी पाषाणों से बने हुए हैं । इसके तलभाग तपे हुए स्वर्ण से बने हैं और उसके उपर शुद्ध स्वर्ण और चांदी की बालू बिछी है । तटों के उपर ऊँचे प्रदेश वैडूर्य और स्फटिक मणि-पटलों के बने हैं । घाटों पर अनेक प्रकार की मणियाँ जड़ी है । चारों काने वाली कुपिकाओं और कुओ में नीचे अगाध एवं शीतल जलाशय

है। इसमें कमल बिस (कमलकंद) शतपत्र आदि सुगंधित पुष्पो से सुशोभित हैं। उसमें पराग कण के लिए भ्रमर के समूह गुंजन करते रहते हैं। अनेक पशु-पक्षी के समूहों के गमनागमन से सदा व्याप्त रहती है।

सभी जलाशय एक-एक पद्मवरवेदिका और एक-एक वनखंड से घिरे हुए हैं।

इन जलाशयों में से किसी-किसी में, आसव, वारूणोदक (वारूण समुद्र के जल) क्षीरोदक, घी इक्षुरस और किसी में प्राकृतिक स्वाभाविक पानी जैसा पानी भरा है।

प्रत्येक वापिकाओं यावत् कूपपंक्तियों की चारो दिशाओं में तीन-तीन सुंदर सोपान तोरणो, ध्वजाओं और छत्रातिछत्रों की तरह वर्णन समझना। इन छोटी-छोटी वापिकाओं और कूपपंक्तियों के मध्यवर्ती प्रदेशों में बहुत से उत्पात पर्वत, नियतिपर्वत, जगतीपर्वत, दारूपर्वत तथा कितने ही ऊँचे-नीचे, छोटे-बड़े दकमंडप, दकमंच, दकमालक, दकप्रासाद बने हुए हैं। ये सभी पर्वत सर्वरत्नमय रूप से शोभायमान हैं।

वापिकाओं आदि के अन्तरालवर्ती स्थानों में आये हुए पर्वतों का वर्णन निम्न प्रकार से—

१) उत्पात पर्वत :- ऐसे पर्वत जहाँ सूर्याभ-विमानवासी देव-देवियाँ विविध प्रकार की चित्र-विचित्र क्रीडाओं के निमित्त अपने-अपने उत्तर वैक्रिय शरीरों की रचना करते हैं।

२) नियतिपर्वत :- इन पर्वतों पर सूर्याभ-विमानवासी देव-देवियाँ अपने-अपने भवधारणीय (मूल) वैक्रिय शरीरों से क्रीडारत रहते हैं।

३) जगतीपर्वत :- इन पर्वतों का आकार कोट-परकोट जैसा होता है।

४) दारूपर्वत :- दारू अर्थात् काष्ठ-लकड़ी। लकड़ी से बने पर्वत जैसे आकार वाले कृत्रिम पर्वत।

५) दकमंडप :- स्फटिक मणियों से निर्मित मंडप अथवा ऐसे मंडप जिनमें फुव्वारों द्वारा कृत्रिम वर्षा की रिमझिम-रिमझिम फुहारें बरसती रहती हैं।

६) दकमालक :- स्फटिक मणियों से बने हुए घर के ऊपरी भाग में हुए कमरे-मालिये।^{१७०}

उत्पात पर्वतों आदि की शोभा

उत्पात पर्वतों, पक्षिहिंडोलों, आदि पर सर्वरत्नमय, निर्मल यावत् अतीव मनोहर अनेक हंसासन (हंस जैसी आकृति वाले आसन), कोंचासन, गरूडासन, उन्नतासन (ऊपर की ओर उठे हुए आसन), प्रणतासन (नीचे की ओर झुके हुए आसन), दीर्घासन (शैया जैसे लम्बे आसन), भद्रासन, पक्ष्यासन, मकरासन, वृषभासन, सिंहासन, पद्मासन और दिशास्वस्तिक ^{१७१}आसन (पक्षी, मगर, वृषभ, सिंह, कमल, और स्वस्तिक के चित्रामों से सुशोभित अथवा तदनुरूप आकृति वाले आसन) रखे हुए हैं ।

वनखंडवती गृहों का वर्णन

वनखंडों में यथायोग्य स्थानों पर बहुत से आलिगृह (वनस्पतिविशेष से बने हुए गृह जैसे मंडप), मालिगृह (वनस्पतिविशेष से बने हुए गृह), कदलीगृह, लतागृह, आसनगृह (विश्राम करने के लिये बैठने योग्य आसनों युक्त घर), प्रेक्षागृह (प्राकृतिक शोभा के अवलोकन हेतु बने विश्रामगृह अथवा नाट्यगृह), मज्जनगृह (स्नानघर), प्रसाधनगृह (शृंगार-साधनों से सुसज्जित स्थान), गर्भगृह (भीतर का घर), मोहनगृह (रतीक्रीडा करने योग्यस्थान), शालागृह, जाली वाले गृह, कुसुमगृह, चित्रगृह (चित्रों से सज्जित स्थान), गंधर्वगृह (संगीत-नृत्य शाला), आर्दशगृह (दर्पणों से बने हुए भवन) सुशोभित हो रहे हैं । ये सभी गृह रत्नों से बने हुए अधिकाधिक निर्मल यावत् असाधारण मनोहर हैं ।^{१७२}

वनखंडवती मंडपों का वर्णन

वनखंडों में विविध स्थानों पर बहुत से जातिमंडप (जाई के कुंज), यूथिकामंडप (जूही की बेल के मंडप), मल्लिकामंडप, नवमल्लिकामंडप, वासंतीमंडप, दधिवासुका (वनस्पति विशेष) मंडप, सूरिल्लि (सूरजमुखी मंडप), नागरवेल मंडप, मृद्वीका मंडप (अंगूर की बेल के मंडप), नागलता मंडप, अतिमुक्तक (माधवीलतामंडप), अकोया मंडप, मालुकामंडप बने हुए हैं । ये सभी मंडप अत्यन्त निर्मल सर्वरत्नमय यावत् प्रतिरूप अतीव मनोहर हैं ।

ये जातिमंडपों और मालुका मंडप कितने ही हंसासन सदृश आकार वाले इसीप्रकार सभी आसन के आकार पृथ्वीशिलापट्टक तथा दूसरे भी बहुत से श्रेष्ठ शयनासन (शैय्या, पलंग) सदृश विशिष्ट आकार वाले पृथ्वीशिलापट्टक रखे हुए

हैं। ये सभी पृथ्वी शिलापट्टक चर्मनिर्मित वस्त्र अथवा मृगछाला, रूई, बूर, नवनीत, तूल, सेमल या आक की रूई के स्पर्श जैसे सुकोमल, कमनीय, सर्वरत्नमय, निर्मल यावत् रमणीय हैं।

इन हंसासनों आदि पर बहुत अतीव से सूर्याभविमानवासी देव और देवियाँ सुखपूर्वक बैठते हैं, सोते हैं, शरीर को लम्बा कर लेटते हैं, विश्राम करते हैं, ठहरते हैं, करवट लेते हैं, रमण करते हैं, केलिक्रीडा करते हैं, इच्छानुसार भोग-विलास करते हैं, मनोविनोद करते हैं, रासलीला करते हैं और रतिक्रीडा करते हैं। इस प्रकार वे अपने-अपने सुपुरुषार्थ से पूर्वोपार्जित शुभ, कल्याणमय, शुभफलप्रद, मंगलरूप पुण्य कर्मों के कल्याणरूप फलविपाक का अनुभव करते समय बिताते हैं।^{१७३}

वनखण्डवती प्रासादावतंसक

वनखण्डों के मध्यातिमध्य भाग में एक-एक प्रासादावतंसक (प्रासादों के शिरोभूषण रूप श्रेण्ठ प्रासाद) है। ये प्रासादावतंसक पाँच सौ योजन ऊँचे और अठई सौ योजन चौड़े हैं और अपनी उज्ज्वल प्रभा से हँसते हुए से प्रतीत होते हैं। इसका भूमिभाग अति रमणीय है। इनके चंदेवा, सामानिक आदि देवों के भद्रासनों सहित सिंहासन आदि का वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

इन प्रासादावतंसको मे महान ऋद्धिशाली यावत् विचरण करते हैं। एक पत्न्योपम की स्थिति वाले चार देव निवास करते हैं। उनके नाम हैं-अशोकदेव, सप्तपर्णदेव, चंपकदेव और आम्रदेव।

ये चारों देव अपने-अपने नाम वाले वनखंड के स्वामी हैं तथा सूर्याभ देव के सदृश महान् ऋद्धिसम्पन्न हैं एवं अपने अपने सामानिक देवों, सपरिवार अग्रमहिषयों, तीन परिषदाओं, सप्त अनीकों-सेनाओं और सेनापतियों, आत्मरक्षक देवों का आधिपत्य, स्वामित्व आदि करते हुए नृत्य गीत, नाटक और वाद्यघोषों के साथ विपुल भोगोपभोगों का भोग करते हुए रहते हैं।^{१७४}

मुख्य प्रासादावतंसक का वर्णन

मुख्य प्रासादावतंसक एक सौ पच्चीस योजन ऊँचे और साढ़े बासठ योजन चौड़ा है। यह प्रधान प्रासाद अपनी आस-पास की रचना के बीचों-बीच है और चारों दिशाओं में बने अन्य चार प्रासादों की अपेक्षा सबसे अधिक ऊँचा और लम्बा-चौड़ा

है तथा बाकी पार्श्ववर्ती प्रासाद अपने-अपने से पूर्व के प्रासादों की अपेक्षा ऊँचाई और चौड़ाई में उत्तरोत्तर आधे आधे हैं। मूल प्रासादावतंसक की अपेक्षा उत्तरवर्ती अन्य-अन्य प्रासाद शिखर से लेकर तलहटी तक पर्वत के आकार के समान क्रमशः अर्ध, चतुर्थ और अष्ट भाग प्रमाण ऊँचे और चौड़े हैं।^{१७५}

भगवान् की सेवा में देवों का आगमन : असुरकुमार देव

श्रमण भगवान् महावीर के पास अनेक असुरकुमार देव प्रादुर्भूत-प्रकट हुए। उनका वर्णन औपपातिक सूत्र में प्राप्त है। महानीलमणि, नीलमणि, नील की गुटका, भैंसे के सींग तथा अलसी के पुष्प जैसा उनका काला वर्ण तथा दीप्ति थी। उनके नेत्र खिले हुए कमल सदृश थे। नेत्रों की भौंहें (सुक्ष्म रोममय तथा) निर्मल थीं। उनके नेत्रों का वर्ण कुछ-कुछ सफेद, लाल तथा ताम्र जैसा था। उनकी नासिकाएँ गरूड के सदृश, लम्बी, सीधी तथा उन्नत थीं। उनके होठ परिपुष्ट मूंगे एवं बिम्ब फल के समान लाल थे। उनकी दन्तपंक्तियाँ स्वच्छ-निर्मल-कलंक शून्य चन्द्रमा के टुकड़ों जैसी उज्ज्वल तथा शंख, गाय के दुध के झाग, जलकण एवं कमलनाल के सदृश धवल-श्वेत थीं। उनकी हथेलियाँ, पैरों के तलवे, तालु तथा जिह्वा-अग्नि में गर्म किये हुए धोये हुए पुनः तपाये हुए शोधित किये हुए निर्मल स्वर्ण के समान लालिमा लिये हुए थे। उनके केश काजल तथा मेघ के सदृश काले तथा रूचक मणि के समान रमणीय और स्निग्ध-चिकने, मुलायम थे। उनके बायें कानों में एक-एक कुण्डल था। (दाहिने कानों में अन्य आभरण थे)। उनके शरीर आर्द्र-गीले-घिसकर पीठी बनाये हुए चन्दन से लिप्त थे। उन्होंने सिलीध्र-पुष्प जैसे कुछ-कुछ श्वेत या लालिम लिये हुए श्वेत, सुक्ष्म-महीन, असंक्लिष्ट-निर्दोष या ढीले वस्त्र सुन्दर रूप में पहन रखे थे। वे प्रथम वय-बाल्यावस्था को पार कर चुके थे, मध्यम वय-परिपक्व युवावस्था नहीं प्राप्त किये हुए थे, भद्र यौवन-भोली जवानी-किशोरावस्था में विद्यमान थे। उनकी भुजाएँ तलभंगको-बाहुओं के आभरणों, त्रुटिकाओं-बाहुरक्षिकाओं या तोड़ों, अन्यान्य उत्तम आभूषणों तथा निर्मल-उज्ज्वल रत्नों, मणियों से सुशोभित थीं। उनके हाथों की दशों अंगुलियाँ अंगूठियों से मंडित-अलंकृत थीं। उनके मुकुटों पर चूडामणि के रूप में विशेष चिह्न थे। वे सुरूप-सुन्दर रूपयुक्त, परम ऋद्धिशाली परम द्युतिमान, अत्यन्त बलशाली, परम यशस्वी, परम सुखी तथा अत्यन्त सौभाग्यशाली थे। उनके वक्षःस्थलों पर हार

सुशोभित हो रहे थे । वे अपनी भुजाओं पर कंकण तथा भुजाओं को सुस्थिर बनाये रखनेवाली आभरणात्मक पट्टियाँ एवं अंगद-भुजबंध धारण किये हुए थे । उनके मृष्टकेसर, कस्तुरी आदि से मण्डित-चित्रित कपोलों पर कुंडल व अन्य कर्णभूषण शोभित थे । वे विचित्र विशिष्ट या अनेकविध हस्ताभरण-हाथों के आभूषण धारण किये हुए थे । उनके मस्तकों पर तरह-तरह की मालाओं से युक्त मुकुट थे । वे कल्याणकृत् मांगलिक, अनुपहत या अखंडित, प्रवर-उत्तम पोशाक पहने हुए थे । वे मंगलमय, उत्तम मालाओं एवं अनुलेपन-चंदन, केसर, आदि के विलेपन से युक्त थे । उनके शरीर देदीप्यमान थे । वनमालाएँ-सभी ऋतुओं में विकसित होने वाले फूलों से बनी मालाएँ^{१७६} उनके गलों से घुटनों तक लटकती थीं । उन्होंने दिव्य-देवोचित वर्ण, गंध, रूप, स्पर्श, संघात-दैहिक गठन, संस्थान-दैहिक अवस्थिति, ऋद्धि-विमान, वस्त्र, आभूषण आदि दैविक समृद्धि, द्युति-आभा अथवा युक्ति-इष्ट परिवारादि योग, प्रभा कान्ति अर्चि-दीप्ति, तेज, लेश्या-आत्मपरिणति तदनुरूप प्रभामंडल, से दशों दिशाओं को उद्योतित-प्रकाशयुक्त, प्रभासित-प्रभा या शोभायुक्त करते हुए श्रमण भगवान् महावीर के समीप आ-आकर अनुरागपूर्वक-भक्तिसहित तीन बार आदक्षिणा प्रदक्षिणा की, वन्दन-नमस्कार किया । वैसा कर (अपने-अपने नामों तथा गोत्रों का उच्चारण करते हुए) वे भगवान् महावीर के न अधिक समीप न अधिक दूर सुश्रूषा—सुनने की इच्छा रखते हुए प्रणाम करते हुए, विनयपूर्वक सामने हाथ जोड़ते हुए उनकी पर्युपासना—अभ्यर्थना करते हैं ।

प्रस्तुत वर्णन में असुरकुमार देवों की विविध विशेषताओं के साथ-साथ उनके वस्त्रों की भी चर्चा उपलब्ध होती है । उनके वस्त्र शिलीन्ध्र पुष्प जैसे वर्ण तथा द्युति युक्त कहे गये हैं । वृत्तिकार आचार्य अभयदेव सूरि ने वहाँ 'ईषत् सितानि' कुछ-कुछ सफेद अर्थ किया है । उन्होंने मतांतर के रूप में एक वाक्य भी उद्धृत किया है, जिसके अनुसार असुरकुमारों के वस्त्र लाल होते हैं ।^{१७७} परम्परा से असुरकुमारों के वस्त्र लाल माने जाते हैं । अतः शिलीन्ध्र पुष्प की उपमा वहाँ घटित नहीं होती, क्योंकि वे सफेद होते हैं !

कुछ विद्वानों ने 'कुछ-कुछ सफेद' के स्थान पर 'कुछ-कुछ लाल' अर्थ भी किया है । पर शिलीन्ध्र-पुष्पों के साथ उसकी संगति कैसे हो !

मूलतः यह पन्नवणा का प्रसंग है, वहाँ विभिन्न गतियों के स्थान स्वरूप, स्थिति, आदि का वर्णन है ।^{१७८}

एक समाधान यों भी हो सकता है, ऐसे शिलीन्द्र पुष्पों की ओर सूत्रकार का संकेत रहा हो, सर्वथा सफेद न होकर कुछ-कुछ लालिमायुक्त सफेद हों ।

भवनवासी देवों का आगमन

भगवान् महावीर के पास असुरेन्द्रवर्जित-असुरकुमारों को छोड़कर नागकुमार सुवर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिशाकुमार, पवनकुमार तथा स्तनितकुमार जाति के भवनवासी-पाताललोक-स्थित अपने आवासों में निवास करने वाले देव प्रकट हुए । उनके मुकुट क्रमशः नागफण, गरूड, वज्र, पूर्ण कलश, सिंह, अश्व, हाथी, मगर तथा वर्द्धमानक-शराब-सिकोरा अथवा स्कन्धरोपित-कन्धे पर चढ़ाया हुआ पुरुष के चिह्न से अंकित थे ।

असुरकुमारों के मुकुट-स्थित चिह्न के वर्णन में यहाँ चूडामणि का उल्लेख है । इसका स्पष्टीकरण यों है-विभिन्न जाति के देवों के अपने-अपने चिह्न होते हैं, जो उनके मुकुटों पर लगे रहते हैं । वृत्तिकार ने चिह्नों के सम्बन्ध में सम्बन्ध में निम्नांकित गाथा उद्धृत की है^{१७९}—

“चूडामणि-फणि-वज्जे गरूडे घड-अस्स-वद्धमाणे य ।

मयरे सीहे हत्थी असुरईणं मुणसुं चिधे ॥”

[असुर(कुमारदेवों) के चिह्न चूडामणि, फणि, वज्र, गरूड, गृह, अश्व, वर्द्धमानक, मकर, सिंह तथा हाथ हैं ।]

पन्नवणा में भी यह प्रसंग चर्चित हुआ है ।^{१८०}

भवनवासी देवों सुरूप-सुंदर रूप युक्त, परम ऋद्धिशाली, परम द्युतिमान, अत्यन्त बलशाली, परम यशस्वी, परम सुखी तथा अत्यन्त सौभाग्यशाली थे । उनके वक्षःस्थलों पर हार सुशोभित हो रहे थे । वे अपनी भुजाओं पर कंकण तथा भुजाओं को सुस्थिर बनाये रखने वाली पट्टियाँ एवं अंगद-भुजबन्ध धारण किये हुए थे । उनके मृष्ट-केसर, कस्तुरी आदि से मण्डित-चित्रित कपोलों पर कुंडल व अन्य कर्णभूषण शोभित थे । वे विचित्र विशिष्ट या अनेकविध हस्ताभरण-हाथों के आभूषण धारण किये हुए थे । उनके मस्तकों पर तरह तरह की मालाओं से युक्त मुकुट थे । वे कल्याणकृत-मांगलिक, अनुपहत या

अखण्डित, प्रवर-उत्तम पोशाक पहने हुए थे । वे मंगलमय, उत्तम मालाओं एवं अनुलेपन-चंदन, केसर आदि के विलेपन से युक्त थे । उनके शरीर देदीप्यमान थे । वनमालाएँ-सभी ऋतुओं में विकसित होने वाले फूलों से बनी मालाएँ, उनके गलों से घुटनों तक लटकती थीं । उन्होंने दिव्य-देवोचित वर्ण, गंध, रूप, स्पर्श, संघात-दैहिक गठन, संस्थान-दैहिक आकृति, ऋद्धि-विमान, वस्त्र, आभूषण आदि दैविक समृद्धि द्युति-आभा अथवा युक्ति-इष्ट परिवारादि योग, प्रभा, कान्ति, अर्चि-दीप्ति, तेज, लेश्या-आत्मपरिणति-तदनुरूप भामण्डल से दशों दिशाओं को उद्योतित-प्रकाशयुक्त, प्रभासित-प्रभा या शोभायुक्त करते हुए श्रमण भगवान् महावीर के समीप आ-आकर अनुरागपूर्वक-भक्ति सहित वन्दन-नमस्कार किया ।

व्यन्तर देवों का आगमन

भगवान् महावीर के समीप, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महाकाय भुजगपति, गन्धर्व-नाट्यपेत गान, गीत-नाट्यवर्जित गेय-विशुद्ध संगीत में अनुरक्त गन्धर्व गण, अणपन्निक, पणपन्निक, ऋषिवादिक, भूतवादिक, क्रन्दित, महाक्रन्दित, कूष्मांड, प्रयत या पतग-ये व्यन्तर जाति के देव प्रकट हुए ।

वे देव अत्यन्त चपल चित्तयुक्त, क्रीडाप्रिय तथा परिहास प्रिय थे । उन्हें गंभीर हास्य-अट्टहास तथा वैसी ही वाणी प्रिय थी । वे वैक्रिय लब्धि द्वारा अपनी इच्छानुसार विरचित वनमाला, फूलों का सेहरा या कलगी, मुकुट, कुण्डल आदि आभूषणों द्वारा सुन्दररूप में सजे हुए थे । सब ऋतुओं में खिलने वाले, सुगंधित पुष्पों से सुरचित, लम्बी-घुटनों तक लटकती हुई, शोभित होती हुई, सुन्दर विकसित वनमालाओं द्वारा उनके वक्षःस्थल बड़े आह्लादकारी-मनोज्ञ या सुंदर प्रतीत होते थे । वे कामगम-इच्छानुसार जहाँ कहीं जाने का सामर्थ्य रखते थे, कामरूपधारी-इच्छानुसार (यथेच्छ) रूप धारण करने वाले थे । वे भिन्न-भिन्न रंग के उत्तम, चित्र-विचित्र-तरह तरह के चमकीले-भडकीले वस्त्र पहने हुए थे । अनेक देशों की वेशभूषा के अनुरूप उन्होंने भिन्न भिन्न प्रकार की पोशाकें धारण कर रखी थीं । वे प्रमोदपूर्ण कामकलह, क्रीडा तथा तज्जनित कोलाहल में प्रीति मानते थे-आनन्द लेते थे । वे बहुत हँसने वाले तथा बहुत बोलने वाले थे । वे अनेक मणियों एवं रत्नों से विविध रूप में निर्मित चित्र-विचित्र चिह्न धारण किये हुए थे । वे सुरूप-सुन्दर रूप युक्त तथा परम ऋद्धि सम्पन्न थे । पूर्व समागत देवों की तरह यथाविधि वन्दन नमन कर श्रमण भगवान् महावीर की पर्युपासना करने लगे ।

ज्योतिष्क देवों का आगमन

भगवान महावीर के सान्निध्य में बृहस्पति, चंद्र, सूर्य शुक, शनैश्वर, राहु, धूमकेतु, बुध तथा मंगल जिनका वर्ण तपे हुए स्वर्ण-बिन्दु के समाना दीप्तिमान् था-(ये) ज्योतिष्क देव प्रकट हुए । इनके अतिरिक्त ज्योतिष्क में परिभ्रमण करने वाले-गतिविशिष्ट केतु-जलकेतु आदि ग्रह, अट्टाई प्रकार के नक्षत्र देवगण, नाना आकृतियों के पाँच वर्ण के तारे-तारा, जाति जाति के देव प्रकट हुए । उनमें स्थित गतिविहीन रहकर प्रकाश करने वाले तथा अविश्रान्ततया-बिना रूके अनवरत गतिशील-दोनों प्रकार के ज्योतिष्क देव थे । हर किसी ने अपने-अपने नाम से अंकित अपना विशेष चिह्न अपने पर धारण कर रखा था । वे परम ऋद्धिशाली देव भगवान् की पर्युपासना करते हैं ।

वैमानिक देवों का आगमन

श्रमण भगवान् महावीर के समक्ष सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तक, महाशुक, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, तथा अच्युत देवलोकों के अधिपति-इन्द्र अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक प्रादुर्भूत हुए । भगवान के दर्शन पाने की उत्सुकता और तदर्थ अपने वहाँ पहुँचने से उत्पन्न हर्ष से वे उल्लसित थे ।

जिनेन्द्र प्रभु को वन्दन-स्तवन करने वाले वे (बारह देवलोकों के दस अधिपति) देव पालक, पुष्पक, सौमनस, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, कामगम, प्रीतिगम, मनोगम, विमल तथा सर्वतोभद्रनामक अपने-अपने विमानों से भूमि पर उतरे । वे मृग-हरिण, महिष-भैंसा, वराह-सूअर, छगल-बकरा, दर्दुर-मेंढक, हय-घोड़ा, गजपति-उत्तम हाथी, भुजग-सर्प, खड्ग-गैडा तथा वृषभ-सांड के चिहनों से अंकित मुकुट धारण किये हुए थे । वे श्रेष्ठ मुकुट ढीले-सुहाते उनके सुंदर सविन्यास युक्त मस्तकों पर विद्यमान थे । कुंडलों की उज्ज्वल दीप्ति से उनके मुख उद्योतित थे । मुकुटों से उनके मस्तक दीप्त-दीप्तिमान थे । वे लाल आभा लिये हुए, पद्मगर्भ सदृश गौर कान्तिमय, श्वेत वर्णयुक्त थे । शुभ वर्ण, गंध, स्पर्श, आदि के निष्पादन में उत्तम वैक्रिय लब्धि के धारक थे । वे तरह-तरह के वस्त्र, सुगन्धित द्रव्य तथा मालाएं धारण किये हुए थे । वे परम ऋद्धिशाली एवं परम द्युतिमान थे । वे हाथ जोडकर भगवान् की पर्युपासना करते हैं ।

देवियों का आगमन

भगवान् महावीर के वन्दन हेतु देवों के साथ-साथ अप्सराओं या देवियों के आगमन का भी अन्यत्र वर्णन प्राप्त होता है। टीकाकार आचार्य अभयदेव सूरिने ने टीका में संक्षेप में उसे उद्धृत किया है।

भगवान् के समीप अनेक समूहों में अप्सराएँ-देवियाँ उपस्थित हुईं। उनकी दैहिक कान्ति अग्नि में तपाये गये, जल से स्वच्छ किये गये स्वर्ण जैसी थी। वे बाल-भाव को अतिकान्त कर-बचपन को लांघकर यौवन में पदार्पण कर चूकी थीं-नवयौवना थीं। उनका रूप अनुपम, सुंदर एवं सौम्य था। उनके स्तन, नितम्ब, मुख, हाथ, पैर तथा नेत्र, लावण्य एवं यौवन से विलसित, उल्लसित थे। दूसरे शब्दों में उनके अंग-अंग में सौन्दर्य-छटा लहराती थी। वे निरुपहत-रोग आदि से अबाधित, सरस शृंगार-सिक्त तारुण्य से विभूषित थीं। उनका वह रूप, सौन्दर्य, यौवन, सुस्थिर था, जरा-वृद्धावस्था से विमुक्त था।

वे देवियाँ सुरम्य वेशभूषा-वस्त्र, आभरण आदि से सुसज्जित थीं। उनके ललाट पर पुष्प जैसी आकृति में निर्मित आभूषण, उनके गले में सरसों जैसे स्वर्ण-कणों तथा मणियों से बनी कंठियाँ, कण्ठसूत्र-कंठले, अठारह लड़ियों के हार, नौ लड़ियों के अर्द्धहार, बहुविध मणियों से बनी मालाएँ, चन्द्र, सूर्य आदि अनेक आकार की मोहरों की मालाएँ, कानों में रत्नों के कुण्डल, बालियाँ, बाहुओं में त्रुटिक-तोडे, बाजूबन्द, कलाइयों में मानिक-जडे कंकण, अंगुलियों में अंगूठियाँ, कमर में सोने की करधनियाँ, पैरों में सुन्दर नूपुर-पैजनियाँ, घूंघरयुक्त पायजेबें तथा सोने के कड़ले आदि बहुत प्रकार के गहने सुशोभित थे।

वे पँचरंगे, बहुमूल्य, नासिका से निकलते निःश्वास मात्र से जो उड़ जाए-ऐसे अत्यन्त हलके, मनोहर सुकोमल, स्वर्णमय तारों से मंडित किनारों वाले, स्फटिक-तुल्य आभायुक्त वस्त्र धारण किये हुए थीं। उन्होंने बर्फ, गोदुग्ध, मोतियों के हार एवं जल-कण सदृश स्वच्छ उज्ज्वल, सुकुमार-मुलायम, रमणीय, सुन्दर बुने हुए रेशमी दुपट्टे ओढ़ रखे थे। वे सब ऋतुओं में खिलनेवाले सुरभित पुष्पों की उत्तम मालाएँ धारण किये हुए थीं। चन्दन, केसर आदि सुगन्धमय पदार्थों से निर्मित देहरंजन-अंगराग से उनके शरीर रंजित एवं सुवासित थे, श्रेष्ठ धूप द्वारा धूपित थे। उनके मुख चंद्र जैसी कान्ति लिये हुए थे। उनकी दीप्ति बिजली की द्युति और सूरज के तेज सदृश थी। उनकी गति, हँसी, बोली, नयनों के

हावभाव, पारस्परिक आलाप-संलाप इत्यादि सभी कार्य-कलाप नैपुण्य और लालित्ययुक्त थे। उनका संस्पर्श शिरीष पुष्प और नवनीत-मक्खन जैसा मृदुल तथा कोमल था। वे निष्कलुष, निर्मल, सौम्य, कमनीय, प्रियदर्शन-देखने में प्रिय या सुभग तथा सुरूप थीं। वे भगवान् के दर्शन की उत्कण्ठा से हर्षित-रोमांचित थीं। उनमें वे सब विशेषताएँ थीं, जो देवताओं में होती हैं।^{१८१}

विजयदेव का उपपात और उसका अभिषेक

विजयदेव विजया राजधानी की उपपात सभा में देवशयनीय में देवदूष्य के अन्दर अंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण शरीर में विजयदेव के रूप में उत्पन्न होता है। विजयदेव के उत्पन्न होते ही पाँच प्रकार की पर्याप्तियों से पूर्ण होते हैं।

पर्याप्तियां निम्न प्रकार हैं—

१) आहार पर्याप्ति, २) शरीरपर्याप्ति, ३) इन्द्रियपर्याप्ति, ४) आनप्राण पर्याप्ति, और ५) भाषा मन पर्याप्ति।^{१८२}

तदनन्तर विजयदेव को इस प्रकार का अध्यवसाय, चिन्तन, प्रार्थित और मनोगत संकल्प उत्पन्न होता है—मेरे लिए पूर्व में क्या श्रेयकर है, पश्चात् क्या श्रेयस्कर है, मुझे पहले क्या करना चाहिए, मुझे पश्चात् क्या करना चाहिए, मेरे लिए पहले और बाद में क्या हितकारी, सुखकारी, कल्याणकारी, निःश्रेयसकारी और परलोक में साथ जाने वाला होगा। वह इस प्रकार चिन्तन करता है।

उसके बाद उपरोक्त चिन्तन विजयदेव का पूर्ण होने पर सामानिक परिषदा के देव जिस ओर विजयदेव होते हैं उस जगह आकर विजयदेव को हाथ जोड़कर मस्तक पर अंजलि लगाकर जय-विजय से बधाते हैं। बधाकर वे इस प्रकार बोलते-हैं देवानुप्रिय ! आपकी विजया राजधानी के सिद्धायतन में जिनोत्सेध-प्रमाण एक सौ आठ जिन प्रतिमाएँ रखी हुई हैं और सुधर्मासभा के माणवक चैत्यस्तम्भ पर वज्रमय गोल मंजूषाओं में बहुत-सी जिन-अस्थियाँ रखी हुई हैं, जो आप देवानुप्रिय के और बहुत से विजया राजधानी के रहनेवाले देवों और देवियों के लिए अर्चनीय, वन्दनीय, पूजनीय सत्कारणीय, सम्माननीय हैं, जो कल्याणरूप, मंगलरूप, देवरूप, चैत्यरूप हैं तथा पर्युपासना करने योग्य हैं। यह आप देवानुप्रिय के लिए पूर्व में भी श्रेयस्कर है, पश्चात् भी श्रेयस्कर है, यह आप

देवानुप्रिय के लिए पूर्व में भी करणीय है और पश्चात् भी करणीय है, यह आप देवानुप्रिय के लिए पहले और बाद में हितकारी यावत् साथ में चलने वाला होगा, ऐसा कहकर वे जोर-जोर से जय-जयकार शब्द का प्रयोग करते हैं ।

सामानिक परिषदा के देवों से उपरोक्त वर्णन सुनकर विजयदेव हर्षित होकर देवशयनीय से उठकर देवदूष्य युगल धारण करके नीचे उतरकर उपपात सभा से पूर्वदिशा के द्वार से बाहर निकलता है । जिस जगह सरोवर (हृद) है वहाँ जाकर उसकी प्रदक्षिणा करके पूर्वदिशा के तोरण से उसमें प्रवेश करता है । पूर्वदिशा के त्रिसोपानप्रतिरूपक से नीचे उतरकर जल में अवगाहन करके जल में डुबकी लगाकर जलक्रीडा करता है । इस प्रकार अत्यन्त पवित्र जिस जगह अभिषेक सभा थी उस जगह जाकर प्रदक्षिणा करके पूर्वदिशा के द्वार से उसमें प्रवेश करके जिस जगह सिंहासन था उसके पूर्वदिशा की ओर मुख करके सिंहासन बैठ जाता है ।

विजयदेव की सामानिक परिषदा के देवों ने अपने आभियोगिक (सेवक) देवों को बुलाकर कहा कि हे देवानुप्रियो ! शीघ्र ही विजयदेव के महार्थ, महर्धिक और विपुल इन्द्राभिषेक की तैयारी करो ।

आभियोगिक देव द्वारा अभिषेक की तैयारी

आभियोगिक देव उत्तरपूर्व दिशाभाग में जाकर वैक्रिय-समुद्घात से समवहत होकर संख्यात योजन का दण्ड निकाल के शिष्टरत्नों के तथाविध बादर पुद्गलों को छोड़ते हैं यथासूक्ष्म पुद्गलों को ग्रहण करते हैं । उसके बाद दुबारा वैक्रिय समुद्घात से समवहत होते हैं और एक हजार आठ सोने के कलश, चाँदी के कलश, मणियों, सोने-चाँदी, सोने-मणियों, चाँदी-मणियों, मिट्टी कलश, झारिया इसी प्रकार आदर्शक, स्थाल, पात्री, सुप्रतिष्ठक, चित्र, रत्नकरण्डक, पुष्पचंगेरिया, पुष्पपटलक, सिंहासन, छत्र, चामर, ध्वजा, तेलसमुद्गक, धूप के कडुच्छुकल सभी वस्तु एक सौ आठ अपनी विक्रिया से बनाते हैं । अपने वैक्रिय से निर्मित कलशों, और धूपकडुच्छकों को लेकर विजया राजधानी से निकलते हैं और उस उत्कृष्टों दिव्य देवगति से तिरछी दिशा में असंख्यात द्वीपसमुद्रों में से क्षीरोदसमुद्र का जल और शतपत्र कमल को ग्रहण करते हैं । पुष्करसमुद्र का जल और कमलों को लिया । समयक्षेत्र में मागध, वरदाम और प्रभास तीर्थ जल, तीर्थ की मिट्टी, महानदियों का पानी (जल), मिट्टी, ग्रहण की । वर्षधर पर्वत से ऋतुओं के श्रेष्ठ सब जाति के फुलों, गंधों, गूथी हुई मालाओ, औषधियों और सब जाति

के सरसों को लेते हैं। फिर पदमग्रह और पुण्डरीकद्रह का जल और शतपत्र कमलों को लेते हैं। वहाँ से शब्दापाति और माल्यवंत वट्टवैताढ्य आदि पर्वतों पर के सब ऋतुओं के श्रेष्ठ फूलों, सर्वोषधि और सिद्धार्थकों को लेते हैं। वहाँ से नन्दनवन में से श्रेष्ठ फूल आदि सरस गोशीर्ष चन्दन ग्रहण करते हैं। वहाँ से पण्डकवन में से कपडछत्र किया हुआ मलय-चन्दन का चूर्ण आदि सुगन्धित द्रव्यों को ग्रहण करते हैं। उसके बाद सभी आभियोगिक देव एकत्रित होकर जम्बूद्वीप के पूर्वदिशा के द्वार से निकलते हैं और उत्कृष्ट दिव्य देवगति से चलते हुए तिरछी दिशा में असंख्यात द्वीप-समुद्रों के मध्य होते हुए विजया राजधानी में आते हैं। विजया राजधानी की प्रदक्षिणा करते हुए अभिषेक सभा में विजयदेव के पास आते हैं और हाथ जोड़कर मस्तक पर अंजलि लगाकर जय-विजय शब्दों से बधाते हैं। वे महार्थ, महार्थ और विपुल अभिषेक सामग्री को प्रस्तुत करते हैं।^{१८३} (इसका विस्तार वर्णन जीवाजीवाभिगम सूत्र भा.१ पृ० ४०५ पर है।)

अभिषेक के अवसर पर रहनेवाले देव का परिवार

आभियोगिक देव आने बाद चार हजार सामानिक देव, सपरिवार चार अग्रमहिषियाँ, तीन परिषदाओं के (८ हजार, १० हजार, १२ हजार) देव, सात अनीक, सात अनीकाधिपति, सोलह हजार आत्मरक्षक देव और अन्य बहुत से विजया राजधानी के निवासी देव-देवियाँ आदि अनेक परिवार सहित अपनी-अपनी विविध कला, अनेक सामग्री वस्तु लेकर, विजयदेव को बहुत उल्लास के साथ इन्द्राभिषेक से अभिषेक करते हैं।

(कौन से देव ने कौनसी सामग्री, वस्तु, कला, प्रस्तुत करी उसका विस्तार से वर्णन जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ. ४०६ से ४१० तक वर्णन दिया गया है।)

तदनन्तर सामानिक देव, अग्र महिषियाँ, आत्मरक्षक देव और बहुत से वानव्यन्तर देव-देवियाँ ने कलश से अभिषेक करके उनके लिए शुभ कामना के विविध वाक्यों से जोर-जोर से जय जय शब्दों का प्रयोग करते हैं-जय जयकार करते हैं।

उसके बाद विजयदेव अभिषेक करके सिंहासन से उठकर अंलकार सभा में जाता है। वहाँ उनकी चंदन पूष्या आदि से पूजा देव करते हैं। केशालंकार, वस्त्रालंकार, माल्यालंकार और आभरणालंकार से परिपूर्ण होकर वह व्यवसाय सभा

में जाता है। वहाँ पुस्तकरत्न को ग्रहण करता है। वहाँ से नन्दापुष्करिणी जाकर कमल लेता है और सिद्धायतन की तरफ सभी देव-देवियों के साथ वाद्यों की गूंजती हुई ध्वनि के साथ जाता है। वहाँ की जिनप्रतिमाओं को प्रणाम करके, अष्टप्रकारी पूजा करता है जैसे-जल, चन्दन, पुष्प, धूप, दिपक, अक्षत आदि से पूजा करके अरिहन्त भगवन्तो की स्तुति और सिद्धायतन का मध्यभाग है वहाँ भी अष्टप्रकारी पूजा करता है। फिर मुखमण्डप के पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशा द्वारों के विशेष पूर्व रीति से क्रमशः चैत्यस्तूप, जिनप्रतिमा, चैत्यवृक्ष, माहेन्द्रध्वज और नन्दापुष्करिणी की पूजा-अर्चना करता है। वहाँ से सुधर्मा सभा की ओर सभी साथ जाते हैं सिंहासन प्रदक्षिणा देकर उसके पूर्व दिशा में मुख करके बैठकर अपने सभी देवों को कौन-कौन से कार्य करने है। उसकी आज्ञा प्रदान करता है। (इस का विस्तार से वर्णन ४१७ से ४२२ तक समझना।)

विजयदेव की एक पल्योपम आयु और सामानिक देवों की भी एक पल्योपम स्थिति कही है।

इस प्रकार वह विजयदेव ऐसी महा ऋद्धि वाला, महाद्युति वाला, महाबल वाला, महायश वाला, महासुख वाला और ऐसा महान् प्रभावशाली है।^{१८४}

वैजयन्त आदि द्वार

वैजयन्त :- जम्बूद्वीप नामक द्वीप में मेरूपर्वत के दक्षिण में पैतालीस हजार योजन आगे जाने पर उस द्वीप की दक्षिण दिशा के अन्त में तथा दक्षिण दिशा के लवणसमुद्र से उत्तर में जम्बूद्वीप नामक द्वीप का वैजयन्त द्वार है। यह आठ योजन ऊँचा और चार योजन चौड़ा है-आदि सब वक्तव्यता जो विजयद्वार और विजय देव की वही समझना।

जयन्त :- जम्बूद्वीप के मेरूपर्वत के पश्चिम में पैतालीस हजार योजन आगे जाने पर जम्बूद्वीप की पश्चिम दिशा के अंत में तथा लवणसमुद्र के पश्चिमार्ध के पूर्व में शीतोदा महानदी के आगे जम्बूद्वीप का जयन्त नाम द्वार है। इसका वर्णन उपरोक्त अनुसार जानना।

अपराजित :- मेरूपर्वत के उत्तर में पैतालीस हजार योजन आगे जाने पर जम्बूद्वीप की उत्तर दिशा के अन्त में तथा लवणसमुद्र के उत्तरार्ध के दक्षिण में जम्बूद्वीप का अपराजित नाम का द्वार है। इसका वर्णन भी विजयदेव के समान है।

ये चारों राजधानियाँ (देव की राजधानी देवी के नाम की हैं) इस प्रसिद्ध जम्बूद्वीप में न होकर दूसरे जम्बूद्वीप में हैं ।

जम्बूद्वीप के इन द्वारों में एक द्वार से दूसरे द्वार का उन्यासी हजार बावन योजन और देशोन आधा योजन का अन्तर है । (७९०५२ योजन और देशोन आधा योजन) ।^{१८५}

उपकारिकालयन का वर्णन

उपकारिकालयन—

प्रशासनिक कार्यों की व्यवस्था के लिए निर्धारित सचिवालय सरीखे स्थान विशेष को कहते उपकारिकालयन है । 'सौधोऽस्त्री राजसदनम् उपकार्योपकारिका' (अमरकोश द्वि. का. पूरवर्ग श्लोक १०, हैम अभिधान कां. ४ श्लोक ५९) किन्तु 'पाइअसद्महण्णवो' में उवगारिया+लयण (लेण) इस प्रकार समास पद मानकर उवगारिया का अर्थ प्रासाद आदि की पीठिका और लयण (लेण) का अर्थ गिरिवर्ती पाषाण-गृह बताया है ।

सूर्याभ नामक देवविमान के अंदर अत्यन्त समतल रमणीय भूमिभाग के बीचों-बीच एक उपकारिकालयन बना हुआ है जो एक लाख योजन लम्बा-चौड़ा है और उसकी परिधि (कुल क्षेत्र का घेराव) तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन तीन कोस एक सौ अट्ठाईस धनुष और कुछ अधिक साढे तेरह अंगुल है । एक योजन मोटाई है । यह विशाल लयन सर्वात्मना स्वर्ण का बना हुआ है ।

यह उपकारिकालयन सभी दिशा-विदिशाओं में सब ओर से एक पद्मवर-वेदिका और एक वनखंड (उद्यान) से घिरा हुआ है ।^{१८६}

पद्मवरवेदिका का वर्णन

पद्मवरवेदिका ऊँचाई में आधे योजन ऊँची, पांच सौ धनुष चौड़ी और उपकारिकालयन जितनी इसकी परिधि है ।

इसके जैसे कि वज्ररत्नमय (इसकी नेम हैं) रिष्टरत्नमय इसके प्रतिष्ठान-मूल पाद हैं । वैडूर्यरत्नमय इसके स्तम्भ हैं ।) स्वर्ण और रजतमय इसके फलक-पाटिये हैं । आदि वर्णन मिलता है ।

पद्मवरवेदिका सभी दिशा-विदिशाओं में चारों ओर से एक एक हेमजाल (स्वर्णमय माल्यसमूह) से जाल से, किंकणी(घुँघरू) घंटिका, मोती, मणि, कनक (स्वर्ण-विशेष) रत्न और पद्म (कमल) की लंबी-लंबी मालाओं से परिवेष्टित है अर्थात् उस पर लंबी-लंबी मालायें लटक रही हैं ।

शाश्वत-अशाश्वत :-

द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा वह शाश्वत है । परन्तु वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श, पर्यायों की अपेक्षा अशाश्वत है । इसलिए वह शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है ।

काल-

पद्मवरवेदिका पहले भी थी, अब भी है, और आगे भी रहेगी । इस प्रकार त्रिकालावस्थायी होने से वह पद्मवरवेदिका ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य है ।^{१८७}

सुधर्मा सभा का वर्णन-

सूर्याभदेव के मुख्य प्रासादावतंसक के ईशान कोन में सौ योजन लम्बी, पचास योजन चौड़ी और बहत्तर योजन ऊँची सुधर्मा नामक सभा है । यह सभा अनेक सैकड़ों खंभों पर सन्निविष्ट यावत् अप्सराओं से व्याप्त अतीव मनोहर है ।

सुधर्मा सभा के पूर्व, दक्षिण, और उत्तर दिशा में एक-एक द्वार है । वे द्वार ऊँचाई में सोलह योजन ऊँचे, आठ योजन चौड़े और उतने ही प्रवेश मार्ग है । यह द्वार श्वेत वर्ण के हैं । श्रेष्ठ स्वर्ण से निर्मित शिखरों एवं वनमालाओं से अलंकृत हैं, आदि वर्णन पूर्ववत् है ।

उन द्वारों के ऊपर स्वस्तिक आदि आठ-आठ मंगल ध्वजायें और छत्रातिछत्र विराजित हैं-शोभायमान होते हैं ।

इस द्वारों के आगे सामने एक-एक मुखमंडप हैं । ये मंडप सौ योजन लम्बे, पचास योजन चौड़े और ऊँचाई में कुछ अधिक सोलह योजन ऊँचे हैं । सुधर्मा सभा के समान इनका शेष वर्णन उपरोक्त है ।

इन मंडपों के भूमिभाग, चंदेवा और ऊपर आठ-आठ मंगल, ध्वजाओं, छत्रातिछत्र आदि का भी वर्णन है । इन मुखमंडपों में से प्रत्येक के आगे प्रेक्षागृहमंडप बने हैं । इन मंडपों के द्वार का वर्णन उपरोक्त है ।

प्रेक्षागृह मंडपों के अतीव रमणीय समचौरस भूमिभाग के मध्यातिमध्य देश में एक-एक वज्ररत्नमय अक्षपाटक-मंच है । इसके भी बीचों-बीच आठ योजन लम्बी-चौड़ी, चार योजन मोटी और विविध प्रकार के मणिरत्नों से निर्मित निर्मल यावत् प्रतिरूप-असाधारण सुंदर एक-एक मणिपीठिका बनी हुई हैं । इसके ऊपर एक-एक सिंहासन रखा है । भद्रासनों आदि आसनों रूपी परिवार सहित उन सिंहासन का वर्णन है ।^{१८८}

सौधर्म सभा के अतर्गत स्तूप-वर्णन

प्रेक्षागृह मंडपो के आगे एक-एक मणिपीठिका सोलह-सोलह योजन लम्बी-चौड़ी आठ योजन मोटी हैं । ये सभी सर्वात्मना मणिरत्नमय, स्फटिक मणि के समान निर्मल और प्रतिरूप है ।

उन प्रत्येक मणिपीठों के ऊपर सोलह-सोलह योजन लम्बे-चौड़े, समचौरस और ऊँचाई में कुछ अधिक ऊँचे योजन ऊँचे, शंख, अंक रत्न, कुन्दपुष्प, जलकण, मंथन किये हुए अमृत के फेनपुंज सदृश श्वेत, सर्वात्मना रत्नों से बने हुए स्वच्छ चिकने, सलौने, छुटे हुए, मृष्ट, शुद्ध, निर्मल पंक (कीचड) रहित, आवरण रहित, परछाया वाले, प्रभा, चमक, और उद्योत वाले, मन को प्रसन्न करने वाले, देखने योग्य, मनोहर, असाधारण रमणीय स्तूप बने हैं ।

इस स्तूपों के ऊपर आठ-आठ मंगल, ध्वजायें छत्रातिछत्र यावत् सहस्रपत्र कमलों के झूमके सुशोभित होते हैं । स्तूपों की चारों दिशाओं में एक-एक मणिपीठिका है । ये आठ योजन लम्बी-चौड़ी, चार योजन मोटी और अनेक प्रकार के मणि रत्नों से निर्मित, निर्मल है ।

प्रत्येक मणिपीठिका के ऊपर, जिनके मुख स्तूपों के सामने हैं ऐसी जिनोत्सेध प्रमाणवाली चार जिन-प्रतिमायें पर्यकासन से विराजमान हैं-१) ऋषभ, २) वर्धमान, ३) चन्द्रानन, ४) वारिषेण की ।

जिनोत्सेध प्रमाण-अर्थात् ऊँचाई में जिन-भगवान् के शरीर प्रमाण वाली । भगवान् के शरीर की अधिकतम ऊँचाई पाँच सौ धनुष और जघन्यतम सात हाथ की बताई है । वर्णनानुसार वहाँ स्थापित प्रतिमायें पाँच सौ धनुष प्रमाण ऊँची होनी चाहिये, ऐसा टीकाकार का अभिप्राय है ।^{१८९}

सुधर्मा सभा के अंतर्गत चैत्यवृक्ष

स्तुपों के आगे मणिपीठिकाओं के ऊपर एक-एक चैत्यवृक्ष है। ये सभी चैत्यवृक्ष ऊँचाई में आठ योजन ऊँचे-जमीन के भीतर आधे योजन गहरे हैं। इनका स्कन्ध भाग दो योजन का और आधा योजन चौड़ा है। स्कन्ध से निकलकर ऊपर की ओर फैली हुई शाखायें छह योजन ऊँची और लम्बाई-चौड़ाई में आठ योजन की है। कुल मिलाकर इनका सर्वपरिमाण कुछ अधिक आठ योजन है।

चैत्य वृक्षों का वर्णन निम्न प्रकार-

इस वृक्षों के मूल (जड़े) वज्ररत्नों के हैं, विडिमार्थे-शाखायें रजत की, कंद रिष्टरत्नों के, मनोरम स्कन्ध वैडूर्यमणि के, मूलभूत प्रथम विशाल शाखायें शोभनीक श्रेष्ठ स्वर्ण की, विविध शाखा-प्रशाखायें नाना प्रकार के मणि-रत्नों की, पत्ते वैडूर्यरत्न के, पत्तों के वृन्त(डंडियाँ) स्वर्ण के, अरूण-मृदु-सुकोमल-श्रेष्ठ प्रवाल, पल्लव एवं अंकुर जाम्बूनद (स्वर्णविशेष) के हैं और विचित्र मणिरत्नों एवं सुरभिगंध-युक्त पुष्प-फलों के भार से नमित शाखाओं एवं अमृत के समान मधुरस युक्त फल वाले ये वृक्ष सुंदर मनोरम छाया, प्रभा, कांति, शोभा, उद्योत से संपन्न नयन-मनको शांतिदायक एवं अभिरूप प्रतिरूप है।

इन चैत्यवृक्षों के ऊपर आठ-आठ मंगल, ध्वजायें और छत्रातिछत्र सुशोभित हो रहे हैं।

इन प्रत्येक चैत्यवृक्ष के आगे एक-एक मणिपीठिका है। ये मणिपीठिकायें आठ योजन लंबी-चौड़ी चार योजन मोटी, सर्वात्मना मणिमय निर्मल यावत् प्रतिरूप-अतिशय मनोरम हैं।^{१९०}

सुधर्मा सभा के अंतर्गत माहेन्द्र-ध्वज

मणिपीठिकाओं के ऊपर एक-एक माहेन्द्रध्वज (इन्द्र के ध्वज सदृश अति विशाल ध्वज)फहरा रहा है। ये माहेन्द्रध्वज साठ योजन ऊँचे, आधा कोस जमीन के भीतर ऊँडे-गहरे, आधा कौस चौड़े, वज्ररत्नों से निर्मित, दीप्तिमान, चिकने, कमनीय मनोज वर्तुलाकार-गोल डंडे वाले शेष ध्वजाओं से विशिष्ट, अन्यान्य हजारों छोटी-बड़ी अनेक प्रकार की मनोरम रंग-बिरंगी-पंचरंगी पताकाओं से परिमंडित, वायुवेग से फहराती हुई विजय-वैजयन्ती पताका, छत्रातिछत्र से युक्त,

आकाशमंडल को स्पर्श करने वाले ऐसे ऊँचे उपरिभागो से अलंकृत एवं मन को प्रसन्न करने वाले हैं ।

इन माहेन्द्र-ध्वजों के ऊपर आठ-आठ मंगल, ध्वजायें और छत्रातिछत्र सुशोभित हैं ।

इस माहेन्द्रध्वजाओं के आगे एक-एक नन्दा नामक पुष्करिणी है । ये पुष्करिणियाँ सौ योजन लंबी, पचास योजन चौड़ी, दस योजन ऊँडी गहरी हैं और स्वच्छ निर्मल हैं । इसमें से कितनेक का पानी स्वाभाविक पानी जैसा मधुर रस होता है ।

इन प्रत्येक नन्दा पुष्करिणियाँ एक-एक पद्मवर-वेदिका और वनखंडों से घेरी हुई हैं । इसकी की तीन दिशाओं में अतीव मनोहर त्रिसोपान-पंक्तियाँ हैं । इन त्रिसोपान-पंक्तियों के ऊपर तोरण, ध्वजायें, छत्रातिछत्र सुशोभित होते हैं ।^{१९१}

सुधर्मासभावती मनोगुलिकायें गोमानसिकायें

सुधर्मा सभा में अड़तालीस हजार मनोगुलिकायें (छोटे-छोटे चबूतरे) हैं, इस प्रकार के पूर्व दिशा में सोलह हजार, पश्चिम दिशा में सोलह हजार, दक्षिण दिशा में आठ हजार और उत्तर दिशा में आठ हजार ।

इनके उपर अनेक स्वर्ण एवं रजतमय फलक-पाटिये और उन स्वर्ण रजतमय पाटियों पर अनेक वज्ररत्नमय नागदंत लगे हैं । इसके उपर काले सूत से बनी हुई गोल लंबी-लंबी मालायें लटक रही हैं ।

सुधर्मा सभा में ४८ हजार गोमनिसिकायें (शय्या रूप स्थानविशेष) रखी हुई हैं । इसका वर्णन भी उपरोक्त अनुसार है ।

इन नागदंतों के ऊपर बहुत से रजतमय सीकें लटके हैं । उन रजतमय सीकों में बहुत-सी वैडूर्य रत्नों से बनी हुई धूपघटिकायें रखी हैं । ये धूपघटिकायें काले अगर, श्रेष्ठ कुन्दुरूष्क आदि की सुगंध से मन को मोहित कर रही हैं ।^{१९२}

माणवक चैत्यस्तम्भ

उस सुधर्मा सभा में सम रमणीय भूमिभाग के अति मध्यदेश में एक विशाल मणिपीठिका बनी हुई है । जो आयाम-विष्कम्भ की अपेक्षा सोलह योजन लंबी-चौड़ी और आठ योजन मोटी तथा सर्वात्मना रत्नों से बनी हुई है ।

इसके ऊपर एक माणवक नामक चैत्यस्तम्भ है । वह ऊँचाई में साठ योजन ऊँचा, एक योजन जमीन के अंदर गहरा, एक योजन चौड़ा और

अड़तालीस कोनों, ४८ धारों और ४८ आयामों-पहलुओं वाला है । शेष वर्णन माहेन्द्रध्वज जैसा जानना ।

माणवक चैत्यस्तम्भ के ऊपरि भाग में बारह योजन और नीचे बारह योजन छोड़कर मध्य के शेष छत्तीस योजन प्रमाण भाग-स्थान में अनेक स्वर्ण और रजतमय फलक-पाटिये लगे हुए हैं । उन स्वर्ण-रजतमय फलकों पर अनेक वज्रमय नागदंत-खूंटिया हैं । इसके ऊपर बहुत से रजतमय सीकें पटक रहे हैं । इसके अंदर वज्रमय गोल गोल समुद्रगक (डिब्बे) रखे हैं ।

इन में बहुत-सी जिन-अस्थियाँ सुरक्षित रखी हुई है । ये अस्थियाँ सूर्याभदेव एवं अन्य देव-देवियों के लिए अर्चनीय (वंदनीय, समाननीय, सत्करणीय तथा कल्याण, मंगल देव एवं चैत्य रूप में) पर्युपासनीय हैं ।

इस माणवक चैत्य के ऊपर आठ आठ मंगल, ध्वजायें और छत्रातिछत्र सुशोभित है ।^{१९३}

देव-शय्या

मणिपीठिका के ऊपर एक श्रेष्ठ देव-शय्या रखी हुई है । इसके प्रतिपाद अनेक प्रकार की मणियों से बने हैं । स्वर्ण के पाद-पाये हैं । पादशीर्षक (पायों के ऊपरी भाग) अनेक प्रकार की मणियों के हैं । गाते (ईषायें-पाटियों) सोने की हैं । सांधे वज्ररत्नों से भरी हुई है । बाण (निवार) विविध रत्नमयी है । तूली (बिछौना-गादला) रजतमय है । ओसीसा लोहिताक्षरत्न का है । गंडोपधनिका (तकिया) सोने की है ।

इस शय्या के ऊपर शरीर प्रमाण उपधान-गद्दा बिछा है । उसके शिरोभाग और चरणभाग (सिरहाने और पांयते) दोनों ओर तकिये लगे हैं । वह दोनों ओर से ऊँची और मध्य में नत-झुकी हुई, गंभीर गहरी है । जैसे गंगा किनारे की बालू में पांव रखने से पांव घंस जाता है, उसी प्रकार बैठते ही नीचे की ओर घंस जाते हैं । उस पर रजस्त्राण पड़ा रहता है— मसहरी लगी हुई है । कसीदा वाला क्षौमदुकूल (रूई का बना चदर) बिछा है । उसका स्पर्श आजिनक (मृगछाला, चर्म निर्मित वस्त्र), रूई, बूर नामक वनस्पति, मक्खन और आक की रूई के समान सुकोमल है । रक्तांशुक-लाल तूस से ढका रहता है । यावत् असाधारण सुन्दर है ।^{१९४}

आयुधगृह-शस्त्रागार

देव-शय्या के उत्तर-पूर्व दिग्भाग (ईशान-कोण)में आठ योजन लम्बी-चौड़ी चार योजन मोटी सर्वमणिमय यावत् प्रतिरूप एक बड़ी मणिपीठिका बनी है ।

इसके के ऊपर साठ योजन ऊँचा, एक योजन चौड़ा, वज्ररत्नमय सुंदर गोल आकार वाला यावत् प्रतिरूप एक क्षुल्लक-छोट माहेन्द्रध्वज लगा हुआ है-फहरा रहा है । जो स्वस्तिक आदि आठ मंगलो, ध्वजाओं और छत्रातिछत्रों से उपशोभित है ।

इसके पश्चिम दिशा में सूर्याभदेव का 'चोप्पाल' नामक प्रहरणकोश (आयुधगृह-शस्त्रागार) बना है । यह आयुधगृह सर्वात्मना रजतमय, निर्मल यावत् प्रतिरूप है ।

प्रहरणकोश में सूर्याभ देव के परिघरत्न (मूसल, लोहे का मुद्गर जैसा शस्त्रविशेष,) तलवार, गदा, धनुष, आदि बहुत से श्रेष्ठ प्रहरण (अस्त्र-शस्त्र) सुरक्षित रखे हैं । वे सभी शस्त्र अत्यन्त उज्ज्वल, चमकीले, तीक्ष्ण धार वाले और मन को प्रसन्न करने वाले आदि हैं ।

सुधर्मा सभा का उपरी भाग आठ-आठ मंगलों, ध्वजाओं और छत्रातिछत्रों से सुशोभित हो रहा है ।^{१९५}

-सिद्धायतन-

सुधर्मा सभा के उत्तर-पूर्व दिग्भाग (ईशान कोण) में एक विशाल सिद्धायतन है । वह सौ योजन लम्बा, पचास योजन चौड़ा और बहत्तर योजन ऊँचा है । और इस सिद्धायतन का गोमानसिकाओं पर्यन्त एवं भूमिभाग तथा चंदेवा का वर्णन सुधर्मा सभा के समान जानना ।

टिप्पण :-

१. 'जल्लेसे मरइ तल्लेसे उवज्जइ' जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ. ५४.
२. अष्टाध्यायी-दिवादि गण.
३. अभिधान राजेन्द्र कोष, पृ. २६०७
४. 'सम्मूर्छनगर्भोपपाता जन्म' तत्त्वार्थसूत्र अ० २ गा० ३२

५. तत्त्वार्थसूत्र, अ० २ सूत्र ३५.
६. तत्त्वार्थवृत्ति अ० २ सूत्र ३१.
७. तत्त्वार्थसूत्र (गुजराती टीका) संग्राहक रामजी दोसी, अ० २ गा० ३५/३६. पृ. २१५.
८. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, अभिनव टीका भा. ४, पृ. ६.
९. प्रज्ञापन सूत्र भा. १ पृ. ३०१ से ३०७ सूत्र ३४३ से ३५३ जीवाजीवाधिगम सूत्र भा. १ पृ. १४८ सूत्र २/५२, समवायांग पृ. ६, ८, १० भगवती खं. १ पृ. २६.
१०. प्रज्ञापना मलय. वृत्ति, पत्रांक १६९(२९) पण्णवणा भा. २ प्रस्तावना, पृ. ५८.
११. जीवाजीवाधिगम भा. १, पृ. १३० २/४६.
१२. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. ८३.
१३. अनुयोगद्वार में सूक्ष्म और व्यावहारिक ये दो भेद किये हैं ।
१४. अनुयोगद्वार सूत्र और प्रवचनसारोद्धार में पल्योपम का विस्तार से विवेचन मिलता है ।
१५. राजप्रश्नीय सूत्र. पृ. ८४.
१६. राजप्रश्नीय सूत्र. पृ. ८४.
१७. वही
१८. राजप्रश्नीय सूत्र. पृ. ८५
१९. जीवाजीवाधिगम सूत्र भा. १ प्रथम अध्ययन में । समवायांग पृ. ३६०
२०. जीवाजीवाधिगम सूत्र भाग-१, पृ. ४१
२१. प्रज्ञापना भा. २ सूत्र १५२० से १५२६, पृ. ४४५
(क) प्रज्ञापना मलय०वृत्ति पत्र ४१६-४१७.
(ख) प्रज्ञापना प्रमेयबोधिनी टीका भा. ४ पृ. ६९७, ७०३.
२२. जीवाजीवाधिगम सूत्र भा. २ पृ. ११२
२३. जीवाजीवाधिगम सूत्र भा. २ पृ. १११, व्याख्याप्रज्ञाप्ति खं. १, पृ. २५६ से २७८.
२४. प्रज्ञापना सूत्र खं. ३, पृ. २२९.
२५. प्रज्ञापना सूत्र खं. ३, पृ. २३२, समवायांग अ. २ उ. २

२६. प्रज्ञापना सूत्र खं. ३, पृ. २३९.
२७. तत्त्वार्थसूत्र विवेचन ४/८, ९, १०.
२८. तत्त्वार्थसूत्र अ. ४ गा. २२
२९. वही
३०. प्रज्ञापना खं. २ पृ. १७. पृ. ११८, समवायांग पृ. २०८.
३१. प्रज्ञापना सूत्र खं. २ पृ. ४५१
३२. प्रज्ञापना खं. १ सूत्र ६९४ से ७२४. पृ. ५०२, भगवती खंड १ पृ. २४.३३
३३. स्थानांगसूत्र, स्था. ४ सूत्र.
३४. दो की संख्या से लेकर नौ की संख्या तक को पृथक्त्व कहा जाता है ।
३५. प्रज्ञापना भा. ३, पृ. १०३ से १२७.
प्रज्ञापना सूत्र भा. १, सू. १८०६ से १८५२, पृ. १२१. विस्तार से ।
प्रज्ञापना सूत्र भा. १, २०५८, पृ. २१९.
३६. प्रज्ञापना खंड ३ पृ. २१८ से २२६ समवायांग पृ. ३५७.
३७. तत्त्वार्थसूत्र विवेचन सहित प० सुखलाल संघवी में ४अ. २२ गा. ।
३८. प्रज्ञापना खंड १ पृ. २०८, २७३, जीवजीवाभिगम सूत्र खं. १. पृ. १५९.
३९. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ सूत्र २/५० पृ. १४४
४०. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १. पृ. ४७.
४१. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. २ पृ. १०८
४२. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १. पृ. ४७.
४३. प्रज्ञापना सूत्र भा. २ पृ. १८९ सूत्र १९९१ से २००६
४४. तत्त्वार्थसूत्र अ. ४ गा. २९
४५. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. २ पृ. १०८
४६. प्रज्ञापना भा. २, पृ. २४८
४७. व्या. प्रज्ञासि खंड २ १५४, २०१
४८. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. २ पृ. ११६.

४९. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. २ पृ. ११३.
५०. व्याख्याप्रज्ञप्ति खं १, पृ. २३५ और तत्त्वार्थसूत्र अ. ४ गा. ४
५१. 'त्रायस्त्रिंशलोकवर्ज्या व्यंतर ज्योतिष्काः' तत्त्वार्थसूत्र अ. ४, गा. ५
५२. प्रज्ञापनासूत्र भा. १. पृ. ४७० से ४८० सूत्र ६४८ से ६६५ तक.
५३. व्या.व्याख्याप्रज्ञप्ति भा.२ ८/५/१५ पृ. ३११, भगवती श. ५, उ. १
उत्तराध्ययन सूत्र. अ. ३६, प्रज्ञापना खं. १ । सं. १
५४. स्था.ठा. २ उ. ३, रा.वा २/१०१९ १२१९/३, स.सि ४/१०/२४३/२, प्रवचन
सारोद्धार १९२ द्वार.
५५. 'भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमारा' तत्त्वार्थसूत्र २अ०
१० गा०.
५६. प्रज्ञापना ख.१. पृ.११४, तत्त्वार्थसूत्र ४/११ का भाष्य, सर्वार्थसिद्धि ४ अ० गा०
५७. तत्त्वार्थवृत्ति ४अ० १० गा० प- ४०५
तत्त्वार्थाधिगम सूत्र अभिनव टीका ४.१० पृ. ४० से ४३.
५८. जीवाजीवाभिगम सूत्र ख. १ पृ. ३२८
५९. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ. ३३६
६०. जीवाजीवाभिगम सूत्र पृ. ३२७
६१. जीवाजीवाभिगम सूत्र पृ. ३३० भा. १
६२. चउवीस अट्टावीसा बत्तीस सहस्स देव चमरस्स,
अद्धुट्ठा तिन्नि तहा अट्टाइज्जा य देविसया ।
अट्टाइज्जा य दोन्नि य दिवड्ढुपलियं कमेण देवठिई,
पलियं दिवड्ढुमेगं अद्धो देवीण परिसासु ॥ (जीवाजीवाभिगम सूत्र पृ. ३३०)
६३. जीवाजीवाभिगम सूत्र भाग.१ पृ. ३३०
६४. जीवाजीवाभिगम सूत्र भाग.१ पृ. ३३६
६५. तत्त्वार्थसूत्र २अ० १० गा०
६६. जैनेन्द्र कोष भा. ३ पृ. २२९
६७. ध. १४/५६; ६४१/४९५१५

६८. ति. प. ३१७
६९. तत्त्वार्थसूत्र २अ० १२ गा०
७०. तत्त्वार्थसूत्र ४अ० ११गा०,
७१. ति. प. उ. अ० २२, २३ गा०
७२. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ. ३२६
७३. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ. ३३६
रा. वा. ४/१०/८/२१६/२६, ति. प. ३/९९/९२, २०-२९ ज. प. ९९/९२४/
१२७) ।
७४. प्रज्ञापना सूत्र भा. १ पृ. १६२.
ति. प. ३/११९-१२०, त्रि. सा. २९३, मू.आ. ९९४६
७५. प्रज्ञापना सूत्र भा. १ अ. १ पृ. ९९५ देवों विशेष विवेचन में
७६. प्रज्ञापना सूत्र भा. १ अ.१ पृ.९९५
७७. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ उ. ९
७८. तत्त्वार्थसूत्र विवेचन सहित प. सुखलालजी संघवी अ. ४, गा. ११
७९. त. सर्वार्थसिद्धि अ. ४ गा. ११, राजवार्तिक ४/११/१/२१७/१५, स. सि. ४/
११/२४३/१०; ६/५१
८०. उत्तराध्ययन सूत्र ३६अ., प्रज्ञापना सूत्र भा. ९, सु. १४१. पृ. ११४, त. सु. ४/
९९१, ति. प. ६/२५ त्रि. सा. २५९ । तत्त्वार्थसूत्र-४अ० १२ गा. । लोकविभाग
१ अ. २ गा.
८१. प्रज्ञापना सूत्र भा. १ पृ. ९९५ देवों के विशेष विवेचन में ।
८२. प्रज्ञापना सूत्र प. १ सू. ३८/३
८३. क्षेत्रलोक प्रकाश-सर्ग-१२ श्लो. १९३ से २५७.
८४. लोकप्रकाश(क्षेत्रभाग)-सर्ग १२ श्लो. १९३-२५७
८५. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र अभिनव टीका ४ अ. १२ सू. पृ. ४६-४८.
८६. प्रज्ञापना सूत्र भा. ९, १८८ पृ. १६३-१६६

८७. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १. पृ. ३३९.
८८. काले य महाकाले सुरूव-पडिरूव पुण्णभदे य ।
अमरवइ माणिभदे भीमे य तहा महाभीमे ॥१॥
किन्नर किंपुरिसे खलु सप्पुरिसे खलु तहा महापुरिसे ।
अइकाय महाकाए गीयई चेव गीतजसे ॥२॥
८९. जीवजीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ. ३४१
ति.प.गा.६, त्रि. सा. २७३-२७४ ।
९०. ति. प. ६/३५-५४; त्रि. सा. २५८-२७८ ।
९१. तत्त्वार्थसूत्र अभिनव टीका अ. ४ गा. ११
९२. प्रज्ञापना सूत्र भा. १ पृ. १६४.
९३. तत्त्वार्थसूत्र अ. ४, गा. ९९
९४. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. ७८ विवेचन
९५. भ. आ. मू. १९७७/९७४९
९६. स्या. मं. ११/९३५/९०.
९७. उत० २अ, ब० व० । वाच०, स्था० २ ठा० ३ उ० । सूत्रकृतांग, ज्ञाता ।
तत्त्वार्थ० ४अ० १३ गा० । चं० प्र० । न० सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ४ उ० । भ०
५ श० ९० उ० । स्था० ५ ठा० ९ उ० ।
९८. प्रज्ञापना सूत्र ख० १, विवेचन देवों का पृ. ११५, स्थानांग ५/१/९४, सूर्यप्रज्ञप्ति
सू. १०४ तत्त्वार्थसूत्र भाष्य ४१९२, सिद्धान्तसार-८/२०.
९९. तत्त्वार्थवार्तिक भा.२ ४. अ० १२ गा.
१००. सवार्थसिद्धि पूज्यपाद विरचित अ० ४ गा० १२. । जीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ.
११० तत्त्वार्थवृत्ति अ ०४. गा. १२.
१०१. प्रज्ञापना सूत्र भाग. १. सू. १४२-१,
१०२. वही पृ. १७१
१०३. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १. पृ. ३४१
१०४. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. २ पृ. ९०

१०५. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. २ सू. १९६.
१०६. वही
१०७. प्रज्ञापना सूत्र भा. १ सू. १९५ । समवायांग सू. १५०, स्थानांग-२/३१९४, जीवाभिगम सिद्धान्तसार-८१९०, सूत्र० ९२२.
१०८. वही
१०९. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. २ सू. १९३.
११०. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. २ सू. १९४ से १९५.
१११. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. २ पृ. ८९.
११२. सव्वभितराऽभीई, मूलो पुण सव्व बाहियो होई ।
सव्वोवरिंतु साई भरणी पुण सव्व हेड्डिलिया ॥१॥ जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. २ पृ. ८३.
११३. तत्त्वार्थसूत्र अ. ४ गा. १६
११४. 'मेरू प्रदक्षिणा नित्यगतयो नूलोके' तत्त्वार्थसूत्र ४/१४.
११५. 'तत्कृतः कालविभागः' तत्त्वार्थसूत्र ४/१५
११६. जीवाभिगम भा. २ सू. १५३, १५५, १७४-७७ १९४ । तिलोय प. ७/११६, ५५०, जंबूद्वीप प० १२/१४, सिद्धान्तसार ८१२१-२७, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति(श्वेता०) सू. १२६, १६३, समवायांग-सम० ७२, भगवती सू० ३१९१२/२, त्रिषष्टि-शलाका २/३/५३६-४० लोकविभाग-६/२४/२७, १२९/३० ।
११७. तिलोय प० ७/६०६-६०९.
- ११८-१९ ति. प. ७/९५-२२, जंबूद्वीव पण्णती सू. २०४.
१२०. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भा. ३, पृ. ५०३, जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति, सू. २०६
१२१. ति. प. ७/४९३. त्रि. सा. ४३६.
१२२. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. २ पृ. ८१.
१२३. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. २. पृ. ९०.
१२४. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भा. ४ पृ. ५१०.
१२५. तत्त्वार्थसूत्र अ. ४ गा. १८.
१२६. तत्त्वार्थसूत्र अ. ४ गा. १९.

१२७. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ व्या.प्रज्ञप्ति भा. १, प्रज्ञापना भा. १
१२८. तत्त्वार्थसूत्र अ. ४.
१२९. तत्त्वार्थवृत्ति ४/१६
१३०. तत्त्वार्थ सूत्र ४.२० (अभिनव टीका)
१३१. तत्त्वार्थ सूत्र ४.२० (अभिनव टीका)
१३२. प्रज्ञापना सूत्र भा. १ सू. १९६
१३३. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. २ पृ. १०७
१३४. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. २ पृ. १०७
१३५. वही
१३६. प्रज्ञापना सूत्र भा. १ सू. १९६
१३७. तत्त्वार्थसूत्र अ. ४, गा. २०
१३८. तत्त्वार्थसूत्र अ. ४, गा. २०
१३९. तत्त्वार्थधिगम सूत्र अभिनव टीका अ० ४, सू. १७, पृ. ६८
१४०. तत्त्वार्थसूत्र ४ अ. २६ गा.
१४१. स्थानांगसूत्र ८. सू. ६२३-५. क्षेत्रलोक प्रकाश-सर्ग, २६ श्लोक १६१ से २४४.
१४२. स्थानाङ्गसूत्र वृत्ति सू. ९
१४३. तत्त्वार्थसूत्र अ. ४ सू. २५, भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २७२.
१४४. स्था. स्था-९ सूत्र ६८४ गा. ८१, तत्त्वार्थसूत्र ४/२६.
१४५. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. २ पृ. १०३.
१४६. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. २ पृ. १०४.
१४७. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. २ पृ. ९९
१४८. प्रज्ञापना खंड १ पृ. १८९.
१४९. विशेषतः पुण्यप्राणिभिर्मयन्ते-तदगतसौख्यानुभवनेनानुभूयन्ते इति विमानानि ।
१५०. मलयगिरि टिका ।
१५१. जावड़ उदेड़ सूरु जावड़ सो अत्थमेड़ अवरणं ।

तियपणसत्तनवगुणं काडं पत्तेय पत्तेयं ॥१॥

सीयालीस सहस्सा दो य सया जोयणाण तेवट्ठा ।

इगवीस सट्ठिभागा कक्खडमाइंमि पेच्छ नरा ॥२॥

(जीवाजीवाभिगम सूत्र भा.१ पृ.२७६ सू. १९)

१५२. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ. २७६.
१५३. राजप्रश्नीय पृ. १२.
१५४. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. १५
१५५. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. १६
१५६. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. १८
१५७. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. २०
१५८. राजप्रश्नीय सूत्र २९.
१५९. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. २३
१६०. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. २४
१६१. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. २५.
१६२. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. ६७.
१६३. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. ६८.
१६४. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. ४९.
१६५. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ. ४११.
१६६. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. ६८.
१६७. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. ७४ सूत्र नं. १३३.
१६८. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. ७५
१६९. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. ७७.
१७०. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. ८०.
१७१. आसनों की नामबोधक संग्रहणी गाथा इस प्रकार है—
हंसे कौंचे गरूडे उण्णय षणए य दीह भद्दे य ।

पक्खे मयरे पउमे सीह दिसासोत्थि बारसमे ।”

१७२. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. ८१.

१७३. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. ८२

१७४. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. ८३

१७५. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. ९१

१७६. आजानुलम्बिनी माला सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वला ।

मध्यस्थूलकदम्बाढ्य, वनमालेति कीर्तिता । -रघुवंश महाकाव्य ९, ५१ ।

१७७. असुरेसु होति रत्तं ति मतान्तरम् । -औपापातिक सूत्र वृत्ति, पत्र ४९.

१७८. पत्रवणा, पद २.

१७९. औपपातिक सूत्र वृत्ति, पत्र ४९

१८०. पत्रवणा पद २,२

१८१. औपपातिकसूत्र पृ. ८२-पृ. ९० तक ।

१८२. भाषा और मनःपर्याप्ति-एक साथ पूर्ण होने के कारण उनके एकत्व की विवक्षा की गई है । (जीवाभिगम भा. १ पृ. ४०१)

१८३. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १, पृ. ४०४.

१८४. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १, पृ. ४२२.

१८५. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १, पृ. ४२३.

१८६. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. ८५

१८७. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. ८८

१८८. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. ९३

१८९. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. ९४

१९०. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. ९५

१९१. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. ९६

१९२. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. ९६

१९३. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. ९८

१९४. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. ९९

१९५. राजप्रश्नीय सूत्र पृ. ९९-१००



प्रकरण - ४

नरक

विश्व की तरफ दृष्टि करते ही उसी क्षण आश्चर्य के साथ प्रश्न उठता है कि-इस संसार में इतनी विटंबना क्यों ? सभी मानव समान होते हुए भी कोई दुःखी, कोई सुखी, कोई स्वरूपवान, कोई कुरूप, कोई निर्धन, कोई धनवान, कोई राजा है तो कोई रंक । अरे ! एक ही माता की कुक्षी से जन्मे हुए संतानों में भी कितना अन्तर ?

इस सब विषमताओं का कारण एक ही है-जीवों के स्वयं के बांधे हुए कर्म, जिस के कारण विश्व में अनंतानंत जीव चार गति में भ्रमण करते हैं । इसमें जो भयंकर पाप करता है, वह नरक में जाता है, दुःखमय गति है नरक गति । जो “पापमय वृत्ति और पाप की प्रवृत्ति” से मिलती है ।

धर्मस्य फलमिच्छन्ति, धर्मम् नेच्छन्ति मानवाः ।

पापस्य फलं नेच्छन्ति, पापं कुर्वन्ति सादरा ॥

“मानव पाप के फलरूप दुःख को चाहता नहीं है । पर पाप तो खुशी खुशी करता है” । आज चारों तरफ हिंसा, असत्य, चोरी, भ्रष्टाचार, अत्याचार, संग्रहवृत्ति, अन्याय, अनीति, प्रपंच, छल-कपट आदि पापों की भरमार है । मत्स्य उद्योग, मुर्गी घर, कतलखाने आदि हिंसक व्यापार इधर, अणुबम्ब, अटमबम्ब आदि भयंकर अणुशस्त्र युक्त युद्ध, त्रासवाद और आतंकवाद, चलते-फिरते हत्या, खून आदि पाप की प्रवृत्तियाँ नरक गति में जाने के प्रवेश द्वार हैं ।

‘विपाक’ सूत्र में ऐसे भयंकर पाप करनेवाले व्यक्तियों को नरक में कैसे दुःखरूप फल भोगने पड़ते हैं, उन व्यक्तियों का जीवन उदाहरण सहित वर्णन करने में आया है । पाप ही समस्त दुःखों की जनेता है ।

जहाँ पाप प्रवृत्तियाँ हैं, वहाँ विषयाशक्ति में से तीव्र कषायशीलता पैदा होती है । विषयों के आधीन जीव हिंसादिक पापों का तीव्र भाव से आचरण करता है और आनंद का अनुभव करता है, जिससे परिणामों में कलुषितता आये बिना नहीं रहती । इससे बांधे हुए कर्म जीव को नरकगति में खींचकर ले जाता है । वह नरक गति कैसी है ? चौदह राजलोक में कहां उसका स्थान है ? उसका

संक्षेप वर्णन पहले प्रकरण में देखा । अब उसी का विस्तार इस 'नरक' के प्रकरण में देखें ।

नरक

सुयगडो के पाँचवे अध्ययन का नाम 'नरक-विभक्ति'-नरकवास का विभाग है । चूर्णिकार ने 'नरक' का निरूक्त इस प्रकार दिया है^१-

'नीयन्ते तस्मिन् पापकर्माणि इति नरकाः' ।

'न रमन्ति तस्मिन् इति नरकाः ।'

नरक का पर्यायवाची 'निरय' शब्द है जिसका अर्थ होता है-सातावेदनीयादि शुभ या इष्टफल जिस में से निकल गए हैं, वह निरय है ।^२ अर्थात् नरकावास है । उनमें उत्पन्न होने वाले जीव नैरयिक हैं ।

नरकगति का सामान्य निर्देश :-

पापकर्मियों का यातना स्थान नरक है ।^३

वहाँ के जीव नारक कहलाते हैं और नरक उनका स्थान है । नरक नामक स्थान के सम्बन्ध से ही वे जीव नारक या नैरयिक कहलाते हैं ।

'नैरयिक' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ :-

निर्+अय का अर्थ है- अय अर्थात् इष्टफल देने वाला (शुभ कर्म) । निर् अर्थात् निर्गत हो गया है-निकल गया हो । जहाँ इष्टफल की प्राप्ति न होती है, वह है निरय । निरय में उत्पन्न होने वाले जीव नैरयिक कहलाते हैं । ये नैरयिक जीव संसारसमापन्न अर्थात्-जन्ममरण को प्राप्त करते रहते हैं तथा पाँचों इन्द्रियों से युक्त होते हैं ।^४

इसी प्रकार प्रचुररूप से महापाप कर्मों के फलस्वरूप अनेकों प्रकार के असह्य दुःखों को भोगनेवाले जीव विशेष नारकी कहलाते हैं । उनकी गति को नरक गति कहते हैं, और उनके रहने के स्थान को 'नरक' कहते हैं ।

साथ ही वह अति शीत, अति उष्ण, अति दुर्गन्ध, अति अंधकार आदि असंख्य दुःखों की तीव्रता का केन्द्र होता है । वहाँ पर जीव बिलों अर्थात् सुरंगों में उत्पन्न होते हैं और परस्पर में एक दूसरे को मारने-काटने आदि के द्वारा दुःख भोगते रहते हैं ।^५

अन्यत्र कहा गया है कि जहाँ काया के अन्त होने बाद आवाज करते हुए मनुष्यों को योग्यतानुसार क्रमशः अपने स्थानपर आकारित किये जाते हैं उस जगह को नरक कहते हैं ।^६

उक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि नरक दुःखों की खान है, जो कि तीव्र पापोदय का ही अशुभ परिणाण है ।

लोक में नरक का स्थान :-

जैन मतानुसार लोक के स्वरूप के लिये उपमा दी है कि लंबे समय से ऊंची श्वासें लेनेवाला तथा वृद्धावस्था से थका हुआ कोई पुरुष कमरपर दो हाथ रखकर खड़ा हो, वैसा यह लोक है । यह लोक शाश्वत है । किसीने उसको धारण किया नहीं है । किसी ने बनाया नहीं है । यह स्वयंसिद्ध है । यह आश्रय और आधार बिना आकाश में स्थित है । ऐसे लोक के चौदह विभाग हैं । उसके प्रत्येक विभाग को रज्जू अथवा राज कहते हैं ।^७

सातवीं नारकी के तल से उसका प्रारंभ होता है, और सिद्धशिला के पास समग्र लोक का अंत होता हुआ चौदह राजलोक पूरा होता है । लोक के तीन विभाग हैं : १) अधः, २) मध्य, ३) उर्ध्व ।

उर्ध्वभाग में क्षेत्र प्रभाव से शुभ परिणामी द्रव्य होने से उसको उर्ध्वलोक कहते हैं । मध्य में होने से मध्यम परिणाम वाले द्रव्यों का संभव होने से मध्यलोक कहते हैं । और अधः नीचे के भाग में होने से उसी प्रकार बहुलता से द्रव्यों के अशुभ परिणाम का संभव होने से अधोलोक कहते हैं ।^८

रत्नप्रभा नारकी के उपर के दो क्षुल्लक प्रस्तर में मेरू के अंतर्गत कंद के उर्ध्वभाग में आठ प्रदेशों वाला रूचक प्रदेश है । जो दो प्रस्तर हैं उसमें उपर के प्रस्तर में गाय की छाया (आंचल की) जैसे चार आकाश प्रदेश हैं । उसी प्रकार नीचे के प्रस्तर में भी चार प्रदेश हैं । इस प्रकार से नीचे-उपर रहे हुए इन आठ प्रदेशों को "चौरस रूचक" कहते हैं ।^९

इन आठ रूचक प्रदेशों से ९०० योजन उपर और ९०० योजन नीचे का भाग मध्यलोक है ।

-रूचक से ९०० योजन पश्चात् उर्ध्वलोक है ।

-रूचक से ९०० योजन पश्चात् नीचे का अंत समय का अधोलोक है ।^{१०}

इस अधोलोक में नारकों का निवास-स्थान है ।

नैरयिक का स्वरूप

‘धर्म से सुख प्राप्त होता है, और अधर्म से दुःख’

यह सत्य निर्विवाद है । जैन मतानुसार जो जीव हिंसा करने में आसक्त रहते हैं, झूठ बोलने में तत्पर होते हैं, चोरी करते हैं, परस्त्री गमन करते हैं, बहुत आरम्भ और परिग्रह रखते हैं, ऐसे जीव पाप के भार से नरक में उत्पन्न होते हैं । परंतु उनका जन्म वहाँ किस प्रकार होता है ? मनुष्य की भांति या देव की तरह अथवा उससे भी भिन्न ? अब हम वह देखें—

जन्म :- देवों के सदृश नैरयिक का जन्म भी उपपात से होता है । उसके जन्म के विषय में अनेक मत हैं—

१. तिलोयपण्णत्ती के अनुसार ये बिल में उत्पन्न होते हैं ।

२. महापुराण में कथन है कि ये मधुमक्खियों के छत्ते के समान लटकते उत्पन्न होते हैं ।

३. लोक-प्रकाश के मतानुसार कुंभि में इनका उपपात होता है ।

१. बिल में उपपात^{११} :-

तिलोयपण्णत्ती में नारक के उपपात-जन्म विषयक उल्लेख है कि नारकी के जीव पाप से बिल में उत्पन्न होकर और एक मुहूर्तमात्र काल में छह पर्याप्तियों को प्राप्त कर आकस्मिक भय से युक्त होता है । पश्चात् वह नारकी जीव भय से कांपता हुआ बड़े कष्ट से चलना प्रारंभ करता है, उस समय वह छत्तीस आयुधों के मध्य में गिरकर वहाँ से उछलता है । उसी क्षण जिस प्रकार दुष्ट व्याघ्र मृग के बच्चे को देखकर उसके ऊपर टूट पड़ता है, उसी प्रकार वहाँ पूर्व में जन्म लिये हुए क्रूर नारकी उस नवीन नारकी को देखकर धमकाते हुए उसकी और दौड़ते हुए टूट पड़ते हैं ।

उछलने का प्रमाण :- वहाँ उस नरक पृथ्वी में गिरते समय वे जो उछलते हैं, उनके उछलने का प्रमाण प्रत्येक पृथ्वी में अलग अलग है । प्रथम पृथ्वी में जीव ७ उत्सेध योजन और ६ हजार ५०० धनुषप्रमाण ऊपर उछलता है, इसके आगे शेष पृथ्वियों में क्रमसे उत्तरोत्तर दुगुना-दुगुना प्रमाण होता जाता है ।^{१२} नारकी जन्म के समय उछलते हैं, जब कि देव शय्या पर ही उठ बैठते हैं ।

यह अन्तर है ।

२. मधुमक्खि के छत्ते के समान उपपात^{१३}—

तिलोपपण्णत्ति में जहाँ बिल में नारकों का जन्म बताया, वहाँ महापुराण में नारकी के जन्म विषयक उल्लेख है कि नरक गति में सभी पृथ्वियों में नारकी के जीव मधुमक्खियों के छत्ते के समान लटकते हुए घृणित स्थानों में नीचे की ओर मुख करके पैदा होते हैं। वे जीव पापकर्म के उदय से अन्तर्मुहूर्त में ही दुर्गन्धित, घृणित, देखने में अयोग्य और बुरी आकृतिवाले शरीर की पूर्ण रचना कर लेते हैं। और जिस प्रकार वृक्ष के पत्ते शाखा टूट जानेपर नीचे गिरते हैं, उसी प्रकार वे नारकी जीव शरीर की पूर्ण रचना होते ही उस उत्पत्तिस्थान से जलती हुई अत्यन्त दुःसह नरक की भूमिपर गिर पड़ते हैं। पर वहाँ की भूमिपर अनेक तीक्ष्ण हथियार गड़े हुए रहते हैं, नारकी उन हथियारों की नोंकपर गिरते हैं। जिस से उनके शरीर की सब सन्धियां छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और इस दुःख से दुःखी होकर वे जीव वहाँ रोने-चिल्लाने लगते हैं। वहाँ की भूमी की असह्य गर्मी से संतप्त होकर व्याकुल हुए नारकी गम भाड़ में डाले हुए तिलों के समान पहले तो उछलते हैं और नीचे गिर पड़ते हैं। वहाँ पड़ते ही पहले जन्म लिए हुए अतिशय क्रोधी नारकी भयंकर तर्जना करते हुए तीक्ष्ण शस्त्रों से उन नवीन नारकियों के शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं। वे जहाँ तहाँ बिखर जाते हैं और फिर क्षणभर में मिलकर एक हो जाते हैं। इसकी उपमा देते हैं कि जिस प्रकार तलवार के प्रहार से भिन्न हुआ कुएँ का जल फिर से भी मिल जाता है, उसी प्रकार अनेकानेक शस्त्रों से छेदा गया छिन्न-भिन्न हुआ नारकियों का शरीर भी स्वतः मिल जाता है।^{१४} यही तो वैक्रिय शरीर की विशेषता है।

३. कुंभि में जन्म :-

‘महापुराण’ में नारकियों का जन्म छत्तों में बताया तो ‘लोकप्रकाश’ में नैरयिक के जन्म विषयक उल्लेख है कि नारकियों की उत्पत्ति कुंभि में होती है।^{१५} प्रथम पृथ्वी में ये कुंभियाँ वज्र की बनी होती हैं। जो कि खिड़की के आकार की अचित्त योनि वाली होती है। यह नारकियों का उत्पत्तिस्थान है। अन्य शेष छह नरकभूमियों में इन कुंभियों का आकार गोल गवाक्ष के समान होता है। वहाँ उत्पन्न होकर पुष्ट शरीरवाले ये नारक कष्टपूर्वक नीचे पड़ते हैं। उनका रत्नप्रभा में उत्पत्ति प्रदेश तो हिमालय पर्वत के समान एकदम शीतल होता है, परंतु शेष पृथ्वियों में

खेर के अंगारे जैसा होता है। ये अग्नि के जैसे अधिक कष्ट उत्पन्न करते हैं। उनकी एक अंतर्मुहूर्त में छह पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद जैसे ही वे चलते हैं, तब उनकी गति गधे और ऊँट आदि की गति के जैसी अत्यन्त श्रमजनक होती है। उनको तपे हुए लोहे पर पैर रखकर चलना पड़ता है, जो कि अत्यंत दुःखदायक होता है।

इस प्रकार नारक के जन्म (उपपात) के विषय में अलग-अलग मत मिलते हैं। मूल आगमों में नारकों के जन्म के विषय में कुछ लिखा मिलता नहीं है।

२. नैरयिकों का शरीर

जिस प्रकार हमारा शरीर हाड, मांस, चाम, रूधिर आदि से बना होता है, उसी प्रकार नैरयिक जीवों का भवस्वभाव से ही वैक्रिय शरीर होता है। इनका औदारिक शरीर नहीं होता। उनमें तीन शरीर होते हैं—वैक्रिय, तैजस और कार्मण।

जिस प्रकार श्लेष्म, मूत्र, पुरीष, मल, रूधिर, वसा, मेद, पीप, वमन, पूति, माँस, केश, अस्थि, चर्म रूप, अशुभ सामग्री युक्त औदारिक शरीर होता है, उससे भी अतीव अशुभ नारकियों का वैक्रियक शरीर होता है। अर्थात् वैक्रियक होते हुए भी उनका शरीर उपरोक्त बीभत्स सामग्री-युक्त होता है।^{१६}

नरक में प्राप्त आयुध पशु आदि नारकियों के ही शरीर की विक्रिया है। वे नारक के जीव चक्र, बाण, शूली, तोमर, मुद्गर, कर्येत, भाला, सूई, मूसल और तलवार इत्यादिक शस्त्रास्त्र, वन एवं पर्वत की आग, तथा भेड़िया, व्याघ्र, तरक्ष, शृगाल, कुत्ता, बिल्ली और सिंह इन पशुओं के अनुरूप परस्पर सदैव अपने-अपने शरीर की विक्रिया किया करते हैं^{१७}। अन्य नारकी जीव गहरे बिल, धुआँ, वायु अत्यन्त तपा हुआ खप्पर, यंत्र चूल्हा, कण्डनी (एक प्रकार का कुटनेका उपकरण), चक्री और दर्वी (बछ्ठी) इनके आकाररूप अपने शरीर की विक्रिया करते हैं। उपर्युक्त नारकी शूकर, दावानल, तथा शोणित और कीड़ोंसे युक्त सरित, द्रह, कूप और वापी आदिरूप पृथक्-पृथक् रूप से रहित अपने-अपने शरीर की विक्रिया किया करते हैं।^{१८}

नारकियों के अपृथक् विक्रिया होती है। देवों के समान उनके पृथक् विक्रिया नहीं होती। अर्थात् ये अपने शरीर से पृथक् रूप धारण नहीं कर सकते।

सातवीं पृथ्वी में कीडो का रूप-

छठी नरक तक के नारकियों के त्रिशूल, चक्र, तलवार, मुद्गर, पशु, भिण्डपाल, आदि अनेक आयुधरूप एकत्व विक्रिया होती है। सातवीं नरक में

गाय के समान कीड़े, लोहू, चींटी आदि रूप से एकत्व विक्रिया होती है ।^{१९}

इस प्रकार नैरयिक शरीर की विक्रिया होती है । अब उनकी शरीर की विशेषाएँ क्या है ? इसके आगे देखेंगे ।

३. नारकियों के शरीर की विशेषताएँ :-

नारकियों के शरीर अशुभ नामकर्म के उदय के कारण उत्तरोत्तर (आगे-आगे की पृथ्वियों में) अशुभ होते हैं । नारकियों की आकृति विकृत होती है ।^{२०} इनका शरीर एकदम कुब्ज होता है । जैसे कोई पक्षी के पंख काट डाले हो, उसके समान उनका विरूप होता है । ये नारकी विकलांग, हुण्डक संस्थानवाले, नपुंसक होते हैं और देखने में भयावह लगते हैं ।^{२१}

रस :- कडुवी तूंबी और कांजीर के संयोग से जैसा कडुआ और अनिष्ट रस उत्पन्न होता है, वैसा ही रस नारकियों के शरीर में भी उत्पन्न होता है ।

वर्ण :- नैरयिक का वर्ण बुरे काले रंग का होता है । इन नारकियों का शरीर अंधकार के समान काले और रूखे परमाणुओं से बना हुआ होता है ।

गंध :- कुत्ते, बिल्ली, गधे, ऊँट आदि जीवों के मृतक कलेवरों को इकट्ठा करने से जो दुर्गन्ध उत्पन्न होती है, उससे भी उन नारकियों के शरीर की दुर्गन्ध की बराबरी नहीं की जा सकती । अर्थात् इससे भी अधिक भयंकर दुर्गन्ध उनमें होती है ।

स्पर्श :- करोंत और गोखुरू में जैसा कठोर स्पर्श होता है, वैसा ही कठोर स्पर्श नारकियों के शरीर का होता है । उनके शरीर की चमड़ी फटी हुई होने से तथा झुरिया होने से कान्तिरहित कर्कश होते हैं । छेद वाली और जली हुई वस्तु की तरह खुरदरी होती है ।^{२२} (पकी हुई ईंट की तरह खुदरे शरीर हैं) । इसी प्रकार सातों पृथ्वी में होता है ।

१. नारकों की लेश्या- छह प्रकार की लेश्या में से नारकों में पहली तीन अशुभ लेश्या-कृष्ण, नील और कापोत होती है । पहली-दूसरी नरक भूमि में कापोत लेश्या, रत्नप्रभा से अधिक तीव्र संक्लेशकारी लेश्या शर्कराप्रभा में होती हैं । तीसरी नरक के कुछ नैरयिकों में कापोतलेश्या और शेष में नीललेश्या, चौथी नरक में भी नीललेश्या, पाँचवी के कुछ नैरयिकों में नीललेश्या और शेष में कृष्णलेश्या, छठी में कृष्णलेश्या और सातवीं नरक में परम कृष्णलेश्या होती है ।^{२३}

२. इन्द्रिय- नैरयिकों के स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, और श्रोत्रेन्द्रिय ये पाँचो ही इन्द्रियाँ होती है।^{१२४} अर्थात् ये पंचेन्द्रिय प्राणी हैं।

३. संहनन- छह प्रकार के संहननों में से नारक जीवों के शरीर में कोई भी संहनन नहीं होता। उनके शरीरों में न तो शिगएँ होती हैं, और न स्नायु। उनके शरीर में हड्डियाँ भी ही नहीं होती। संहनन की परिभाषा है—अस्थियों का निश्चय होना। जब कि नैरयिकों के शरीर में अस्थियाँ होती ही नहीं हैं।^{१२५}

४. संस्थान- नारकों के भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय- दोनों प्रकार के शरीर हुण्डक संस्थान वाले हैं। तथाविध भवस्वभाव से नारकों के शरीर जड़मूल से उखाड़े गये पंख और ग्रीवा आदि अवयव वाले रोम-पक्षी की तरह अत्यन्त बीभत्स होते हैं।^{१२६} इन जीवों का शरीर और भूमि की आकृति देखनेवाले को उद्वेग उत्पन्न हो जाता है, जो अपने को देखकर महाउद्वेग जनक लगता है, ऐसे वे अत्यन्त कुब्ज होते हैं।

५. कषाय-नारकों में चारों ही कषाय होते हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ। ये चारों ही कषाय प्रचुर मात्रा में होते हैं।

६. संज्ञा-नारकों में चारों ही संज्ञाएँ होती हैं—आहार, भय, मैथुन और परिग्रह।

७. योग-नारकों में मनोयोग, वचनयोग और काययोग ये तीनों योग होते हैं।^{१२७}

८. उपयोग-नारक साकार और अनाकार दोनों उपयोग के उपयोग वाले होते हैं।^{१२८}

९. आहार-नरक के जीव लोक के निष्कूट(किनारे) में नहीं होते, मध्य में होते हैं, इसलिए उनके व्याघात नहीं होता। अतः छहों दिशाओं के पुद्गलों को वे ग्रहण करते हैं और प्रायः अशुभ वर्ण, गंध, रस और स्पर्श वाले पुद्गलों का आहार करते हैं।

नैरयिक का आहार :- आहार हर जीव की चार संज्ञा में से एक है। चारों गति में जीव आहार करता है, उसी तरह नरक में भी कोई जीव वहाँ जा कर ही आहार करता है, आहार को परिणमता है या शरीर बांधता है, और कोई जीव वहाँ जा कर वापस लौटता है, वापस लौट कर यहाँ आता है। यहाँ आ

कर वह फिर दुसरी बार मारणान्तिक समुद्घात द्वारा समहवत होता है । समवहत हो कर इस रत्नप्रभापृथ्वी के ३० लाख नारकावसों में से किसी एक नारकावास में नैरयिक रूप से उत्पन्न होता है । इसके पश्चात् आहार ग्रहण करता है, परिणमता है और शरीर बांधता है ।^{१२९}

१०. नारकों की भूख-प्यास-जीवाजीवाभिगम सूत्र में नैरयिक के भूख-प्यास की कल्पना इस प्रकार की है कि यदि रत्नप्रभापृथ्वी के एक नैरयिक के मुख में सारे समुद्रों का जल तथा सारे खाद्यपुद्गलों को डाल दिया जाय, तो भी उस नैरयिक की भूख तृप्त नहीं हो और न उसकी प्यास ही शांत हो सकती है । ऐसी तीव्र भूख-प्यास की वेदना उनको होती है । इसी तरह सप्तम पृथ्वी तक नैरयिकों को भूख-प्यास की वेदना होती है ।^{१३०}

आहारक-अनाहारक- नारकादि त्रस, त्रसजीवों में ही उत्पन्न होता है और उनका गमनागमन त्रसनाडी से बाहर नहीं होता, अतएव वह तीसरे समय में नियमतः आहारक हो जाता है । जैसे कोई मत्स्यादि भरतक्षेत्र के पूर्वभाग में स्थित है, वह वहाँ से मरकर ऐरवतक्षेत्र के पश्चिम भाग में नीचे नरक में उत्पन्न होता है तब एक ही समय में भरतक्षेत्र के पूर्व भाग से पश्चिम भाग में जाता है, दूसरे समय में ऐरवत क्षेत्र के पश्चिम भाग में जाता है और तीसरे समय में नरकमें उत्पन्न होता है । इन तीन समयों में से प्रथम दो में वह अनाहारक और तीसरे समय में आहारक होता है ।^{१३१}

शब्द :- सतत पीड़ा भोगनेवाले ऐसे नारकों के शब्द परिणाम भी जाने वे विलाप करते हो ऐसे अशुभ-दारुण और सुनते ही दुःख करुणा उपज जावे ऐसे होते हैं ।

हे माता ! हे तात ! हमको छुड़ाओं हमको बचावो । हे स्वामी ! आपका सेवक हूँ मुझे मत मारो । इस प्रकार निरंतर आर्तस्वर पूर्वक रोने का गिडगिडाना पीडारूप शब्द प्रगट करनेवाला, दीनता, हीनता और कृपणता का भाव भरे हुए शब्द परिणाम होते हैं ।^{१३२}

१२. समुद्घात-सात समुद्घातों में से नैरयिकों के चार समुद्घात होते हैं- वेदना, कषाय, वैक्रिय, और मारणान्तिक ।^{१३३}

१३. संज्ञी-नारकी जीव संज्ञी और असंज्ञी दोनो प्रकार के होते हैं । जो गर्भव्युत्क्रान्तिक (गर्भज) मरकर नारकी जीव होते हैं, वे संज्ञी कहलाते हैं । और

जो समूर्च्छिम जीव में से आकर उत्पन्न होते हैं, वे असंज्ञी कहलाते हैं । ये रत्नप्रभा में ही उत्पन्न होते हैं, अन्य नरकों में नहीं । क्योंकि अविचारपूर्वक जो अशुभ क्रिया की जाती है, उसका इतना ही फल कहा है कि-

असंज्ञी जीव-पहली नरक तक, सरीसृप-दूसरी नरक तक, पक्षी-तीसरी नरक तक, सिंह चौथी नरक तक, उरग (सर्पादि) पाँचवीं नरक तक स्त्री, छठी नरक तक, मनुष्य एवं मच्छ-सातवीं नरक तक उत्पन्न होते हैं ।

१४. वेद-नैरयिक नपुंसक ही होते हैं ।

१५. पर्याप्त-नैरयिक में छ पर्याप्त और अपर्याप्तियाँ होती हैं । भाषा और मन की एकत्व विवक्षा है ।

१६. दृष्टि-नारक के जीवों में तीनों ही दृष्टि होती है-मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि और मिश्रदृष्टि ।

१७. दर्शन-नैरयिकों में चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ये तीनों दर्शन होते हैं ।

१८. ज्ञान-नैरयिक ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही होते हैं । जो ज्ञानी है, वे नियम से मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी और अवधिज्ञानी होते हैं । जो अज्ञानी है, वे मति-अज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी और विभंगज्ञानी होते हैं ।

जो नैरयिक असंज्ञी हैं वे अपर्याप्त अवस्था में दो अज्ञान वाले और पर्याप्त अवस्था में तीन अज्ञान वाले होते हैं । संज्ञी नारक दोनों ही अवस्था में तीन अज्ञान वाले होते हैं ।

१९. उपपात- नारक जीव असंख्यात वर्ष की आयुवाले तिर्यचो और मनुष्यों को छोड़कर शेष पर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यचों और मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं । शेष जीवस्थानों से नहीं ।

२०. नारकों की स्थिति (आयुष्य)-प्रत्येक गति के जीवों की स्थिति (आयुमर्यादा) जघन्य और उत्कृष्ट दो प्रकार की होती है । जिससे कम न हो वह जघन्य और जिससे अधिक न हो वह उत्कृष्ट स्थिति कही जाती है । यहाँ नारकों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का निर्देश है ।

जीवाजीवाभिगम सूत्र में स्थिति का उल्लेख है कि^{३५}—

नारको के नाम	जघन्य	उत्कृष्ट
१. रत्नप्रभा नारक	दस हजार वर्ष	एक सागरोपम
२. शर्कराप्रभा नारक	एक सागरोपम	तीन सागरोपम
३. बालुकाप्रभा नारक	तीन सागरोपम	सात सागरोपम
४. पंकप्रभा नारक	सात सागरोपम	दस सागरोपम
५. धूमप्रभा नारक	दस सागरोपम	सत्रह सागरोपम
६. तमःप्रभा नारक	सत्रह सागरोपम	बावीस सागरोपम
७. अधःसप्तम नारक	बावीस सागरोपम	तैंतीस सागरोपम

२१. अवगाहना- नैरयिकों की अवगाहना दो प्रकार की है-

१) भवधारणीय और २) उत्तरवैक्रियिकी ।

जो जन्म से होती है वह भवधारणीय अवगाहना है । और जो भवान्तर के वैरी नारक के घात प्रतिघात के लिए बाद में विचित्र रूप में बनाई जाती है, वह उत्तरवैक्रियिकी अवगाहना है ।

जीवाभिगम सूत्र में सात नारकियों की अवगाहना का निम्न प्रकार से उल्लेख किया गया है^{३५}—

पृथ्वी का नाम	भवधारणीय अवगाहना	उत्तरवैक्रियिकी अवगाहना
१. रत्नप्रभा नैरयिक	७१॥ धनुष ६ अंगुल	१५११ धनुष १२ अंगुल
२. शर्कराप्रभा "	१५॥ धनुष १२ अंगुल	३१ धनुष
३. बालुकाप्रभा "	३१॥ धनुष	६२॥ धनुष
४. पंकप्रभा "	६२॥ धनुष	१२५ धनुष
५. धूमप्रभा "	१२५ धनुष	२५० धनुष
६. तमःप्रभा "	२५० धनुष	५०० धनुष
७. अधःसप्तम पृथ्वी "	५०० धनुष	१००० धनुष

समुच्चय नारकों की भवधारणीय शरीरावगाहना जघन्य से अंगुल के असंख्यातवा भाग प्रमाण और उत्कृष्ट ५०० धनुष्य होता है । और उत्तरवैक्रियिकी अवगाहना जघन्य से अंगुल के संख्यातवा भाग और उत्कृष्ट १००० धनुष्य होती है ।

इस प्रकार नैरयिकों की अवगाहना का उल्लेख किया गया है ।^{३६}

२२. नरकगति में गुणस्थान - चौदह गुणस्थान में से नरक में चार गुणस्थान होते हैं । मिथ्यादृष्टि, सासादन-सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टि ये चार गुणस्थान नरकी में होते हो प्रयार्प्त और अप्रयार्प्त नरकी जीव मिथ्यादृष्टि और अयंत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें होते हैं सासादन सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानों में नियम से पर्याप्तक ही होते हैं । ये गुणस्थानवर्ती जीव प्रथम पृथ्वी में (रत्नप्रभा) होते हैं । दूसरी पृथ्वी से लेकर सातवीं पृथ्वी तक रहनेवाले नरकी मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में पर्याप्तक और अपर्याप्तक होते हैं । पर वे (२-७ पृथ्वीके नरकी) सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानों में नियम से पर्याप्तक ही होते हैं । इस प्रकार नैरयिक में गुणस्थान होते हैं ।^{३७}

कौन से संघयण वाले जीव कौन सी नरक तक उत्पन्न होते हैं :-


१. सेवार्त संघयण वाले जीव दूसरी नरक तक जा सकता है ।
२. कीलिका संघयण वाले जीव तीसरी नरकभूमि तक जा सकता है ।
३. अर्धनारय संघयण वाले जीव चौथी नरक भूमि तक जा सकता है ।
४. नाराय संघयण वाले जीव पाचवीं नरक पृथ्वी तक जा सकता है ।
५. ऋषभ नाराच संघयण वाला जीव छठी नरक तक जा सकता है ।
६. वज्रऋषभ नाराच संघयण वाला जीव सातवीं नरकभूमि तक जा सकता है ।

यह सब कथन उत्कृष्ट से है, जघन्य से तो रत्नप्रभा नरकी के प्रथम प्रस्तर में भी जन्म ले सकता है ।^{३८}


🔔 एक ही नरक में जीव कितनी बार जन्म ले सकता है^{३९} :-

यदि कोई जीव प्रथम नरक में लगातार जावे तो आठ बार जा सकता है । अर्थात् कोई जीव प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ, फिर वहाँ से निकल कर मनुष्य या तिर्यच हुआ पुनः प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ । इस प्रकार वह जीव प्रथम नरक में ही जाता रहे तो आठ बार तक जा सकता है । इसी प्रकार द्वितीय नरक में सात बार, तृतीय नरक में छह बार, चौथे नरक में पाँच बार, पाँचवें नरक में चार बार, छठे नरक में तीन बार और सातवें नरक में दो बार तक

लगातार उत्पन्न हो सकता है ।

 कौन से पदार्थ नरक में नहीं होते* :-

रत्नप्रभा नरक को छोड़कर शेष छह नरकभूमि में द्वीप, समुद्र, पर्वत, कुंड, मोटा द्रव, तलाव, नाना द्रव, इन सबका अस्तित्व नहीं होता । इसी तरह बादर वनस्पतिकाय, वृक्ष, तृण-घास, छोटे-छोटे पेड़, बेइन्द्रियादि तिर्यक् जीव मनुष्य, असुरकुमार को छोड़कर चार निकाय के देव इन में किसी का भी नरकभूमि में अस्तित्व नहीं होता है ।

 जीव नरकायु कब बांधता है* :-

स्थानांग सूत्र में नरक में जाने के चार कारणों का उल्लेख है कि :-


(१) महा-आरंभ, (२) महा परिग्रह, (३) मांसाहार, (४) पंचेन्द्रिय वध ।

तत्त्वार्थसूत्र में नरकायु के आश्रव के कारण :-

बहु आरंभ, बहु परिग्रह का उल्लेख है ।


और बृहत्संग्रहणी में नरक का आयुष्य बांधने का कारण अतिक्रूर अध्यवसाय कहा है ।

इसी प्रकार जीव को नरकायु बांधने को संयोग या निमित्तो में महाआरंभ, महापरिग्रह, मांसाहार, पंचेन्द्रिय वध, अतिक्रूर अध्यवसाय, भयंकर रौद्रध्यान, तीव्र संक्लेशमय परिणाम आदि कारण से नरकायु का बंध होता है ।

 कौन से जीव नरक में से आये होंगे और पुनःनरक में जाने की संभावना वाले हैं* :-

अतिक्रूर अध्यवसाय वाले सर्प, सिंहादि, गीध आदि पक्षी, मत्स्य आदि जलचर जीव प्रायः नरक में से आये हुए होते हैं और इनकी पुनः नरक में जाने की संभावना होती है ।

सामान्यतः इन जीवों के अध्यवसाय ऐसे अशुभ होते हैं, कि उनको नरक में से आये हुए और नरक जाने वाले कहे हैं । परंतु यदि चंडकौशिक सर्प की तरह अध्यवसाय शुभ हो जाय तो नरक के स्थान पर देवलोक में भी जा सकते हैं ।

 नरक की गति-आगति

नरक के जीव सामान्यतः कौन सी गति से आते हैं और कौन सी भूमि

में जन्म लेते हैं इसका उल्लेख गति में प्रकरण में किया गया है ।

गति :- असंज्ञी प्राणी मरकर पहली भूमि में उत्पन्न हो सकते हैं । भुज परिसर्प पहली दो भूमियों तक, पक्षी तीन भूमियों तक, सिंह चार भूमियों तक उत्पन्न हो सकते हैं । उरग पाँच भूमियों तक, स्त्री छः भूमियों तक और मत्स्य व मनुष्य सातवीं भूमि तक जा सकते हैं ।^{५३}

सारांश यह है कि तिर्यच और मनुष्य ही नरक-भूमि में पैदा हो सकते हैं, देव और नारक नहीं । कारण यह है कि उनमें जैसे अध्यवसाय का अभाव होता है । नारक मरकर पुनः तत्काल न तो नरक गति में ही पैदा होता है और न देव गति में । वे तिर्यच एवं मनुष्य गति में ही पैदा हो सकते हैं ।

नारक के जीव अपना आयुष्य पूर्ण करके कहाँ जन्म ले सकते हैं, वह आगति में देखेंगे ।

आगति :-

पहली तीन भूमियों के नारक जीव मनुष्य गति में आकर तीर्थंकर पद तक प्राप्त कर सकते हैं । पहली चार भूमियों के नारक जीव मनुष्य गति में आकर निर्वाण भी प्राप्त कर सकते हैं । पहली पाँच भूमियों के नारक मनुष्य गति में संयम धारण कर सकते हैं । पहली छः भूमियों से निकले हुए नारक जीव देशविरति और पहली सात भूमियों से निकले हुए सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं ।^{५४}

नरकभूमी का परिचय

नरकभूमियाँ सात हैं, इसकी अपेक्षा से नारक जीवों के सात प्रकार हैं । नरकभूमियों के नाम और गोत्र में अंतर है । नाम अनादिकालसिद्ध होता है और अन्वयरहित होता है । अर्थात् नाम में उसके अनुरूप गुण होना आवश्यक नहीं है, जबकि गोत्र गुणप्रधान होता है ।

सात पृथ्वियों के नाम और गोत्र इस प्रकार से हैं ।^{५५}

पृथ्वियाँ	नाम	गोत्र
प्रथम पृथ्वी	धम्मा	रत्नप्रभा
द्वितीय पृथ्वी	वंशा	शर्कराप्रभा
तृतीय पृथ्वी	शैला	बालुकाप्रभा

चतुर्थ पृथ्वी	अंजना	पंकप्रभा
पंचम पृथ्वी	रिष्टा	धूमप्रभा
षष्ठ पृथ्वी	मधा	तमप्रभा
सप्तम पृथ्वी	माधवती	तमस्तमप्रभा

नाम की अपेक्षा गोत्र की प्रधानता है, नरकभूमियों के गोत्र अर्थानुसार हैं, अतएव उनके अर्थ से स्पष्ट हैं कि-

पहली भूमि रत्नप्रधान होने से रत्नप्रभा कहलाती है । इसी तरह दूसरी शर्करा (कंकड) के सदृश होने से शर्कराप्रभा है । तीसरी बालुका (रेती) की मुख्यता होने से बालुकाप्रभा है । चौथी पङ्क (कीचड़) की अधिकता होने से पङ्कप्रभा है । पाँचवी धूम (धूँ) की अधिकता होने से धूमप्रभा है । छठी तमः (अंधकार) की विशेषता से तमःप्रभा और सातवीं महातमः (घन-अंधकार) की प्रचुरता से महातमःप्रभा है । इस प्रकार सातों ही नरक पृथ्वियाँ के नाम गुणनिष्पन्न होते हैं ।

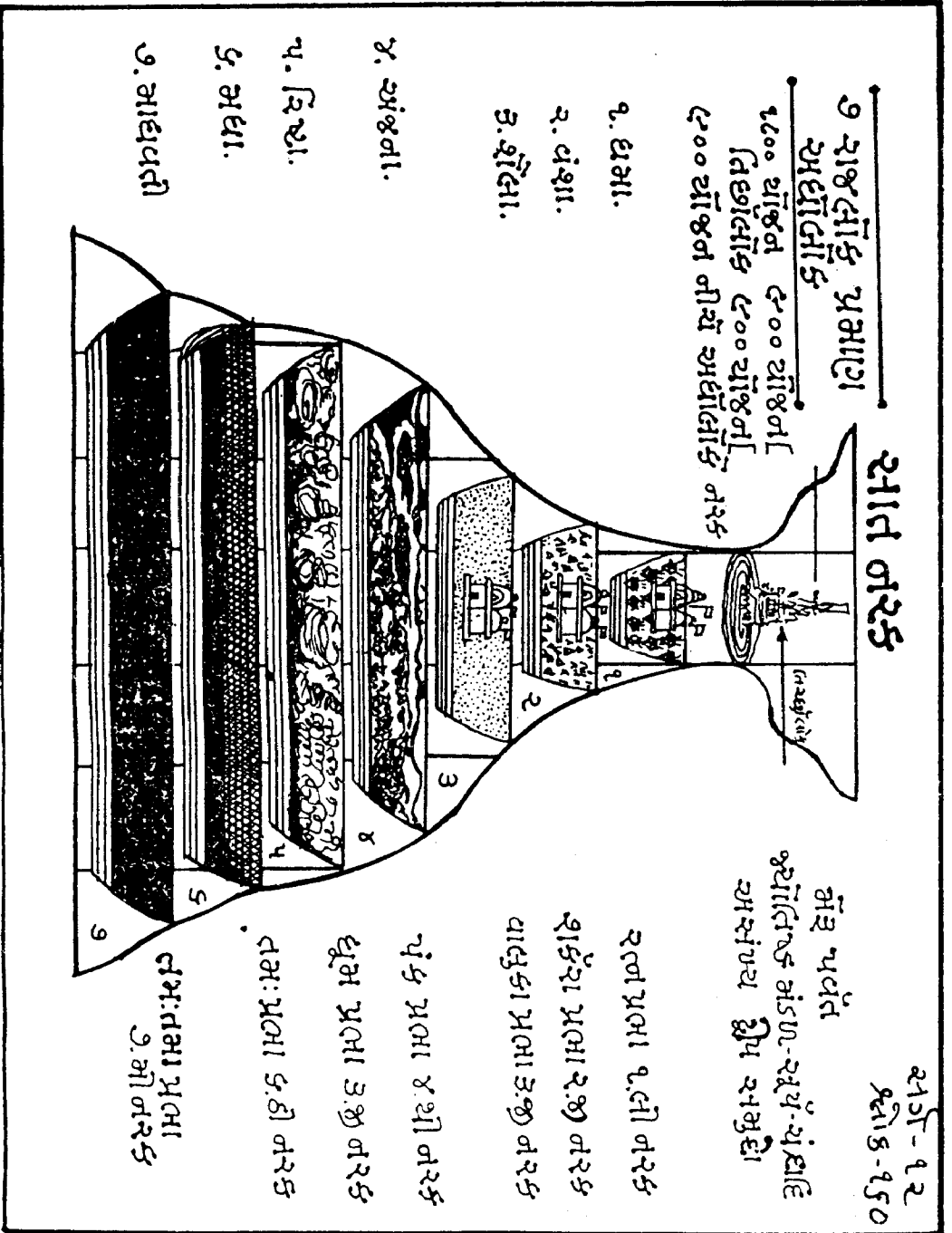
१. नरकपृथ्वियों के भेद और प्रमाण^{६६}—

रत्नप्रभापृथ्वी :- यह प्रथम नरक पृथ्वी है इसके तीन प्रकार हैं-

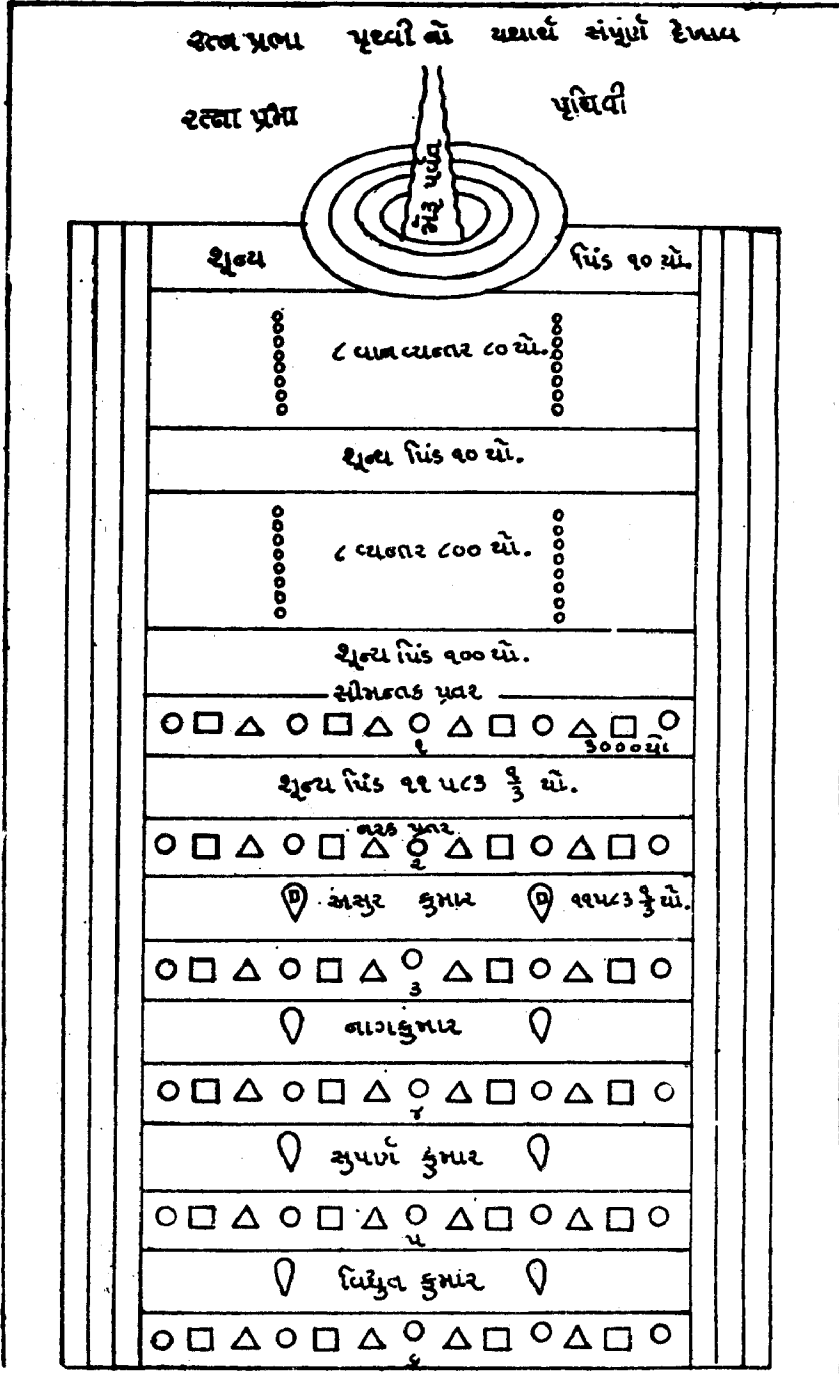
१. खरकाण्ड
२. पंकबहुलकाण्ड और
३. अपबहुल (जल की अधिकता वाला) काण्ड ।

काण्ड का अर्थ-विशिष्ट भूभाग । खर का अर्थ कठिन है । रत्नप्रभापृथ्वी के प्रथम खरकाण्ड के सोलह विभाग हैं । १) रत्नकाण्ड, २) वज्रकाण्ड, ३) वैडूर्य, ४) लोहिताक्ष, ५) मसारगल्ल, ६) हंसगर्भ, ७) पुलक, ८) सौगंधिक, ९) ज्योतिरस, १०) अंजन, ११) अंजनपुलक, १२) रजत, १३) जातरूप, १४) अंक, १५) स्फटिक और, १६) रिष्टिकाण्ड ।

सोलह रत्नों के नाम के अनुसार रत्नप्रभा के खरकाण्ड के इस प्रकार सोलह विभाग हैं । प्रत्येक काण्ड एक हजार योजन की मोटाई (बाहुल्य) वाला है । इस तरह खरकाण्ड की सोलह हजार योजन मोटाई है । उक्त रत्नकाण्ड से लगाकर रिष्टिकाण्ड पर्यन्त सब काण्ड एक ही प्रकार के हैं, अर्थात् इनमें फिर विभाग



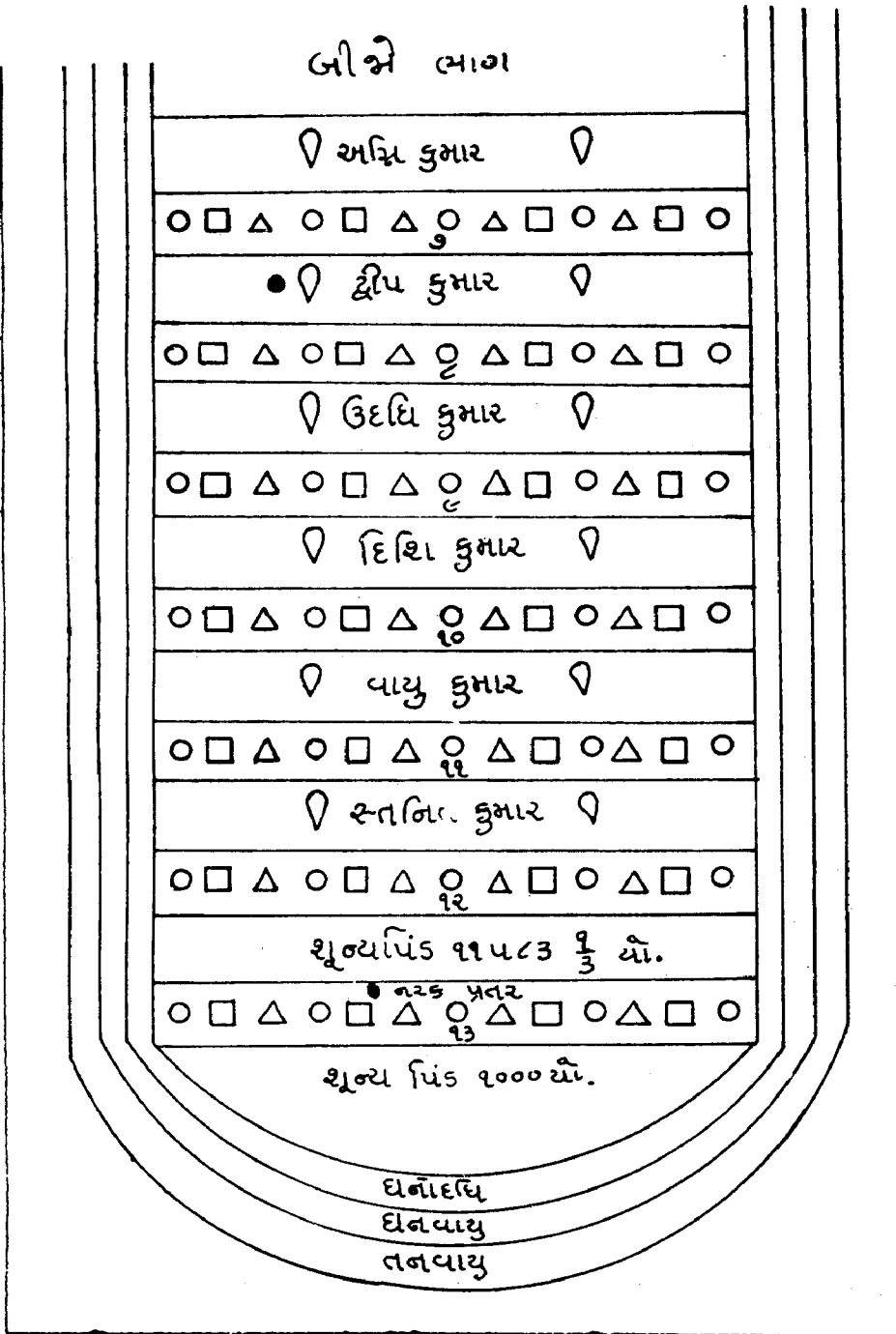
ચિત્ર ૩ : અધોલોક મેં સાતોં નરક કા સ્વરૂપ



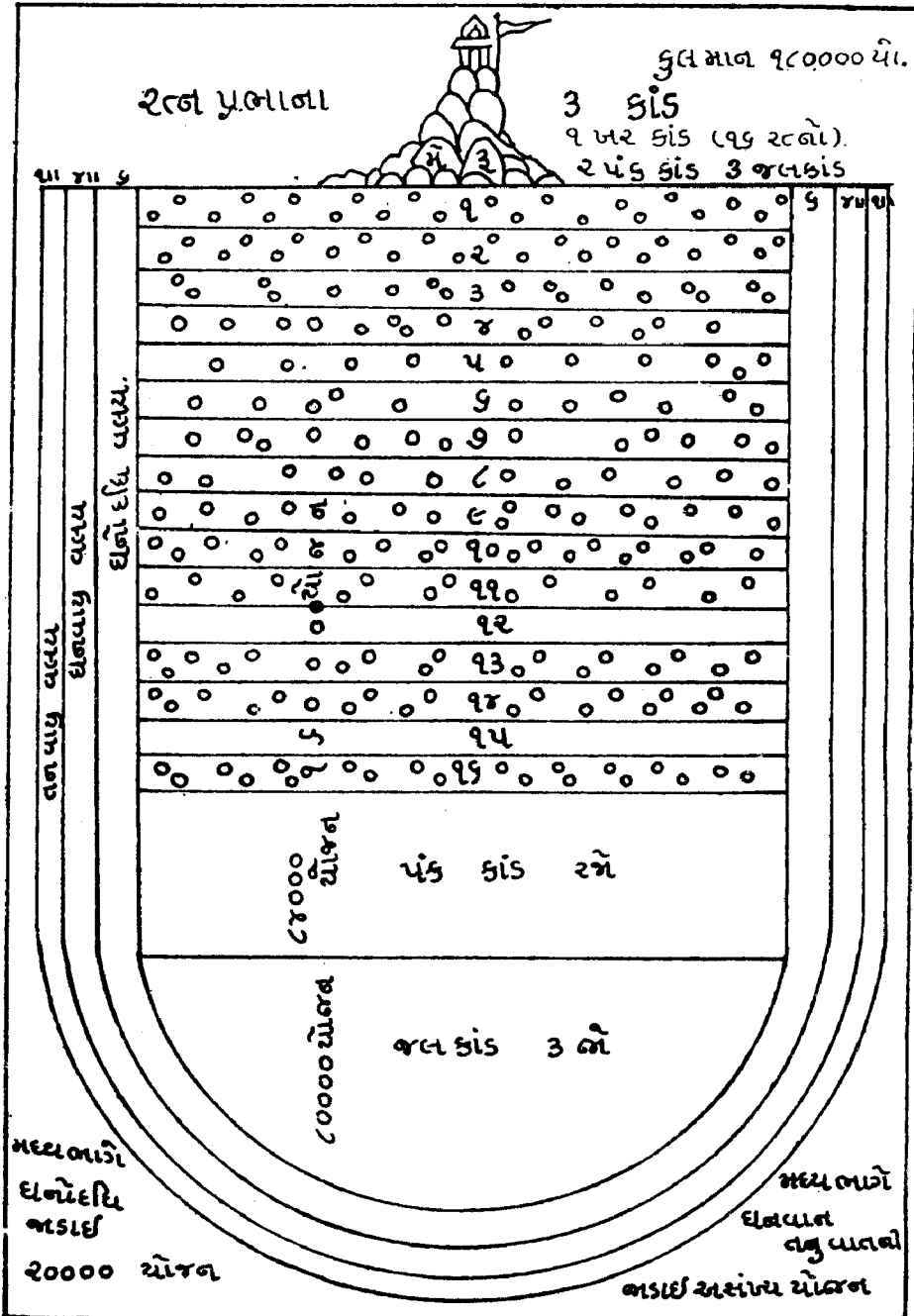
સર્ગ - ૧૪ ૪

પ્રેક્ષક - ૧ ૪

ચિત્ર ૪ : પહલી નરક રત્નપ્રભા પૃથ્વી સંપૂર્ણ ચિત્ર

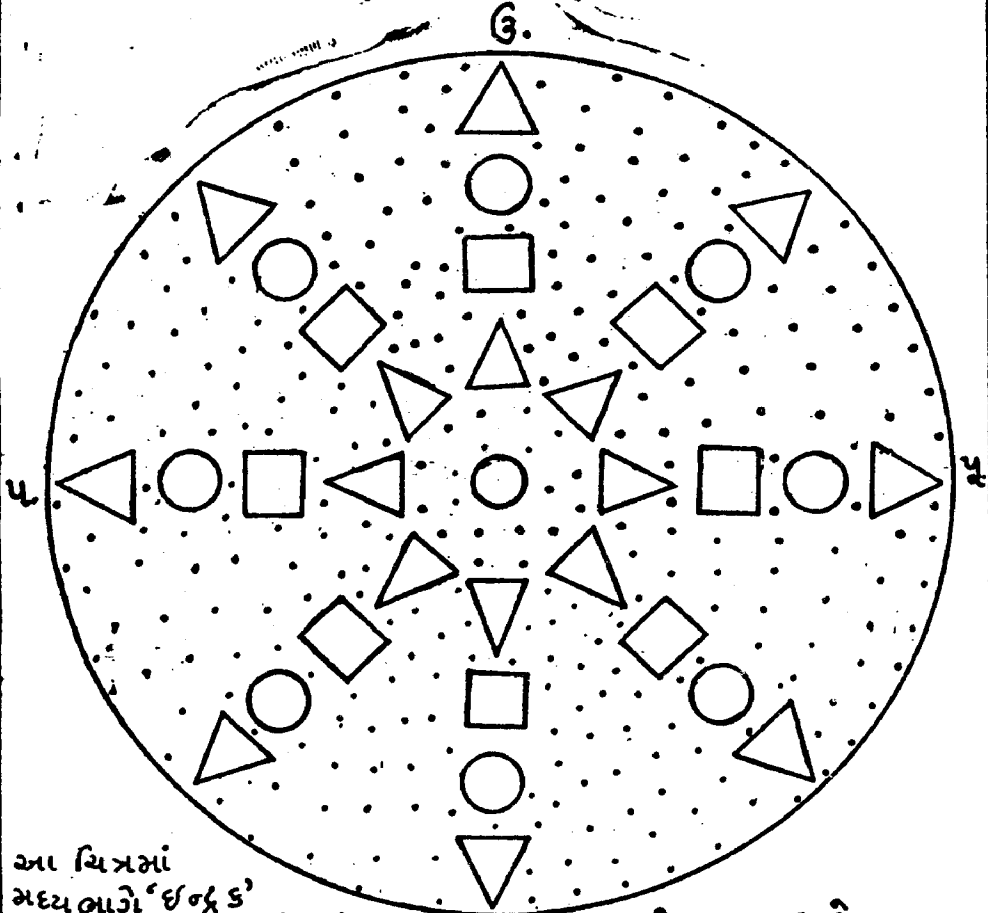


चित्र ५ : रत्नप्रभा पृथ्वी का दूसरा भाग और तीन प्रस्तरें



ચિત્ર ૬ : રત્નપ્રભા નરક ભૂમિ કે ૩ કાંડ

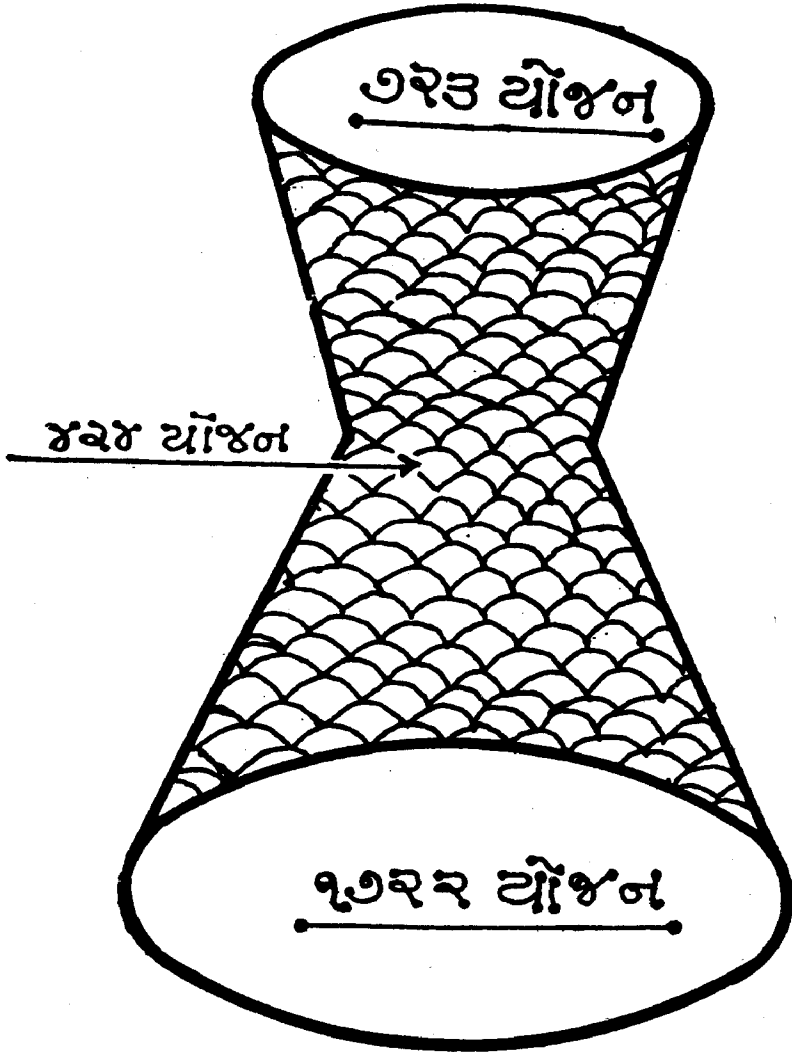
દિશા તથા વિદિશામાં રહેલી નરકાવાસાઓની પંક્તિ
 † તથા પુષ્પાવકીર્ણ નરકાવાસાઓનું ચિત્ર †



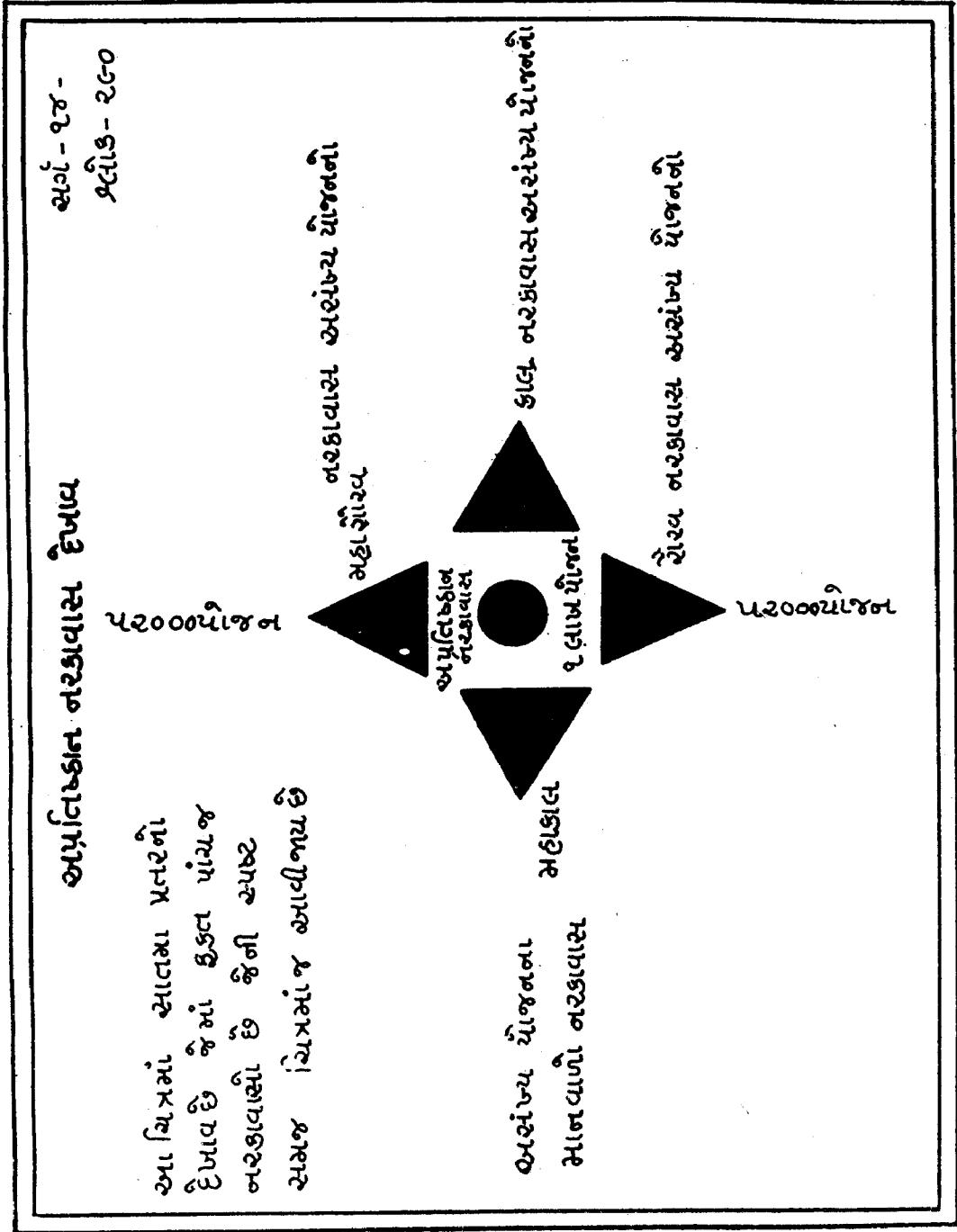
આ ચિત્રમાં
 મધ્યભાગે 'ઈન્ડ્ર' ક'
 નરકાવાસ જતાઓ છે. તેને ફરતી ઈ. આવાસીના સૂચક છે
 દિશા તથા વિદિશામાં શકુ થતા †
 પંક્તિબદ્ધ આવાસી પ્રથમ ત્રિકોણ બાદ
 ચીરસ બાદ ગોળ સી ક્રમે આવેલા
 દેખાય છે બાકીના ચપટાં પુષ્પાવકીર્ણ

ચિત્ર ૭ : નરક ભૂમિયોં મેં નરકાવાસોં કા આધાર

उत्पात पर्वत

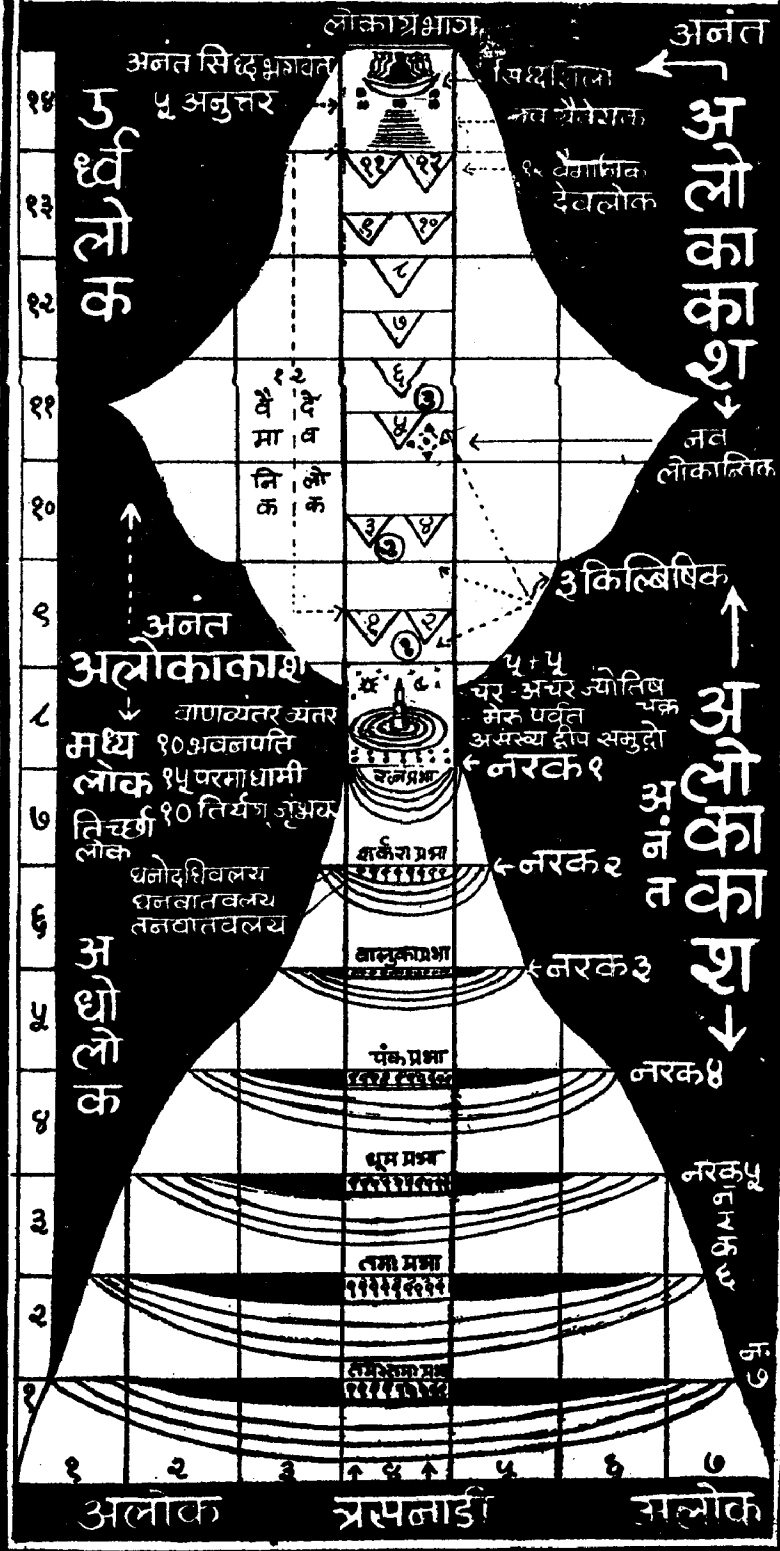


चित्र ८ : स्वर्ग और नरक में उत्पात पर्वत होता है।



ચિત્ર ૧ : પ્રત્યેક નરક ભૂમિ કે પાંચ નરકાવાસ; માપ ઓર આકાર

जैन दर्शनानुसारे विधदर्शन-१४ राजलोक - अनंत अलोक



नहीं है ।

रत्नप्रभा पृथ्वी का दूसरा काण्ड पंकबहुल है । इस काण्ड में कीचड़ की अधिकता है । इसका कोई भी विभाग न होने से एक प्रकार का ही है । इस काण्ड की ८४ हजार योजन मोटाई है ।

रत्नप्रभापृथ्वी का तीसरा अप्बहुल काण्ड है । इसमें जल की प्रचुरता है और इसका भी कोई विभाग नहीं है, यह काण्ड ८० हजार योजन मोटाई वाला है । इस तरह रत्नप्रभा के तीनों काण्डों को मिलाने से रत्नप्रभा की कुल मोटाई (१६+८४+८०) एक लाख अस्सी हजार योजन हो जाती है ।

दूसरी नरकपृथ्वी शर्कराप्रभा से अधःसप्तम पृथ्वी तक नरकभूमियों का कोई विभाग नहीं है ।^{५९} सब एक ही आकारवाली हैं ।

२. नरकपृथ्वियों का आधार

नरक की सातों पृथ्वियाँ घनोदधि, घनवात, तनुवात और शुद्ध आकाश के आधार पर स्थित हैं ।

घनोदधि :- जमे हुए जल को कहते हैं ।

घनवात :- पिण्डीभूत वायु को कहते हैं ।

तनुवात :- हल्की वायु को कहते हैं ।

शुद्ध आकाश :- यह किसी पर अवलम्बित न होकर स्वयं प्रतिष्ठित है । अर्थात् आकाश के आधार पर तनुवात, तनुवात पर घनवात और घनवात पर घनोदधि और घनोदधि पर ये रत्नाप्रभादि पृथ्वियाँ स्थित हैं ।^{६०}

जिस प्रकार कोई व्यक्ति हवा से भरे हुए डिब्बे या मशक को कमर पर बांधकर अथाह जल में प्रवेश करे तो वह जल के ऊपरी सतह पर ही रहेगा, नीचे नहीं डूबेगा । वह जल के आधार पर स्थित रहेगा । उसी तरह घनाम्बु पर ये पृथ्वियाँ टिकी रहती हैं^{६१} ।

ये सातों नरकभूमियाँ एक के नीचे एक हैं, परन्तु बिल्कुल सटी हुई नहीं हैं । इनके बीच में बहुत अन्तर है । इस अन्तर में घनोदधि, घनवात, तनुवात और शुद्ध आकाश नीचे-नीचे है । प्रथम नरकभूमि के नीचे घनोदधि है, उसके नीचे घनवात है, उसके नीचे तनुवात है और इसके नीचे आकाश है । आकाश

के बाद दूसरी नरकभूमि है। दूसरी और तीसरी नरकभूमि के बीच में भी क्रमशः घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश है। इसी तरह सातवीं नरकपृथ्वी तक सब भूमियों के नीचे इसी क्रम से घनोदधि आदि हैं।^{१०}

६. नारकियों का निवास-स्थान

१. नरकावासों का स्वरूप :-

जीवाभिगम में उल्लेख है कि सभी नरकावास सम्पूर्ण रूप से वज्रमय हैं, अर्थात् ये वज्र से बने हुए हैं। उनमें खर बादर पृथ्वीकाय के जीव और पुद्गल च्यवते हैं (मरते) और उत्पन्न होते हैं। अर्थात् पहले स्थित जीव निकलते हैं और नये जीव आकर उत्पन्न होते हैं। इस तरह पुद्गल भी कोई च्यवते हैं और कोई नये आकर मिलते हैं। यह आने-जाने की प्रक्रिया वहाँ निरन्तर चलती रहती है। इसके बावजूद भी रत्नप्रभादि नरकों की रचना शाश्वत है। इसलिए द्रव्यनय की अपेक्षा से ये नित्य हैं। सदाकाल से थे, सदाकाल से हैं, और सदाकाल रहेंगे। इस प्रकार द्रव्य से शाश्वत होते हुए भी इनमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श बदलते रहते हैं, इस अपेक्षा से वे अशाश्वत हैं। जैनसिद्धान्त विविध अपेक्षाओं से वस्तु को विविध रूप में मानता है। इनमें कोई विरोध नहीं है। अपेक्षाभेद से शाश्वत और आशाश्वत मानने में कोई विरोध नहीं है। स्याद्वाद सर्वथा सुसंगत सिद्धान्त है।^{११}

२. नरकावासों का संस्थान

संस्थान अर्थात् आकार। यहाँ रत्नप्रभापृथ्वी के नरकावासों के आकार का उल्लेख किया गया है। ये नरकावास के दो प्रकार हैं-

१. आवलिकाप्रविष्ट और, २. आवलिकाबाह्य।

जो आठों दिशाओं में जो समश्रेणी में (श्रेणीबद्ध-कतारबद्ध) है, उन्हें आवलिकाप्रविष्ट कहते हैं।^{१२} वे तीन प्रकार के हैं-१. गोल, २. त्रिकाण, और ३. चतुष्कोण।

जो आवलिका से बाहर (पुष्पावकीर्ण) पुष्पों की तरह बिखरे-बिखरे हैं, वे आवलिकाबाह्य नरकावास कहलाते हैं। ये नरकावास नाना प्रकार के आकारों के हैं। जीवाजीवाभिगम सूत्र में विविध आकारों का उल्लेख किया गया है।

जैसे कोई लोहे की कोठी के आकार के हैं, कोई मदिरा बनाने हेतु पिष्ट आदि पकाने के बर्तन के आकार के हैं, कोई कंदू हलवाई के पाकपात्र जैसे हैं, कोई लोही-तवा के आकार के हैं, कोई कडाही के आकार के हैं, कोई भाली ओदान पकाने के बर्तन जैसे हैं, कोई पिठरक (जिसमें बहुत से मनुष्यों के लिए भोजन पकाया जाता है वह बर्तन) के आकार के हैं, कोई कृत्रिम (जीवाविशेष) के आकार के हैं, कोई कीर्णपुटक जैसे हैं, कोई तापस के आश्रम जैसे कोई मुरज (वाद्यविशेष) जैसे, कोई मृदंग के आकार के, कोई नन्दिमृदंग (बारह प्रकार के वाद्यों में से एक) के आकार के, कोई आर्लिंगक (मिट्टी का मृदंग) के जैसे, कोई सुघोषा घंटे के समान, कोई दर्दर (वाद्यविशेष) के समान, कोई पणव (ढोल विशेष) जैसे, कोई पटह (ढोल) जैसे, भेरी जैसे, झल्लरी जैसे, कोई कुस्तुम्बक (वाद्य-विशेष) जैसे और कोई नाडीघटिका जैसे हैं ।

इसी प्रकार के छठी नरक पृथ्वी तक नरकावास बने हैं । सातवीं पृथ्वी में नरकावासों का संस्थान दो प्रकार का है—वृत्त(गोल) और त्रिकोण आकार । इस में आवलिकाप्रविष्ट नरकावास ही है । ये पांच हैं । चारों दिशाओं में चार हैं, और एक मध्य में है । मध्य का अप्रतिष्ठान नरकावास गोल है और शेष ४ नरकावास त्रिकोन हैं ।

रत्नप्रभादि के नरकावासों का बाहल्य तीन हजार योजन का है । एक हजार योजन का नीचे का भाग घन है, एक हजार भोजन का मध्यभाग झुषिर है और ऊपर का एक हजार योजन का भाग संकुचित है^{५३} । इसी तरह सातों पृथ्वियों के नरकावासों का बाहल्य है ।

३. नरकावास का वर्ण, गंध और स्पर्श

वर्ण :- ये नरकावास काले हैं, अत्यन्त काली कान्तिवाले हैं, नारक जीवों के रोंगटे खड़े कर देने वाले हैं, भयानक हैं, नारक जीवों को अत्यन्त त्रास करने वाले हैं और परम काले हैं—इनसे बढ़कर और अधिक कालिमा कहीं नहीं है । इसी प्रकार सातों पृथ्वियों के नरकावास कहे गये हैं ।

गंध :- नरकावास में जैसे सर्प का मृत कलेवर हो, गाय का मृतकलेवर से कुत्ते का मृत कलेवर की दुर्गंध हो, बिल्ली का मृत कलेवर की गंध हो । इसी प्रकार मनुष्य, भैंस, चूहे, घोड़े, हाथी, सिंह, व्याघ्र, भेड़िये और चीते के मृतकलेवर जैसी दुर्गंध हो जो धीरे-धीरे सूज-फूलकर सड़ गया हो और जिसमें

से दुर्गन्ध फूट रही हो, जिसका मांस सड़-गल गया हो, जो अत्यन्त अशुचिरूप होने से कोई उसके पास फटकना तक न चाहे ऐसा घृणोत्पादक और बीभत्सदर्शन वाला और जिसमें कीड़े बिलबिला रहे हों ऐसे मृत कलेवर हैं। इससे अधिक अनिष्टतर, अकांततर, अमनोज्ञ इन नरकावासों की गन्ध आती है। इसी प्रकार अधःसप्तम पृथ्वी तक इसी प्रकार की एवं इससे भी बढ़कर भयंकर दुर्गन्ध युक्त नरकावास होते हैं।

स्पर्श :- नरकावासों का स्पर्श जैसे तलवार की धार का, उस्तरे की धारका कदम्बचीरिका (तृणविशेष जो बहुत तीक्ष्ण होता है) के अग्रभाग का, शक्ति (शस्त्रविशेष) के अग्रभाग का, भाले के अग्रभाग का, तोमर के अग्रभाग का, बाण के अग्रभाग का, शूल के अग्रभाग का, लगुड, भिण्डीपाल का, सुईयों के समूह का, कपिकच्छु(खुजली पैदा करने वाली, वल्ली) बिच्छू के डंक, अंगारों का, ज्वाला का, मुर्मुर (भोभर की अग्नि) अर्चि का अलात (जलती लकड़ी) का, शुद्धाग्नि का, लोह पिण्ड की अग्नि का—इन सबके अग्रभाग के जैसा स्पर्श होता है, इनसे भी अधिक अनिष्टतर अमणाम उनका स्पर्श होता है।^{१५} इसी तरह सभी पृथ्वीओं का स्पर्श होता है।

यहाँ सभी नरक पृथ्वियों के अमनोज्ञ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श के स्वरूप का दिग्दर्शन किया गया है। सार यह है कि नरक एक ऐसा स्थान है, जहाँ सर्वत्र कष्ट ही कष्ट भोगना पड़ता है। जीव को कहीं भी, किसी भी प्रकार का सुख क्षणमात्र को नहीं मिलता।

४. नरकावासों की संख्या

सातों नरकपृथ्वी में नरकावासों की संख्या निम्न तालिका के अनुसार है—

पृथ्वी का नाम	आवलिका	प्रविष्ट	पुष्पावकीर्णक	कुल नरकावास
	नरकावास	नरकावास		
रत्नप्रभा	४४३३	२९९५५६७		३००००००
शर्कराप्रभा	२६९५	२४९७३०५		२५०००००
बालुकाप्रभा	१४८५	१४९८५१५		१५०००००
पंकप्रभा	७०७	९९९२९३		१००००००

धूमप्रभा	२६५	२९९७३५	३०००००
तमःप्रभा	६३	९९९३२	९९९९५
तमस्तमःप्रभा	१ मध्य में	४ चारों दिशाओं में	५

पहली नरकपृथ्वी से छठी नरकपृथ्वी तक पृथ्वियों में नरकावास दो प्रकार के हैं-आवलिकाप्रविष्ट और प्रकीर्णक रूप । जो नरकावास पंक्तिबद्ध हैं वे आवलिकाप्रविष्ट हैं और जो बिखरे-बिखरे हैं, वे प्रकीर्णक रूप हैं ।

सातवीं पृथ्वी में केवल पाँच नरकावास हैं । उनके नाम काल, महाकाल, रौरव, महारौरव और अप्रतिष्ठान हैं । अप्रतिष्ठान नामक नरकावास मध्य में है और उसके पूर्व में काल नरकावास, पश्चिम, में महाकाल, दक्षिण में रौरव और उत्तर में महारौरव नरकावास है।^{५५}

इस प्रकार नरक पृथ्वियों में नरकावासों की व्यवस्था है । यहाँ किस नगर में कितने नरकावास किस प्रकार की बनावट के तथा कैसे उनका निर्माण किया गया है, यह स्पष्ट किया है । अब इन नरकावासों की विशालता का उल्लेख किया जा रहा है ।

इन सातों नरकभूमियों में जो नरकावास हैं, वे किस आकार के हैं ? उनका क्या प्रमाण है ? उनकी विशालता का कथन यहाँ दृष्टान्त के माध्यम से बताया जा रहा है-

५. नरकावास की विशालता :-

इस जम्बूद्वीप में आठ योजन ऊँचा रत्नमय जम्बूवृक्ष है । इसीसे इस द्वीप का यह नामकरण हुआ है । यह जम्बूद्वीप सर्व द्वीपों और सर्व समुद्रों में आभ्यन्तर है अर्थात् आदिभूत है और उन सब द्वीप-समुद्रों में छोटा है । क्योंकि आगे के सब लवणादि समुद्र और घातकी-खण्डादि द्वीप क्रमशः इस जम्बूद्वीप से दूगने-दूगने आयाम-विष्कम्भ (प्रमाण) वाले हैं । यह जम्बूद्वीप गोलाकार है, क्योंकि यह तेल में तले हुए पूए के समान आकृति वाला है । यहाँ 'तेल से तले हुए' विशेषण देने का तात्पर्य यह है कि तेल में तला हुआ पूआ प्रायः जैसा गोल होता है, वैसा ही घी में तला हुआ पूआ गोल नहीं होता । वह रथ के पहिये के समान कमल की कर्णिका के समान तथा परिपूर्ण चन्द्रमा के समान गोल होता है । छोटे देश का प्रमाण समझाने के लिए विविध प्रकार से उपमान उपमेय

दिये गये हैं । इस जम्बूद्वीप का आयाम-विष्कम्भ एक लाख योजन है । इसकी परिधि (घेराव) तीन लाख, सोलह हजार, दो सौ सत्तावीस योजन, तीन कोस, एक सौ अट्ठावीस धनुष और साढे तेरह अंगुल से कुछ अधिक है ।

इतने विशाल विस्तारवाले इस जम्बूद्वीप को कोई देव जो बहुत बड़ी ऋद्धि का स्वामी है, महाद्युति वाला है, महाबल वाला है, महायशस्वी है, महा ईश है अर्थात् बहुत सामर्थ्य वाला है अथवा महा सुखी है अथवा महाशवास है-जिसका मन और इन्द्रियां बहुत व्यापक और स्वविषय को भलीभांति ग्रहण करने वाली हैं, तथा जो विशिष्ट विक्रिया करने में अचिन्त्य शक्तिवाला है, वह अवज्ञापूर्वक (हेलया) 'अभी पार कर लेता हूँ, अभी पार कर लेता हूँ' ऐसा कहकर तीन चुटुकिया बजाने में जितना समय लगाता है उतने मात्र समय में उक्त जम्बूद्वीप के २९ चक्र लगाकर वापस आ जावे-इतनी तीव्र गति से, इतनी उत्कृष्ट गति से, इतनी त्वरित गति से, इतनी चपल गति से, इतनी प्रचण्ड गति से, इतने वेग वाली गति से, इतनी दिव्य गति से यदि वह देव दिन से लगाकर छह मास पर्यन्त निरन्तर चलता रहे तो भी रत्नप्रभादि के नरकावासों में किसी को तो वह पार पा सकता है और किसी को पार नहीं पा सकता । इतने विस्तार-वाले ये नरकावास हैं । इसी तरह तमःप्रभा तक ऐसी ही भूमी होती है । सातवीं पृथ्वी में ४ नरकावास हैं । उनमें से मध्यवर्ती एक अप्रतिष्ठान नामक नरकावास लाख योजन विस्तार वाला है अतः उसको पार किया जा सकता है । शेष चार नरकावास असंख्यात कोटि-कोटि योजन प्रमाण होने से उनका पार पाना सम्भव नहीं हैं ।^{१५६}

इस तरह उपमान प्रमाण द्वारा नरकावासों का उल्लेख किया गया है ।

सातों पृथ्वियों का बाहल्य निम्न कोष्टक में दिया गया है—

संख्या	पृथ्वीका नाम	बाहल्य (योजन)	मध्यभाग पोलास (योजन)
१.	रत्नप्रभा	१,८०,०००,	१,६८,०००
२.	शर्कराप्रभा	१,३२,०००	१,३०,०००
३.	बालुकाप्रभा	१,२८,०००	१,२९,०००
४.	पंकप्रभा	१,२०,०००	१,१८,०००
५.	धूमप्रभा	१,१८,०००	१,१९,०००

६.	तमःप्रभा	१,१९,०००	१,१४,०००
७.	अधःसप्तम	१,०८,०००	३,०००

६. नरक-पृथ्वियों की लम्बाई-चौड़ाई :-

रत्नप्रभापृथ्वी लम्बाई-चौड़ाई में सबसे छोटी है। इसकी लम्बाई-चौड़ाई एक राजू है। दूसरी पृथ्वी की दो राजू की है। तीसरी की तीन राजू, चौथी की चार राजू, पाँचवी की पाँच राजू, छठी की छह राजू, और सातवी की सात राजू है।^{१७}

७. प्रस्तरों की अवगाहना :-

‘जीवाजीवाभिगम सूत्र’ में सातों भूमी की अवगाहना का उल्लेख किया गया है।^{१८} रत्नप्रभादि के प्रस्तरों में १३ प्रस्तरों की अवगाहना निम्न है —

रत्नप्रभा के प्रस्तरों की अवगाहना

प्रस्तर	धनुष	हाथ	अंगुल
१	०	३	०
२	९	९	८॥
३	१	२	१७
४	२	२	१॥
५	३	०	१०
६	३	२	१८॥
७	४	१	३
८	४	३	११॥
९	५	१	२०
१०	६	०	४॥
११	६	२	१३
१२	७	०	२१॥
१३	७	३	६

शर्कराप्रभा के प्रस्तरों की अवगाहना

प्रस्तर	धनुष	हाथ	अंगुल
१	७	३	६
२	८	२	९
३	९	१	१२
४	१०	०	१५
५	१०	३	१८
६	११	२	२१
७	१२	२	०
८	१३	१	३
९	१४	०	६
१०	१४	३	९
११	१५	२	१२

बालुकाप्रभा के प्रस्तरों की अवगाहना

प्रस्तर	धनुष	हाथ	अंगुल
१	१५	२	१२
२	१७	२	७॥
३	१९	२	३
४	२१	१	२॥
५	२३	१	१८
६	२५	१	१३॥
७	२७	१	९
८	२९	१	४॥
९	३१	१	०

पंकप्रभा के प्रस्तरों की अवगाहना

प्रस्तर	धनुष	हाथ	अंगुल
१	३१	१	-
२	३६	१	२०
३	४१	२	१६
४	४६	३	१२
५	५२	०	८
६	५७	१	४
७	६२	२	०

धूमप्रभा के प्रस्तरों की अवगाहना

प्रस्तर	धनुष	हाथ	अंगुल
१	६२	२	-
२	७८	१ वितस्ति (वैत-आधा हाथ)	-
३	९३	३	-
४	१०९	१ हाथ १ वितस्ति	-
५	१२५	-	-

तमःप्रभापृथ्वी के प्रस्तरों की अवगाहना

प्रस्तर	धनुष	हाथ
१	६२ धनुष	२ हाथ
२	७८ धनुष	१ वितस्ति (वैत-आधा हाथ)
३	९३ धनुष	३ हाथ
४	१०९ धनुष	१ हाथ १ वितस्ति
५	१२४ धनुष	

तमस्तमाःपृथ्वी के प्रस्तर की अवगाहना

प्रस्तर	धनुष
१	१२५ धनुष
२	१८७॥ धनुष
३	२५०॥ धनुष

तमस्तमाःपृथ्वी में प्रस्तर नहीं है । उनकी भवधारणीय उत्कृष्ट अवगाहना ५०० धनुष की है । उत्तरवैक्रिय एक हजार योजन है ।^{५९}

८. प्रस्तरों में नरकावास की रचना

(१) प्रथम रत्नप्रभापृथ्वी से लगाकर छठी तमःप्रभापृथ्वी पर्यन्त पृथ्वियों में नरकावास दो प्रकार के हैं—आवलिकाप्रविष्ट और प्रकीर्णक रूप । जो नरकावास पंक्तिबद्ध हैं वे आवलिकाप्रविष्ट हैं और जो बिखरे-बिखरे हैं, वे प्रकीर्णक रूप हैं । रत्नप्रभापृथ्वी के तेरह प्रस्तर (पाथडे) हैं । प्रस्तर गृहभूमि तुल्य होते हैं । पहले प्रस्तर में पूर्वादि चारों दिशाओं में ४९-४९ नरकावास हैं । चार विदिशाओं में ४८-४८ नरकावास हैं । मध्य में सीमन्तक नाम का नरकेन्द्रक है । ये सब मिलकर ३८९ नरकावास होते हैं । शेष बारह प्रस्तरों में प्रत्येक में चारो दिशाओं और चारों विदिशाओं में एक-एक नरकावास कम होने से आठ-आठ नरकावास कम-कम होते गये हैं । अर्थात् प्रथम प्रस्तर में ३८९, दूसरे में ३८१—तीसरे में ३७३—इस प्रकार आगे-आगे के प्रस्तर में आठ-आठ नरकावास कम हैं । इस प्रकार तेरह प्रस्तरों में कुल ४४३३ नरकावास आवलिकाप्रविष्ट हैं । और शेष २९९९५५६७ (उनतीस लाख पंचानवै हजार पाँच सौ सडसठ) नरकावास प्रकीर्णक रूप हैं । कुल मिलाकर प्रथम रत्नप्रभापृथ्वी में तीस लाख नरकावास हैं ।^{६०}

(२) शर्कराप्रभा के ग्यारह प्रस्तर हैं । पहले प्रस्तर में चारों दिशाओं में ३६-३६ आवलिका प्रविष्ट नरकावास हैं । चारों विदिशाओं में ३५-३५ नरकावास और मध्य में एक नरकेन्द्रक है, सब मिलाकर २८५ नरकावास पहले प्रस्तर में आवलिकाप्रविष्ट हैं । शेष दस प्रस्तरों में प्रत्येक में आठ-आठ की हानि होने से सब प्रस्तरों के मिलाकर २६९५ आवलिकाप्रविष्ट नरकावास हैं । शेष २४९७३०५ (चौबीस लाख सित्तानवे हजार तीन सौ पाँच) पुष्पावकीर्णक नरकावास हैं । दोनों

मिलाकर पच्चीस लाख नरकावास दूसरी शर्कराप्रभा में हैं ।^{६१}

(३) तीसरी बालुकाप्रभा में नौ प्रस्तर हैं । पहले प्रस्तर में प्रत्येक दिशा में २५-२५, विदिशा में २४-२४ और मध्य में एक नरकेन्द्रक-कुल मिलाकर १९७ आवलिकाप्रविष्ट नरकावास हैं । शेष आठ प्रस्तरों में प्रत्येक में आठ-आठ की हानि है, सब मिलाकर १४८५ आवलिकाप्रविष्ट नरकावास हैं । शेष १४९८५१५ पुष्पावकीर्णक नरकावास हैं । दोनों मिलाकर पन्द्रह लाख नरकावास तीसरी पृथ्वी में हैं ।^{६२}

(४) चौथी पंकप्रभा में सात प्रस्तर हैं । पहले प्रस्तर में प्रत्येक दिशा में १६-१६ आवलिका-प्रविष्ट नरकावास हैं और विदिशा में १५-१५ है, मध्य में एक नरकेन्द्रक है । सब मिलकर १२५ नरकावास हुए । शेष छह प्रस्तरों में प्रत्येक में आठ-आठ की हानि है अतः सब मिलाकर ७०७ आवलिकाप्रविष्ट नरकावास है-शेष ९९९२९३ (नौ लाख निन्यानवे हजार दो सौ तिरानवे) पुष्पावकीर्णक नरकावास हैं । दोनों मिलाकर दस लाख नरकावास पंकप्रभा में हैं ।^{६३}

(५) पाँचवीं धूमप्रभा में ५ प्रस्तर हैं । पहले प्रस्तर में एक-एक दिशा में नौ नौ आवलिका-प्रविष्ट आवास हैं और विदिशाओं में आठ-आठ हैं । मध्य में एक नरकेन्द्रक है । सब मिलाकर ६९ आवलिकाप्रविष्ट नरकावास हैं । शेष चार प्रस्तरों में पूर्ववत् आठ-आठ की हानि है । अतः सब मिलाकर २६५ आवलिकाप्रविष्ट नरकावास हैं । शेष २९९७३५ (दो लाख निन्यानवे हजार सात सौ पैतीस) पुष्पावकीर्णक नरकावास हैं । दोनों मिलाकर तीन लाख नरकावास पाँचवीं पृथ्वी में है ।^{६४}

(६) छठी तमःप्रभा में तीन प्रस्तर हैं । प्रथम प्रस्तर की प्रत्येक दिशा में चार-चार और प्रत्येक विदिशा में ३-३, मध्य में एक नरकेन्द्रक सब मिलाकर २९ आवलिकाप्रविष्ट नरकावास हैं । शेष दो प्रस्तरों में क्रम से आठ-आठ की हानि है । अतः सब मिलाकर ६३ आवलिकाप्रविष्ट नरकावास हैं । शेष ९९९३२ (निन्यानवे हजार नौ सौ बत्तीस) पुष्पावकीर्णक हैं । दोनों मिलाकर छठी पृथ्वी में ९९९९५ नरकावास हैं ।^{६५}

(७) सातवीं पृथ्वी में केवल पांच नरकावास हैं । काल, महाकाल, रौरव, महौरव औ अप्रतिष्ठान उनके नाम हैं । अप्रतिष्ठान नामक नरकावास मध्य में है और उसके पूर्व में काल नरकावास, पश्चिम में महाकाल, दक्षिणमें रौरव और उत्तर

में महारौरव नरकावास हैं ।^{६६}

९. अपान्तराल और बाहल्य मोटाई का यन्त्र

पृथ्वी का नाम	अपान्तराल का प्रमाण	घनोदधिवलय का बाहल्य	घनवातवलय का बाहल्य	तनुवातवलय का बाहल्य	मोटाई का प्रमाण
१) रत्नप्रभा	बारह योजन	६ योजन	४११ योजन	६ कोस	एक लाख अस्सी हजार योजन
२) शर्कराप्रभा	त्रिभाग कम १३ योजन	त्रिभागसहित ६ योजन	कोस कम ५ योजन	६ ^१ / _३ कोस	एक लाख बत्तीस हजार योजन
३) बालुकाप्रभा	१३ योजन	त्रिभागन्यून ७ योजन	५ योजन	त्रिभागन्यून ७ कोस	एक लाख अट्ठाईस हजार योजन
४) पंकप्रभा	१४ योजन	७ योजन	१ कोस ५ योजन	७ कोस	एक लाख बीस हजार योजन
५) धूमप्रभा	त्रिभागन्यून १५ योजन	त्रिभागसहित ७ योजन	५११ योजन	७ ^१ / _३ कोस	एक लाख अठ्ठारह हजार योजन
६) तमःप्रभा	१५ योजन	त्रिभागन्यून ८ योजन	कोस कम ६ योजन	त्रिभागन्यून ८ कोस	एक लाख सोलह हजार योजन
७) स्तमःप्रभा	१६ योजन	८ योजन	६ योजन	८ कोस	एक लाख आठ हजार योजन

रत्नप्रभापृथ्वी आदि सात पृथ्वी का बाहल्य वाले प्रस्तरादि विभाग के अन्तर्गत घनोदधिवलय आदि तीन वलय में वर्ण से काले आदि द्रव्य हैं । रत्नप्रभा पृथ्वी का आकार वर्तुल और वलयाकार कहा गया है, क्योंकि वह इस रत्नप्रभा पृथ्वी को चारों ओर से घेरकर रहा हुआ है । इसी प्रकार सातों पृथ्वियों का ऐसा ही है । रत्नप्रभा पृथ्वी असंख्यात हजार लम्बी और चौड़ी तथा असंख्यात हजार योजन की परिधि (घेराव) वाली है । इसी प्रकार सप्तमपृथ्वी तक है । रत्नप्रभा पृथ्वी अन्त में, मध्य में, सर्वत्र समान बाहल्य वाली कही गई है । इसी प्रकार सातवीं पृथ्वी तक बाहल्य है ।

१०. पृथ्वियों का विभागवार अन्तर

रत्नप्रभापृथ्वी के ऊपर के चरमांत से, नीचे के चरमान्त के बीच में एक लाख अस्सी हजार योजन का अन्तर है । इसी के ऊपर के चरमान्त से खरकांड के नीचे के चरमान्त के बीच सोल हजार योजन का अन्तर है । ऊपर के चरमान्त से रत्नकांड के नीचे के चरमान्त के बीच एक हजार योजन का अन्तर है ।

बज्रकांड के ऊपर के चरमान्त के बीच एक हजार योजन का अन्तर है । ऊपर के वज्रकांड के नीचे के चरमान्त के बीच दो हजार योजन का अन्तर है । ऊपर के वज्रकांड के नीचे के चरमान्त के बीच दो हजार योजन का अन्तर है । इसी प्रकार श्लिकाण्ड के ऊपर के चरमान्त के बीच पंद्रह हजार योजन का अन्तर है और नीचे के चरमान्त तक सोलह हजार का अन्तर है ।^{६७}

रत्नप्रभापृथ्वी के ऊपर के चरमान्त से पंकबहुलकाण्ड के ऊपर के चरमान्त के बीच सोलह हजार योजन का अन्तर है । नीचे के चरमान्त तक एक लाख योजन का अन्तर है । अपबहुलकाण्ड के ऊपर के चरमान्त तक एक लाख योजन का और नीचे के चरमान्त तक एक लाख अस्सी हजार योजन का अन्तर है ।

घनोदधि के ऊपर के चरमान्त तक एक लाख अस्सी हजार और नीचे के चरमान्त तक दो लाख योजन का अन्तर है ।

इस रत्नप्रभापृथ्वी के ऊपर के चरमान्त से घनवात के ऊपर के चरमान्त तक दो लाख योजन का अन्तर है और नीचे के चरमान्त तक असंख्यात लाख योजन अन्तर है ।

रत्नप्रभापृथ्वी के ऊपर के चरमान्त से तनुवात के ऊपर के चरमान्त तक असंख्यात लाख योजन का अन्तर है और नीचे के चरमान्त तक भी असंख्यात लाख योजन का अन्तर है । इसी प्रकार अवकाशान्तर के दोनों चरमान्तों का वर्णन है ।

दूसरी पृथ्वी (शर्कराप्रभा) के ऊपर के चरमान्त से नीचे के चरमान्त के बीच एक लाख बत्तीस हजार योजन का अन्तर है । घनोदधि के उपरि चरमान्त के बीच एक लाख बत्तीस हजार योजन का अन्तर है । नीचे के चरमान्त तक एक लाख बावन हजार योजन का अन्तर है । घनवात के उपरितन चरमान्त का अन्तर भी इतना ही है । घनवात के नीचे के चरमान्त तक तथा तनुवात और अवकाशान्तर के ऊपर और नीचे के चरमान्त तक असंख्यात लाख योजन का अन्तर है । इस प्रकार सप्तम पृथ्वी तक का अन्तर है ।

जैसे कि तीसरी पृथ्वी के ऊपर के चरमान्त से घनोदधि के चरमान्त तक एक लाख अड़तालीस हजार योजन का अन्तर है । पंकप्रभा पृथ्वी के ऊपर के चरमान्त से उसके घनोदधि के चरमान्त तक एक लाख चवालीस हजार का अन्तर

है। घूमप्रभा के ऊपरी चरमान्त से उसके घनोदधि के चरमान्त तक एक लाख अड़तीस योजन का अन्तर है। तमःप्रभा में एक लाख छत्तीस हजार योजन का अन्तर तथा अधःसप्तम पृथ्वी के ऊपर के चरमान्त से उसके घनोदधि का चरमान्त एक लाख अठ्ठावीस हजार योजन है।^{६८}

इस प्रकार सभी नरकभूमियाँ में अन्तर होता है।

११. रत्नादिकाण्डों का बाहल्य

रत्नप्रभापृथ्वीके खरकाण्ड की सोलह हजार योजन की मोटाई है। रत्नकाण्ड एक हजार योजन की मोटाई वाला है। रिष्टिकाण्ड की एक हजार योजन की मोटाई है।

रत्नाप्रभापृथ्वी का पंकबहुल कांड चौगसी हजार योजन की मोटाई वाला है। अल्पबहुल कांड की अस्सी हजार योजन की मोटाई है।

रत्नाप्रभापृथ्वी का घनोदधि बीस हजार योजन की मोटाई का है। घनवात असंख्यात हजार योजन का मोटा है। इसी प्रकार तनुवात और आकाश भी असंख्यात हजार योजन की मोटाई वाला है।

इसी प्रकार नरक की सातों पृथ्वी तक घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश की मोटाई कही है।

काण्ड केवल रत्नप्रभापृथ्वी में ही हैं। खरकाण्ड के सोलह विभाग हैं और प्रत्येक विभाग का बाहल्य एक हजार योजन का बताया है। सोलह काण्डों का कुल बाहल्य सोलह हजार योजन का है। पंकबहुल दूसरे काण्ड का बाहल्य चौगसी हजार और अपबहुल तीसरे काण्ड का बाहल्य अस्सी हजार योजन है। इसी प्रकार रत्नप्रभा के तीनों काण्डों का बाहल्य मिलाने से रत्नप्रभा की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन की है।

प्रत्येक पृथ्वी के क्रमशः घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश का बाहल्य उपर की तरह जानना।^{६९}

१२. रत्नप्रभादि में द्रव्यों की सत्ता

एक लाख अस्सी हजार योजन बाहल्य वाली और प्रतर-काण्डादि रूप में (बुद्धि द्वारा) विभक्त इस रत्नप्रभापृथ्वी में पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस, आठ

स्पर्श, छः संस्थान रूप में परिणत द्रव्य एक-दूसरे से बंधे हुए हैं ।

नस्क = शाश्वत या अशाश्वत

जैन आगम और जैनदर्शन प्रत्येक वस्तु को विविध दृष्टिकोणों से देखकर उसकी विविधरूपता और एकरूपता को स्वीकार करता है । वस्तु भिन्न-भिन्न विवक्षाओं और अपेक्षाओं से भिन्न रूप वाली है और उस भिन्नरूपता में भी उसका एकत्व रहा हुआ है । एकान्तवादी दर्शन केवल एक धर्म को ही समग्र वस्तु मान लेते हैं । जबकि वास्तव में वस्तु विविध पहलुओं से विभिन्न रूप वाली है । अतएव एकान्तवाद अपूर्ण है, एकांगी है । वह वस्तु के समग्र और सही स्वरूप को प्रकट नहीं करता । जैन सिद्धान्त वस्तु को समग्र रूप वाली मानता है । अतएव एकान्तवाद अपूर्ण है, एकांगी है । वह वस्तु के समग्र और सही स्वरूप को प्रकट नहीं करता । जैन सिद्धान्त वस्तु के समग्र रूप में देखकर प्ररूपणा करता है कि प्रत्येक वस्तु अपेक्षाभेद से नित्य भी है, अनित्य भी है, सामान्यरूप भी है, विशेषरूप भी है, एकरूप भी है और अनेकरूप भी है । भिन्न भी है और अभिन्न भी है ।

जैनसिद्धान्त अपने इस अनेकान्तवादी दृष्टिकोण से नयों के आधार से प्रमाणित करता है । संक्षेप में नय दो प्रकार के हैं-१) द्रव्यार्थिक नय और २) पर्यायार्थिक नय । द्रव्य नय वस्तु के सामान्य स्वरूप को ग्रहण करता है और पर्याय नय वस्तु के विशेषस्वरूप को ग्रहण करता है । प्रत्येक वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है ।^{१०}

वस्तु न एकान्त द्रव्यरूप है और न एकान्त पर्याय रूप है । वह उभयात्मक है ।^{११} द्रव्य को छोड़कर पर्याय नहीं रहते और पर्याय के बिना द्रव्य नहीं रहता । द्रव्य पर्यायों का आधार है और पर्याय द्रव्य का आधेय है । आधेय के बिना आधार और आधार के बिना आधेय की स्थिति ही नहीं है । द्रव्य के बिना पर्याय और पर्याय के बिना द्रव्य नहीं रह सकता । अतएव कहा जा सकता है कि परपरिकल्पित एकान्त द्रव्य असत् है क्योंकि वह पर्यायरहित है ।

जो पर्यायरहित है वह द्रव्य असत् है जैसे बालत्वादिपर्याय से शून्य वन्ध्यापुत्र । इसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि परपरिकल्पित एकान्त पर्याय असत् है क्योंकि वह द्रव्य से भिन्न है । जो द्रव्य से भिन्न है वह असत् है जैसे वन्ध्यापुत्र की बालत्व आदि पर्याय । अतएव सिद्ध होता है कि वस्तु द्रव्य-

पर्यायात्मक है और उभयदृष्टि से उसका समग्र विचार करना चाहिए ।

रत्नप्रभापृथ्वी को शाश्वत भी कहा है और अशाश्वत भी कहा है । इस पर शंका होती है कि शाश्वतता और अशाश्वतता परस्पर विरोधी धर्म हैं तो एक ही वस्तु में दो विरोधी धर्म कैसे रह सकते हैं ? यदि वह शाश्वत है तो अशाश्वत नहीं हो सकती और अशाश्वत है तो शाश्वत नहीं हो सकती । जैसे शीतत्व और उष्णत्व एकत्र नहीं रह सकते । एकान्तवादी दर्शनों की ऐसी ही मान्यता है । अतएव नित्यैकान्तवादी अनित्यता का अपलाप करते हैं और अनित्यैकान्तवादी नित्यता का आपलाप करते हैं संख्या आदि दर्शन एकान्त नित्यता का समर्थन करते हैं । जबकि बौद्धादि दर्शन एकान्त क्षणिकता-अनित्यता का समर्थन करते हैं । जैनसिद्धांत इन दोनों एकान्तों का निषेध करता है और अनेकान्त का समर्थन करता है ।^{१२}

अनेकान्तवादी एवं प्रमाणित दृष्टिकोण को लेकर ही सूत्र में कहा गया है कि रत्नप्रभापृथ्वी द्रव्य की अपेक्षा से शाश्वत है । अर्थात् रत्नप्रभापृथ्वी का आकारादि भाव उसका अस्तित्व आदि सदा से था, है और रहेगा । अतएव वह शाश्वत है । परंतु उसके कृष्णादि वर्ण पर्याय, गंधादि पर्याय, रस पर्याय, स्पर्श पर्याय आदि प्रतिक्षण पलटते रहते हैं अतएव वह अशाश्वत भी है । इस प्रकार द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा से सातों नरकपृथ्वियाँ शाश्वत हैं और पर्यायार्थिक नय से वे अशाश्वत हैं ।

रत्नप्रभादि की शाश्वतता द्रव्यापेक्षया कही जाने पर शंका हो सकती है कि यह शाश्वतता सकलकालावस्थिति रूप है या दीर्घकाल-अवस्थितिरूप है, इस शंका का समाधान करते हुए कहा गया है कि यह पृथ्वी अनादिकाल से सदा से थी, सदा है और सदा रहेगी । यह अनादि-अनन्त है । त्रिकालभावी होने से यह ध्रुव है, नियत स्वरूप वाली होने से धर्मास्तिकाय की तरह नियत है, नियत होने से शाश्वत है, क्योंकि इसका प्रलय नहीं होता । शाश्वत होने से अक्षय है और अक्षय होने से अव्यय है और अव्यय होने से स्वप्रमाण में अवस्थित है । अतएव सदा रहने के कारण नित्य है । अथवा ध्रुवादि शब्दों को एकार्थक भी समझा जा सकता है । शाश्वतता पर विशेष भार देने हेतु विविध एकार्थक शब्दों का प्रयोग किया गया है ।

इसी प्रकार सातों पृथ्वियों की शाश्वतता सिद्ध होती है ।^{१३}

द्वीप-समुद्र आदि की नरक में व्यवस्था

रत्नप्रभा भूमि को छोड़ शेष छः भूमियों में न तो द्वीप, समुद्र, पर्वत और सरोवर ही हैं, न गाँव शहर आदि हैं, न वृक्ष लता आदि बादर वनस्पतिकाय है, न द्विन्द्रीय से लेकर तिर्यच पंचेन्द्रिय है, न मनुष्य हैं और न किसी प्रकार के देव ही हैं। रत्नप्रभा का कुछ भाग मध्यलोक में सम्मिलित है, अतः उसमें द्वीप, समुद्र, ग्राम, नगर, वनस्पति, तिर्यच, मनुष्य, देव होते हैं। रत्नप्रभा के अतिरिक्त शेष छः भूमियों में केवल नारक और कुछ एकेन्द्रिय जीव ही हैं।

इस सामान्य नियम का भी अपवाद है, क्योंकि उन भूमियों में कभी किसी स्थान पर कुछ मनुष्य, देव और पंचेन्द्रिय तिर्यचो का होना संभव है। मनुष्य तो इस अपेक्षा से संभव है कि केवली समुद्घात करनेवाला मनुष्य सर्वलोकव्यापी होने से उन भूमियों में भी आत्मप्रदेश फैलाता है। वैक्रियलब्धि वाले मनुष्य की भी उन भूमियों तक पहुँच है। तिर्यचो की पहुँच भी उन भूमियों तक है, परंतु यह केवल वैक्रियलब्धि की अपेक्षा से ही मान्य है। कुछ देव कभी-कभी अपने पूर्वजन्म के मित्रों को दुःखमुक्त करने के उद्देश्य से नरकों में पहुँच जाते हैं। किन्तु देव भी केवल तीन भूमियों तक ही जा पाते हैं। नरकपाल कहे जानेवाले परमाधार्मिक देव जन्म से ही पहली तीन भूमियों में रहते हैं, अन्य देव जन्म से केवल पहली भूमि में पाये जाते हैं।^{१५}

इस प्रकार से नरक में द्वीप, समुद्र और देव में निवास करते हैं।

पूर्वकृत कौन से कर्म से नरक में कौनसी वेदना भोगनी पडती है :-^{१६}

जैन सिद्धांत पूर्वकृत कर्म को मान्यता देता है। हर सुख-दुःख ये अपने पूर्वभव में किये पाप-पुण्य का फल है। इसी प्रकार नरक में भी पाप विपाक के कारण अत्यंत वेदना होती है। महापुराण में कौन से कर्म के कारण कौन सी वेदना उदय में आती है उसका उल्लेख किया गया है-

१. जो जीव पूर्व भव में मांसभक्षी थे, उन नारकियों के शरीर को बलवान नारकी अपने पैने शस्त्रों से काट-काटकर उनका मांस उन्हें ही खिलाते हैं।
२. जो जीव पहले बड़े शौक से मांस खाया करते थे उनका सँड़ासी से मुख फाडकर, उनके गले में जबरदस्ती तपाये हुए लोह के गोले निगलाये जाते हैं।

३. जिन्होंने पूर्वभव में परस्त्रियों के साथ रति-क्रीडा की हो ऐसे नारकी जीवों से अन्य नारकी आकर कहते हैं कि 'तुम्हें तुम्हारी प्रिया अभिसार करने की इच्छा से संकेत किये हुए केतकीवन के एकान्त में बुला रही है' इस प्रकार कहकर उन्हें कठोर करोंत जैसे पत्तेवाले केतकीवन में ले जाकर तपाई हुई, लोहे की पुतलियों के साथ आलिङ्गन करते हैं ।
४. उन लोहे की पुतलियों के आलिङ्गन से तत्क्षण ही मूर्च्छित हुए उन नारकियों को अन्य नारकी लोहे के चाबुकों से उनके मर्म स्थानों में पीटते हैं । उन लोहे की पुतलियों के आर्लिगन काल में ही जिनके नेत्र दुःख से बंद हो गये हैं तथा जिनका शरीर अंगारों से जल रहा है, ऐसे वे नारकी उसी क्षण जमीन पर गिर पड़ते हैं ।
५. जो जीव पहले बड़े उद्दण्ड थे, उन्हें वे नारकी तपाये हुए लोहे के आसन पर बैठाते हैं और विधिपूर्वक पैसे काँटोके बिछौने पर सुलाते हैं ।

७. नैरयिकों की वेदना

१. नरकावासों का आकार तथा वेदना

नरकावास मध्य में गोल है और बाहर से चतुष्कोण है । पीठ के ऊपर वर्तमान जो मध्यभाग है उसको लेकर गोलाकृति कही गई है तथा सकलपीठादि की अपेक्षा से तो आवलिका प्रविष्ट नरकावास त्रिकोण, चतुष्कोण संस्थान वाले कहे गये हैं और जो पुष्पावकीर्ण नरकावास हैं वे अनेक प्रकार के हैं-सूत्र में आये हुए 'जाव असुभा' पद से^{७६} टिप्पण में दिये पाठ का संग्रह हुआ है, जिसका अर्थ निम्न प्रकार है—

अहेरवुरप्पसंठाणा-ये नरकावास नीचे के भाग से क्षुरा (उस्तरा) के समान तीक्ष्ण आकार के हैं । इसका अर्थ यह है कि इन नरकावासों का भूमितल चिकना या मुलायम नहीं हैं, किन्तु कंकरों से युक्त है । जिनके स्पर्शमात्र से नारकियों के पाँव कट जाते हैं-छिल जाते हैं और वे वेदना का अनुभव करते हैं ।

णिच्चंधयारतमसा-उन नरकावासों में सदा गाढ अंधकार बना रहता है । तीर्थकरादि के जन्मादि प्रसंगों के अतिरिक्त वहाँ प्रकाश का सर्वथा अभाव होने से जात्यन्ध की भांति या मेघाच्छन्न अर्धरात्रि के अन्धकार से भी अतिघना अंधकार वहाँ सदाकाल व्याप्त रहता है, क्योंकि वहाँ प्रकाश करनेवाले सूर्यादि हैं ही नहीं । इसी

को विशेष स्पष्ट करने के लिए आगे और विशेषण दिया है—^{१७}

ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइसपहा-उन नरकावासों में ग्रह, चंद्र, सूर्य, नक्षत्र, तारा आदि ज्योतिष्कों के पथ-संचार का रास्ता नहीं है। अर्थात् ये प्रकाश करने वाले तत्त्व वहाँ नहीं है।

मेयवसापूरू हिरमंसचिक्खिल्लित्ताणुलेवणतला-उन नरकावासों का भूमितल मेद, चर्बी, पूति(पीप), खून और मांस के कीचड़ से सना हुआ है, पुनः पुनः अनुलित्त है।

असुइबीभच्छ-मेदादि के कीचड़ के कारण अशुचिरूप होने से अत्यन्त घृणोत्पादक और बीभत्स हैं उन्हें देखने मात्र से ही अत्यन्त ग्लानि होती है।

परमदुब्धिगंधा-वे नरकावास अत्यंत दुर्गन्ध वाले हैं। उनसे वैसी दुर्गन्ध निकलती रहती है जैसे मरे हुए जानवरों के कलेवरों से निकलती है।

काउअगणिवण्णाभा-लोहे को धमधमाते समय जैसे अग्नि ज्वाला का वर्ण बहुत काला हो जाता है-इस प्रकार के वर्ण के वे नरकावास हैं। अर्थात् वर्ण की अपेक्षा से अत्यन्त काले हैं।

कक्खडफासा-उन नरकावासों का स्पर्श अत्यन्त कर्कश है। असिपत्र (तलवार की धार) की तरह वहाँ का स्पर्श अति दुःसह है।

दुरहियासा-वे नरकावास इतने दुःखदायी हैं कि उन दुःखों को सहन करना बहुत ही कठिन होता है।

असुभा वेयणा-वे नरकावास बहुत ही अशुभ हैं। देखने मात्र से ही उनकी अशुभता मालूम होती है। वहाँ के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और शब्द-सब अशुभ ही अशुभ हैं तथा वहाँ जीवों को जो वेदना होती है वह भी अतीव असातारूप होती है अतएव 'अशुभवेदना' ऐसा विशेषण दिया गया है।^{१८}

नरकावासों में इस प्रकार की तीव्र एवं दुःसह वेदनाएँ होती हैं। इसी प्रकार सातों पृथ्वी की वेदना है।

२. नैरयिक के उष्णवेदना का स्वरूप

असत्कल्पना के अनुसार उष्णवेदनीय नरकों से निकल कर कोई नैरयिक जीव इस मनुष्यलोक में जो गुड पकाने की भट्टियाँ, शराब बनाने की भट्टियाँ,

बकरी की लिण्डियों की अग्निवाली भट्टियाँ, लोह गलाने की भट्टियाँ, ताँबा गलाने की भट्टियाँ, इसी तरह रंगी सीसा, चांदी सोना हिरण्य को गलाने की भट्टियाँ, कुम्भकार के भट्ट की अग्नि, मूस की अग्नि, ईंटें पकाने के भट्टे की अग्नि, कवेलु पकाने के भट्टे की अग्नि, लोहार के भट्टे की अग्नि, इक्षुरस पकाने की चूल की अग्नि, तिल की अग्नि, तूष की अग्नि, नड-बांस की अग्नि आदि जो अग्नि और अग्नि के स्थान हैं जो तप्त हैं और तपकर अग्नि तुल्य हो गये हैं, फूले हुए पलास के फूलों की तरह लाल-लाल हो गये हैं, जिनमें से हजारों चिनगारियाँ निकल रही हैं, हजारों ज्वालाएँ निकल रही हैं, हजारों अंगारे जहाँ बिखर रहे हैं और जो अत्यन्त जाज्वल्यमान हैं, जो अन्दर ही अन्दर धू-धू धधकते हैं, ऐसे अग्निस्थानों और अग्नियों को वह नारक जीव देखे और उनमें प्रवेश करे तो वह अपनी उष्णता को (नरक की उष्णता को) शांत करता है, तृषा, क्षुधा, और दाह को दूर करता है और ऐसा होने से वह वहाँ नींद भी लेता है, आँखे भी मूँदता है, स्मृति, रति, धृति, और मति (चित्त की स्वस्थता) प्राप्त करता है और ठंडा होकर अत्यन्त शांति का अनुभव करता हुआ धीरे-धीरे वहाँ से निकलता हुआ अत्यन्त सुख-साता का अनुभव करता है । भगवान के ऐसा कहने पर गौतम ने पूछा कि भगवन् ! क्या नारकों की ऐसी उष्णवेदना है ? भगवान ने कहा-नहीं, यह बात नहीं है, इससे भी अनिष्टतर उष्णवेदना को नारक जीव अनुभव करते हैं ।^{१९}

३. नैरयिक में शीतवेदना का स्वरूप

असत् कल्पना से शीतवेदना वाले नरकों से निकला हुआ नैरयिक इस मनुष्यलोक में शीतप्रधान जो स्थान है जैसे कि हिम, हिमपुंज, हिमपटल के पुंज, तुषार, तुषार के पुंज, हिमकुण्ड, हिमकुण्ड के पुंज, शीत और शीतपुंज आदिक को देखता है, देखकर उनमें प्रवेश करता है, वह वहाँ अपने नारकीय शीत को, तृषा को, भूख को, ज्वर को, दाह को मित्य लेता है और शांति के अनुभव से नींद भी लेता है, नींद से आँखे बंद कर लेता है, इस प्रकार गरम होकर, अति गरम होकर वहाँ से धीरे धीरे निकल कर साता-सुख का अनुभव करता है । हे गौतम ! नरकों में नैरयिक इससे भी अनिष्टतर शीतवेदना का अनुभव करते हैं ।^{२०}

नारक में शीतादि वेदना

रत्नप्रभापृथ्वी के नारक शीतवेदना नहीं वेदते हैं, उष्णवेदना वेदते हैं, शीतोष्णवेदना नहीं वेदते हैं। वे नारक शीतयोनि वाले हैं। योनिस्थान के अतिरिक्त समस्त भूमि खैर के अंगारों से भी अधिक प्रतप्त है, अतएव वे नारक उष्णवेदना वेदते हैं, शीतवेदना नहीं। शीतोष्णस्वभाव वाली सम्मिलित वेदना का नरकों में मूल से ही अभाव है।

शर्कराप्रभा और बालुकाप्रभा में भी उष्णवेदना ही है। पंकप्रभा में शीतवेदना भी और उष्णवेदना भी है। नरकावासों के भेद से कतिपय नारक शीतवेदना वेदते हैं और कतिपय नारक उष्णवेदना। उष्णवेदना वाले नारक जीव अधिक हैं और शीतवेदना वाले कम हैं।

धूमप्रभा में भी दोनों प्रकार की वेदनाएँ हैं परंतु वहाँ शीतवेदना वाले अधिक हैं और उष्णवेदना वाले कम हैं।

छठी नरक में शीत वेदना है। क्योंकि वहाँ के नारक उष्णयोनिक हैं। योनिस्थानों को छोड़कर सारा क्षेत्र अत्यन्त बर्फ की तरह ठंठा है, अतएव उन्हें शीतवेदना भोगनी पडती है।

सातवीं पृथ्वी में अतिप्रबल शीतवेदना है।^{८१}

४. वेदना के प्रकार :-

अधोलोक में अनेक प्रकार के दुःख होते हैं। मुख्यतः नैरयिक को तीन प्रकार की वेदना होती है।^{८२}- १. क्षेत्रकृत, २. परस्पर उदीरित, ३. परमाधामी कृत वेदना।

नैरयिक को क्षेत्रकृत १० वेदनाएँ :-^{८३}

(१) उष्ण वेदना :-

जैसे ग्रीष्मकाल से, जेठ महिना हो, आकाश बादल रहित हो, मध्याह्न का समय हुआ हो, हवा बिलकुल न हो, सूर्य बराबर आकाश में मध्य भाग में जाज्वल्यमान होकर तपा हुआ हो-ऐसे समय में पित्तप्रकोपवाले और छत्री रहित मनुष्य को सूर्य के अग्नि जैसे ताप से जो अतिशय वेदना होती है उससे अनंतगुणी वेदना नरक के जीवों को होती है।

ऐसी तीव्र वेदना को सहन करते नैरयिक को उठाकर मनुष्य लोक की कम गरमीवाली भूमि में रखने में आवे तो वह जीव जैसे जरा भी गरमी विना की शीतल हवा वाली जगह में आया हो इस प्रकार से घसघसाट सो जाता है ।

(२) शीत वेदना :-

नरक में सहन करनी पडती ठंडी का उदाहरण से कथन है कि जैसे शरद ऋतु हो, पोष मास की कडकडती ठंडी रात हो, आकाश बादल रहित हो, शरीर को कंपायमान करे ऐसी तीव्र हवा चलती हो, हाथ पैर,दांत-होंठ आदि धुज रहे हो--ऐसे समय में कोई मानव हिम पर्वत के उपर के भाग में बैठा हो, चारों और जरा भी अग्नि न हो, चारों तरफ खुल्ली जगह हो, वायु के व्याधि वाला, शरीर वस्त्र रहित हो ऐसे समय उसको ठंडी से जितनी वेदना होती है उससे अनंतगुणी वेदना नरकावास में रहे नारकी जीव को निरंतर होती है ।

(३) क्षुधा वेदना :-

नरक के जीवों को क्षुधा वेदना का उदय याने भूख इतनी होती है कि-जगत में रहे हुऐ सभी अन्न का भक्षण कर ले, घी के अनेक समुद्रों को समाप्त कर डाले, दूध के समुद्रों को पीले तो भी उनकी भूख शांत नहीं होती परंतु अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है ।

(४) तृषा वेदना :-

तृषा अर्थात् प्यास । जग के सभी समुद्रों का जल की भी कदाच एकबार पान करले तो भी उनकी प्यास छिपती नहीं । उनका तालु-कंठ और जिह्वा हमेशा शुष्क हो जाते हैं, इस प्रकार नैरयिक की तृषा वेदना का उदय भी तीव्र ही होता है ।

(५) खुजली वेदना :-

चाकू से भी शरीर को खुजली करे तो भी नहीं मिटती ऐसी तीव्र खुजली की निरंतर वेदना नारकको होती है ।

(६) पराधीनता :-

नारक जीवों को जहाँ परमाधामी हैं वहाँ परमाधामी को सदैव वश होकर रहना पडता है । उसके बिना सात नरक के जिस नरकावास में हो, वहाँ आयुष्य पूर्ण नहीं हो, तब तक ऐसी भयंकर वेदना निरंतर सहते हैं, पर क्षणभर भी वे

स्वतंत्रता का सुख पा नहीं सकते, वह है पराधीनता की वेदना ।

(७) ज्वर(ताव)वेदना :-

मनुष्य को अधिक से अधिक जितना बुखार (ज्वर) आता है उससे अनंतगुणा बुखार नरक के जीवों को होता है और वह वेदना समग्र जीवन पर्यंत निरंतर रहती है ।

(८) दाह वेदना :-

नैरयिक के शरीर मे सदा दाह अर्थात् जलने की वेदना रहती है ।

(९) भय वेदना :-

अवधिज्ञान अथवा विभंगज्ञान होने से उसकी शक्ति से आगामी भय के दुःखों को जानते है, उससे सदा भयभीत रहते हैं । उसके अलावा परमाधामी तथा अन्य नारको द्वारा होने वाली वेदना का भय भी सतत रहता ही है ।

(१०) शोक :-

नारक के जीव हमेशा दुःख और भय आदि के कारण से निरंतर शोकमग्न ही रहते हैं । जीवन में कदापि आनंद या खुशी का उसका स्पर्श भी नहीं होता ।

मनुष्य को तो सुख-दुःख दोनों जीवनभर में आते रहते है, पर नैरयिक को तो जन्म से मरण तक अनेक प्रकार के दुःख भोगना पडता है ।

इस प्रकार १० प्रकार की क्षेत्रजन्य वेदना का भोगी नारक होता है, जो कि असह्य होती है । परंतु उसे भोगे बिना छुटकारा नहीं होता ।

२. परस्पर उदीरित वेदना—

नारक के जीवों को तीन प्रकार के दुःख होते हैं । जिस में क्षेत्रकृत वेदना का वर्णन पहले किया है । अब परस्पर उदीरित वेदना का स्वरूप देखेंगे । ये दुःख क्षेत्रकृत वेदना से अधिक होता है ।

नारक के जीव एक दूसरे को आमने-सामने दुःख देते हैं, ये दुःख भी स्वाभाविक नहीं होता है पर उदीरणा करके दुःख देते हैं, इसलिए परस्पर उदीरित दुःखवाले जीव कहलाते हैं ।

इनकी उपमा का उल्लेख करते हुए कहा है कि-जैसे चूहा-बिल्ली अथवा साप-नेवला ये जन्मजात वैरी है, उसी तरह नारक के जीव भी आजीवन शत्रु

होने से एकदूसरे को देखकर कुत्ते की तरह परस्पर लड़ते हैं-काटते हैं और गुस्सा होते हैं, परिणाम से उनको परस्पर जनित दुःखवाले कहे हैं ।^{१४}

दुःख की पारस्परिक उदीरणा :-

नारक जीव के दो प्रकार हैं-

(१) सम्यग्दृष्टि (२) मिथ्यादृष्टि ।

जो मिथ्यादृष्टि नारक जीव हैं, वे परस्पर दुःख उदीरते हैं । जैसे मनुष्यलोक में दूसरे ग्राम से आनेवाले कुत्ते को देखकर गाँव के सभी कुत्ते बिनाकारण अत्यंत क्रोधायमान होते हैं, परस्पर भौंकते हैं, लड़ते हैं, उसकी तरह ये नारक जीव भी विभंग ज्ञान की शक्ति से एक दूसरे को दूर से देखने के साथ ही क्रोध से धमधम हुए भौंकते हैं । महाक्रोधाविष्ट मनवाले ये दुःखरूप समुद्र में डूबते-डूबते भी अविचारी के जैसे उस कुत्ते की तरह एक दूसरे के साथ लड़ने लगते हैं ।

परस्पर लड़ाई का स्वरूप :-

नैरयिक लडने के लिए वैक्रिय समुद्घात से महाभयंकर रूप विकुवर्णा करते हैं । अपने अपने नरकावास में क्षेत्रानुभाव जनित पृथ्वी के परिणाम रूप लोहमय ऐसे भूल, शिला, मुदगर, भाले, बाण, तोमर, असिपट्ट, खड्ग, यष्टि, तलवार, परशु आदि अनेक शस्त्रों की विकुवर्णा करते हैं । इन वैक्रिय शस्त्रों को ग्रहण करके उनसे और अपने हाथ-पैर और दांत से परस्पर प्रहार करते हैं । ऐसे परस्पर घात से छेद किये हुए विकृत अंगवाले हो जाते हैं । बाद में कतलखाने में काटे हुए प्राणी की तरह गाढ़ वेदना से व्याकुल होकर तड़पते हैं । पृथ्वी पर सिर्फ लोही के किचड में लौटते हैं ।

मिथ्यादृष्टि नारक जीव :-

मिथ्याज्ञान लेप होने से परमार्थ को नहीं जानने से परस्पर दुःख की पूर्वोक्त रूप से विशेष उदीरणा करते हैं । दूसरों को दुःख देकर वे स्वयं बहुत दुःख को सहन करते हैं । विपुल प्रमाण में अशुभ कर्मों का उर्पाजन करते हैं ।

सम्यक्दृष्टि नारक जीव :-

ये जीव समता भाव से तत्त्वविचारणा करते हैं कि हमने परभव में प्राणी-हिंसादि अनेक पाप किये हैं, उसके फलस्वरूप हम यहाँ परम दुःखरूप समुद्र में

पडे हैं । ऐसी सम्यक् विचारणा से वे पर उदीरित वेदना, दुःखों को सम्यक् प्रकार से सहन करते हैं । स्वयं पाप के फलरूप विपाक को अनुभव करने से दूसरों को भी दुःख नहीं देते । वास्तविक में ये जीव मिथ्यादृष्टि नारको से कम दुःखी होते हैं, और कर्म भी कम बांधते हैं ।

ऐसे अनेक कारणों से वे परस्पर दुःख को उदीरित करते हैं ।

३. परमाधामी कृत वेदना :-

नैरयिक की वेदना तीन प्रकार की है- क्षेत्रकृत, परस्पर, उदीरित और परमाधामी कृत ।^५ इस से पूर्व दो वेदना का उल्लेख किया जा चुका है । पहले दो प्रकार के दुःख तो रत्नप्रभादि सातों भूमियों में साधारण हैं । परंतु इस वेदना का संबंध सिर्फ तीन नरक भूमि के साथ है । रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा इन प्रथम तीन नरक में ही तीन प्रकार की वेदना कही है । क्योंकि परमाधामी देवों का क्षेत्र इतनी हद तक ही होता है ।

संकलेश रूप स्वभाववाले ये परमाधामी असुर देव-नारकियों को वेदनाओं की अच्छी तरह उदीरणा करते हैं, और कराते हैं, अर्थात् वे परस्पर नारकियों को लड़ाते रहते हैं, और उनको भयंकर दुःख, त्रास देते हैं ।

उनकी दुःख देने की पद्धति विविध प्रकार की है, जैसे—

- नारकों को तपे हुए लोहे का रस पिलाना ।
- बहुत तपे हुए लोहे के खंभे के साथ चिपकाना ।
- कांटेवाले भयंकर झाड़ के उपर नारकों को चढ़ाना और उतारना ।
- नारकों के मस्तक पर लोहे के डंडे का प्रहार करना ।
- चाकू और तलवार से उनका शरीर छिलना ।
- खारवाला धगधगता तेल शरीर पर डालना ।
- लोहे की कुंभी में उनके शरीर को पकाना ।
- घाणी में डालकर पीलना और अंगारों में सेकना ।
- नैरयिकों से वाहन खिंचवाना और परस्पर लड़ाना ।
- धगधगती सूकी रेती में दौड़ाना ।
- लोही, पिब, मडदा आदि से भरी हुई वैतरणा नदी की विकुवर्णा करके उसमें

छोड़ना ।

ऐसे विविध रूप से वे नारकों को दुःख देते हैं ।

अब उन परमाधामी देवों के नाम और कार्य देखेंगे ।

नरकावासों के देव और उनके कार्य-

प्रथम तीन नारक-रत्नप्रभा, शर्करांप्रभा और बालुकाप्रभा में परमाधार्मिक देव नैरयिकों को वेदना देते हैं । ये देव १५ प्रकार के होते हैं, उनके कार्यान्तरूप नाम हैं । वे नाम निम्न प्रकार हैं—

१) अंब-

अपने निवास-स्थान से ये देव आकर अपने मनोरंजन के लिए नारकीय जीवों को इधर-उधर दौड़ाते हैं, पीटते हैं, उनको ऊपर उछालकर शूलों में पिरोते हैं । उन्हें पृथ्वी पर पटक-पटक कर फेंक देते हैं । उन्हें पुनः अंबर-आकाश में उछालते हैं । फेंकते हैं ।

२) अंबरिणी-

मुद्गरों से आहत, खड्ग आदि से उपहत, मूर्च्छित उन नारकियों को ये देव करवत आदि से चीरते हैं, उनके छोटे-छोटे टुकड़े करते हैं ।

३) श्याम-

ये देव जीवों का अंगच्छेद करते हैं, उनको पर्वतों से नीचे गिराते हैं, उनके नाक को बाँधते हैं, उन्हें रज्जु से बाँधते हैं ।

४) शबल-

ये देव नारकिय जीवों की आंते बाहर निकाल लेते हैं, हृदय का नाश कर देते हैं । कलेजे का मांस निकाल लेते हैं, चमड़ी उधेड़ कर उन्हें कष्ट देते हैं ।

५) रौद्र-

ये अत्यंत क्रूरता से नारकीय जीवों को दुःख देता है ।

६) उपरौद्र-

ये देव नारकों के अंग-भंग करते हैं, हाथ-पैरों को मरोड़ देते हैं । ऐसा एक भी क्रूरकर्म नहीं, जो ये न करते हो ।

७) काल-

ये देव नारकियों को भिन्न-भिन्न प्रकार के कड़ाहों में पकाते हैं, उबालते हैं, और उन्हें जीवित मछलियों की तरह सेंकते हैं ।

८) महाकाल-

ये देव नारकों के छोटे-छोटे टुकड़े करते हैं, पीठ की चमड़ी उधेडते हैं और जो नारक पूर्वभव में मांसाहारी होते हैं उन्हें वे मांस खिलाते हैं ।

९) असि-

ये देव नारकीय जीवों के अंग-प्रत्यंगों के बहुत छोटे-छोटे टुकड़े करते हैं, दुःख उत्पादित करते हैं ।

१०) असिपत्र (धनु)-

ये देव असिपत्र नाम के वन की विकुर्वणा करते हैं । नारकीय जीव छाया के लोभ से उन वृक्षों के नीचे आकर विश्राम करते हैं । तब हवा के झोंकों से असिधार की भांति तीखे पत्ते उन पर पड़ते हैं और उनकी चमड़ी छिल जाती है ।

११) कुंभि (कुंभ)-

ये देव विभिन्न प्रकार के कुंभि जैसे पात्रों में नारकीय जीवों को डालकर पकाते हैं ।

१२) बालुक-

ये देव गरम बालू से भरे पात्रों में नारकों को चने की तरह भूनते हैं ।

१३) वैतरणी-

ये नरकपाल वैतरणी नदी की विकुर्वणा करते हैं । यह नदी पिब, लोही, केश और हड्डियों से भरी-पूरी होती है । उसमें खारा गरम पानी बहता है । इस नदी में नारकीय जीवों को डुबाया, बहाया जाता है ।

१४) खरस्वर-

ये नरकपाल छोटे-छोटे धामों की तरह सूक्ष्म रूप से नारकों के शरीर को चीरते हैं । फिर उनके और भी सूक्ष्म टुकड़े करते हैं । उनको पुनः

जोड़कर सचेतन करते हैं। कठोर स्वर में रोते हुये उन नारकों को शाल्मली वृक्ष पर चढ़ने के लिए प्रेरित करते हैं। वह वृक्ष वज्रमय तीखे कांटे से संकुल होता है। नारकों को उस पर चढ़ाते हैं। नरकपाल पुनः उन्हें खींचकर नीचे ले आते हैं। यह क्रम चलता रहता है। और उनका शरीर कांटे से बिंध जाता है।

१५) महाघोष-

ये सभी असुरदेवों में अधम जाती के माने जाते हैं। ये नरकपाल नारकों को भीषण वेदना देकर परम मुदित होते हैं।

🔔 परमाधामी तीन नरक तक होते हैं, ऐसा उल्लेख है।^{६६} तो शेष नरक से तीन भूमि में दुःख ज्यादा होगा ? यह शंका होती है।

इस शंका का निवारण किया गया है कि-चौथी से सातवीं नरक तक परमाधामी कृत वेदना का अभाव है, वहाँ क्षेत्रकृत और परस्पर उदीरित दो वेदनाएँ बहुत प्रमाण में होती हैं। उसकी तुलना में प्रथम तीन पृथ्वी का दुःख अति अल्प होता है।

🔔 चौथी नरक से असुर-उदीरित दुःख क्यों नहीं होता ?

असुर उदीरित दुःख पहली तीन भूमि तक ही होता है। क्योंकि ये परमाधामी असुर देव तीन पृथ्वी से आगे जा नहीं सकते। चौथी भूमि या उससे आगे जाने का उनके पास सामर्थ्य नहीं होता। तीन नरक तक भी संक्लेश रूप परिणाम वाले अंब-अंबरीष आदि असुरकुमार वहाँ जाकर दुःख की उदीरणा करते हैं। सभी असुरकुमार वहाँ जाकर दुःखों की उदीरणा नहीं करते। मात्र परमाधामी ही करते हैं।

🔔 अंब-अंबरीष आदि परमाधामी देव नारकजीवों को इतना दुःख क्यों देते हैं ?^{६६}

अंब-अंबरीष आदि पंद्रह प्रकार के असुर पूर्व जन्म में भयंकर कर्म करके, थोड़ा सा पुण्योदय होने से यहाँ जाते हैं। भयंकर पाप कर्म करने में ही उनको खुशी होती है।

भाष्यकार कहते हैं कि असुरकुमार गति की अपेक्षा से देव हैं अन्य देवों की भांति उनको भी मनोज्ञ विषय होता है। दूसरे देवों की तरह मनोहर भोग और उपभोग भी इन देवों को होते हैं। तो भी इनको इन सभी सुखद-विषयों

में इतनी रूचि नहीं होती, जितनी अशुभ कार्यों में होती हैं ।

५. परमाधामी देवों के नारक जीवों को दुःख देकर खुश होने के कारण :-

जैसे हम व्यवहार में देखते हैं कि गाय, बैल, भैंस, भुंड, मुर्गे, तीतर आदि जानवरों में मल्लयुद्ध करानेवाले, कुस्तीबाज को परस्पर लड़ते देखकर एक दूसरे के उपर प्रहार करते देखकर, बिना वजह राग-द्वेष को वश होकर और अकुशलानुबंधि पुण्य धारण करके कितनेक लोकों को बहुत ही खुशी होती है । इसी प्रकार इस असुर कुमारों को भी ऐसी आसुरी खुशी अच्छी लगती है ।

नारकियों को लड़ते देखकर, परस्पर लड़ाकर, एक दूसरे को प्रहार करते देखकर, उनका आनंद-दुःख-वेदना-देखकर, वे बहुत ही खुश होते हैं । अट्टहास्य करते हैं । कपड़े उड़ाते हैं । लोटपोट होते हैं । ताली बजाते हैं । और बहुत जोरजोर से सिंहनाद भी करते हैं । इस प्रकार के दुःख देते हैं ।

🔔 परमाधामी देवों को-नारक जीवों को इतना दुःख देने से और नैरयिकों का दुःख देखने से उनको बहुत खुशी क्यों होती है ? उसके भी कारण है—

१. शल्य :- परमाधामी देवों में मायाशल्य, निदान शल्य, मिथ्या दर्शन शल्य का उदय तीव्र होता है । साथ साथ कषाय का भी तीव्रोदय होता है । पूर्व भव में क्रूरकर्मी भी होते हैं । इसी कारण दूसरों को दुःख देकर उनको सुख मिलता है ।

२. अनालोचना :- उनको जिस भाव में दोष लगता है, उसकी आलोचना नहीं करते हैं, और पूर्व जन्म में भी आलोचना की नहीं है ।

३. अविचारशील :- ये देव विचारशील नहीं होते । इससे ये अशुभ कृत्य करते हैं, इन कृत्यों में सहयोगी देवों की खुशी व्यक्त करने योग्य नहीं है । ऐसा विचार उनको कभी आता नहीं है । इसके विपरीत ये पापकार्यों में ही आनंद मानने वाले और संकिलष्ट अध्यवसाय वाले होते हैं ।

४. अकुशलानुबंधि पुण्य :- पूर्व जन्म में उपार्जित पुण्यकर्म भी इन देवों को अकुशलानुबंधि होते हैं । इससे इन कर्मों के उदय से वे जब इस पुण्य का फल भोगते हैं, तब वे अशुभता की और ही खींचे चले जाते हैं ।

५. बालतप :- पंचाग्नि आदि बालतप करने के कारण, भाव-दोष होने से, ये ऐसी रौद्री-आसुरी-गति प्राप्त करते हैं । मिथ्यादृष्टियों का तप भी

कुशलानुबंधी नहीं होता। उनका विशिष्ट पुण्य का बंध भी नहीं होता कि जिसके उदय से वे जीव अशुभक्रिया से निवृत्त और शुभ क्रिया में प्रवृत्त हो सके।

इन सब कारणों से इन देवों को अन्य मनोज्ञ विषय सामग्री उपलब्ध होने पर भी इनकी अशुभ विषयों में ही प्रीति रहती है।

६. भयंकर वेदना के बाद मृत्यु क्यों नहीं :- परमाधामी कृत इतनी भयंकर और जीव लेण ऐसी वेदना होते हुए भी इन नारकियों की मृत्यु क्यों नहीं होती ? इसका समाधान किया गया है कि

उपपात से जन्मलेनेवाले इन देवों और नारकियों का आयुष्य अनपवर्तनीय कहा गया है। नारकजीव दुःखो से भयभीत होकर मरने की इच्छा तो करते हैं। पर उनके आयुष्य का अपवर्तन न होने से जब तक उनकी बांधी हुई आयुस्थिति का क्षय नहीं होता, तब तक उनका मरण भी नहीं हो सकता। उनका दूसरा कोई शरणभूत भी नहीं हो सकता।

इससे सम्पूर्ण जीवन तक उनको ये दुःख, कर्म अवश्य भोगने ही पड़ते हैं। परिणाम स्वरूप उनका शरीर यंत्र पीडनादि दुःखो या उपघातों से अपहृत हो पर जलाये जाने पर उपर से नीचे डालने पर, विदीर्ण होने पर, छेदा-भेदा पर, था-नहीं था ऐसा कर डालने पर भी है, फिर से जैसा था वैसा ही हो जाता है।

जिस प्रकार पारे के बिखरे हुए दाने पुनः एकत्रित हो जाते हैं, अथवा पानी में कदाच लकड़ी से रेखा खींची जाय तो उसी समय वह मिल जाता है। उसी प्रकार नारकियों का शरीर भी छिन्न-भिन्न करने पर उसी समय अपने आप मिल जाता है।

इस प्रकार से नरक में नारकियों की तीन प्रकार की वेदना होती है।

८. परमाधामियों द्वारा दी जाने वाली यातनाएँ —

नारकीय जीवों की वेदना तीन प्रकार से उदीर्ण होती है—स्वतः, परतः, और उभयतः। उभयतः उदीर्ण होनेवाली वेदना नारकों को नरकपालों द्वारा दी जाती नहीं है। ये यातनाएँ मुख्यतया इस प्रकार हैं—

- (१) उनके हाथ-पैर बांधकर तेज धार वाले उस्तरे व तलवार से पेट काटते हैं।
- (२) घायल शरीर को पकड़ कर उसकी पीठ की चमड़ी उधेड़ते हैं।

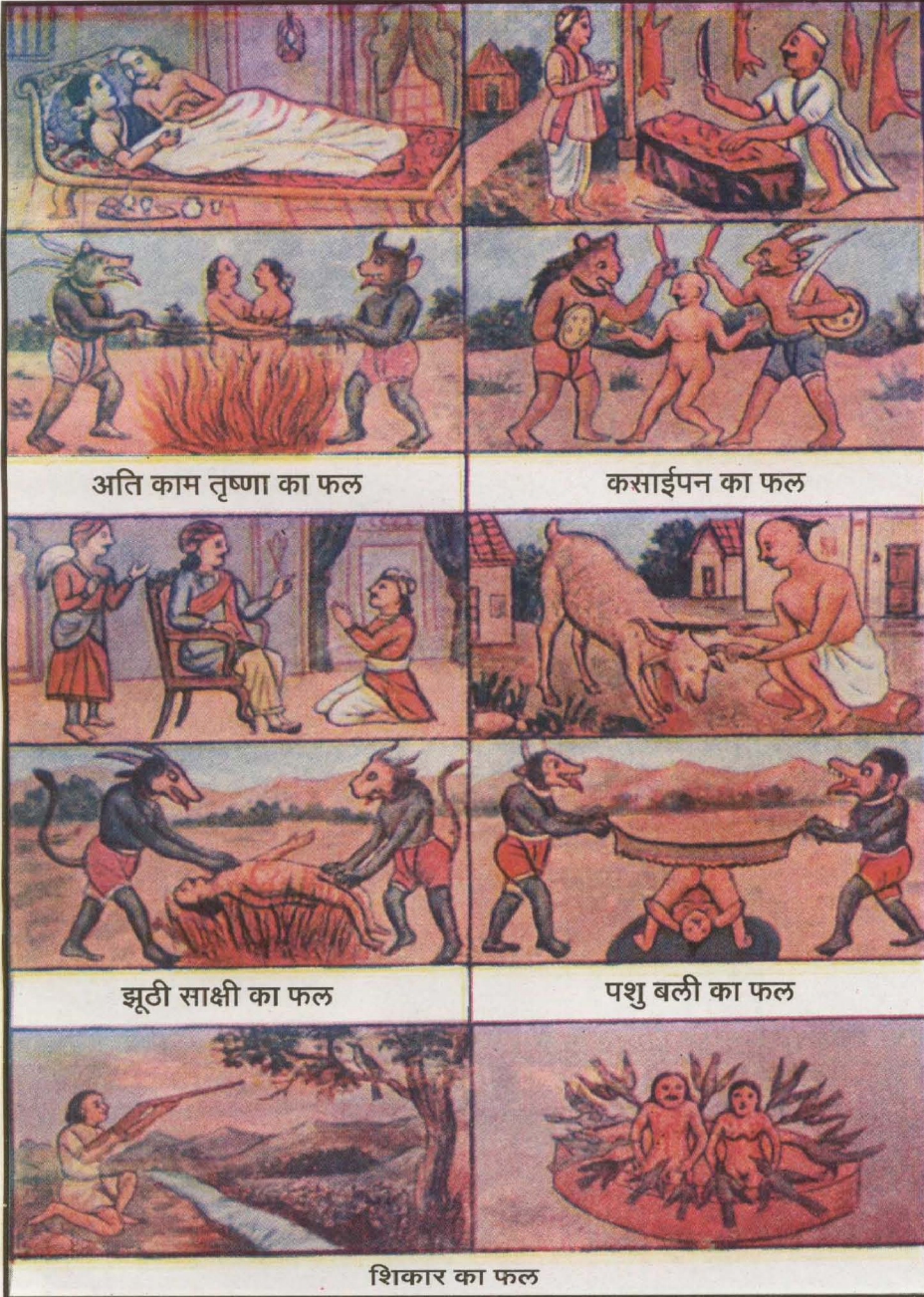
- (३) भुजाएँ जड़ से काटते हैं ।
- (४) मुँह फाड़कर उसमें तपा हुआ लोहे का गोलक डालकर जला डालते हैं ।
- (५) पूर्वजन्म कृत पापकर्मों का एकान्त में स्मरण करकर, गुस्से में आकर उनकी पीठ पर चाबुक फटकारते हैं ।
- (६) लोहे के तपे हुए गोले के समान तपी हुई भूमि पर उनको चलाते हैं ।
- (७) गाड़ी के तपे हुए जुए में जोतकर तथा आरा भोंककर चलाते हैं ।
- (८) जलते हुए लोहपथ के समान तप्त एवं रक्त-मवाद की कीचड़ वाली भूमि पर जबरन चलाते हैं, जहाँ रूका कि नरकपाल डंडे आदि से मारकर उनको आगे चलाते हैं ।
- (९) सम्मुख गिरती हुई शिलाओं के नीचे दबाते हैं ।
- (१०) संतापनी नामक नरक कुंभी में रहकर चिरकाल तक संताप भोगते हैं ।
- (११) गेंद के आकार वाली कन्दुकुम्भी में डालकर नारकी को पकाते हैं ।
- (१२) चिता के समान ऊँची निर्धूम अग्नि में अत्यन्त पीड़ा पाते हैं, जहाँ क्रूर नरकपाल उनका सिर नीचा करके उनके शरीर को लोह की तरह शस्त्र से काट कर टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं ।
- (१३) वहाँ से उपर उछलते ही द्रोणकाक उन्हें नोचकर खा जाते हैं, शेष बचे हुए नारकों को सिंह-व्याघ्र आदि जंगली जानवर खा जाते हैं ।
- (१४) शरीर की चमड़ी उधेड कर औंधे लटकाए हुए नारकों को लोहे की तीखी चोंच वाले पक्षी नोच-नोचकर खाते हैं ।
- (१५) हिस्त्र पशु की तरह नारकीय जीव मिलते ही वे तीखे शूलों से बांधकर उन्हें मार गिराते हैं ।
- (१६) नरक सदैव बिना लकड़ी का जलता हुआ एक प्राणिघातक स्थान है, जहाँ नारक चिरकाल तक रहकर पीड़ा पाते हैं ।
- (१७) वे बहुत बड़ी चिता रच कर करुण विलाप करते हुए नारक को उसमें भोंक देते हैं ।
- (१८) सदैव पूरे के पूरे गर्म रहने वाले अतिदुःखमय इस नरक स्थान में वे हाथ-पैर-बांधकर उनको शत्रु की तरह मारते-पीटते हैं ।

- (१९) लाठी आदि से मार-मार कर उनकी पीठ तोड़ देते हैं, लोहे के भारी घन से सिर फोड़ देते हैं, उनके शरीर को चूर-चूर कर देते हैं फिर लकड़ी के तख्ते को चीरने की तरह गर्म आरों से चीर देते हैं, पश्चात् खौलता हुआ सीसा आदि पीने को उनको बाध्य करते हैं ।
- (२०) नारक में पूर्वकृत रौद्र पापकर्मों का स्मरण करा कर, उससे हाथी की तरह भारवहन कराया जाता है, एक दो या तीन नारकों को उसकी पीठ पर चढ़ाकर चलाया जाता है, न चलने पर उसके मर्मस्थान में तिखा नोकदार आरा आदि शस्त्र चुभोया जाता है ।
- (२१) परवश नारकों को कीचड़ से भरी एवं कंटीली विस्तीर्ण भूमि पर बलाच्चलाया जाता है ।
- (२२) विविध बंधनो से बांधे हुए संज्ञा हीन नारकों के टुकड़े करके उन्हें नगरबलि की तरह इधर-उधर फेंक देते हैं ।
- (२३) वैतालिक नामक (वैक्रियक) एक-शिला निर्मित आकाशस्थ महाकाय पर्वत बड़ा गर्म रहता है, वहाँ नारकों को चिरकाल एक मारा-पीटा जाता है ।
- (२४) उनके गले में फांसी का फंदा डालकर दम घोटा जाता है ।
- (२५) मुद्गरों और मूसलों से रेषपूर्वक पूर्वशत्रुवत् उन नारकों के अंग-भंग करते हैं, शरीर टूट जाने पर वे औंधे मुँह रक्तवमन करते हुए गिर जाते हैं ।
- (२६) नरक में सदा खूंखार भूखे, छीठ तथा महाकाय गीदड़ रहते हैं, जो जंजीरो से बंधे हुए निकटस्थ नारकों को खाते रहते हैं ।
- (२७) सदाजला नामक एक विषम या गहन दुर्गम नदी है, जिसका पानी रक्त, मवाद, एवं खार के कारण मैला व पंकिल है, उसके पिघले हुए तरल लोह के समान अत्यन्त उष्ण जल में नारक अकेले और अरक्षित होकर तैरते हैं ।

इन यातनाओं के अतिरिक्त अन्य सैकड़ों प्रकार की यातनाएँ नरक के जीव भोगते हैं और उन्हें रो-रोकर सहन करते हैं, क्योंकि उन्हें सहे बिना और कोई चारा नहीं है ।^{१०}

इन उपर्युक्त यातनाओं से यही निष्कर्ष निकलता है कि नारक के जीव को दिन-रात नाना दुःखो चिंताओ से संतप्त होकर, पापकर्मा नारको से पास उन दुःखो

नरक दुःख दिग्दर्शन



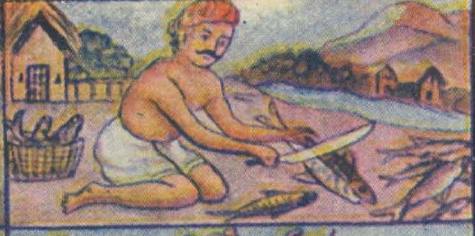
नरक दुःख दिग्दर्शन



नरक दुःख दिग्दर्शन



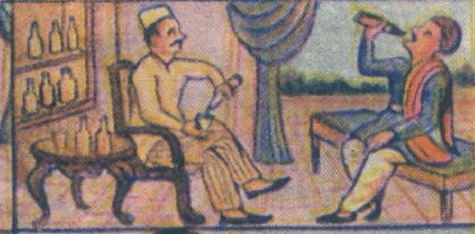
निरलांछन (इन्द्रिय छेदन) का फल



जलचर जीवों को मारने का फल



झूठी दस्तावेज (कूटलेख) का फल



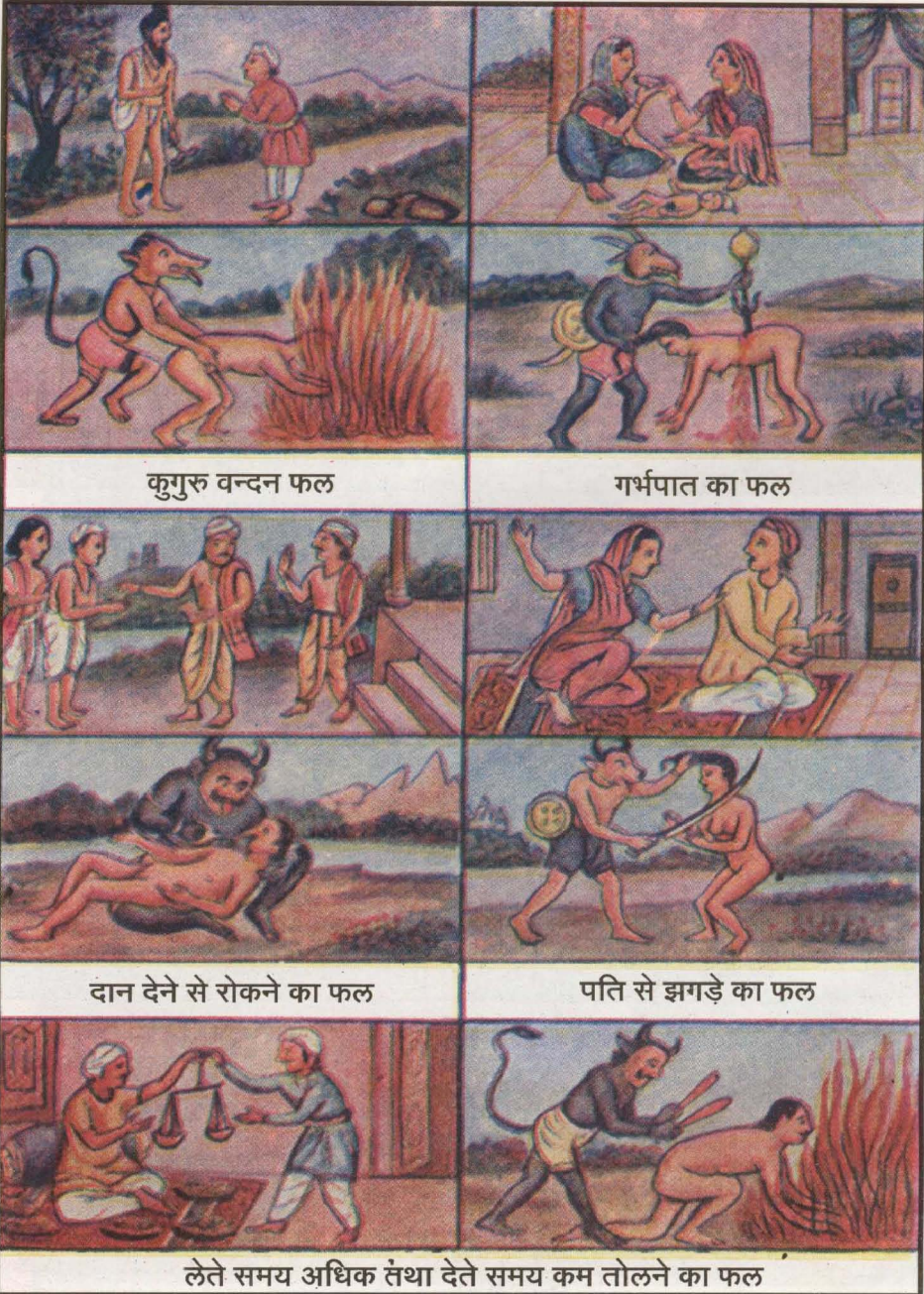
मद्यपान (शराब पीने) का फल



माता पिता से द्रोह करने का फल



नरक दुःख दिग्दर्शन



से बचने का कोई उपाय नहीं होता अज्ञान के कारण वे समभाव पूर्वक उन दुःखों को सहन कर सकते हैं, और न ही उन दुःखों का अंत करने के लिए वे आत्महत्या करके मर सकते हैं, क्योंकि नारकीय जीवों का आयुष्य निरुपक्रमी होता है। उनकी अकाल मृत्यु नहीं होती। वे संपूर्ण आयुष्य भोगकर ही मरते हैं, बीच में नहीं। यही कारण है कि वे इतने-इतने भयंकर दारुण दुःखों और यातनाओं के सहन करके में समर्थ, अथवा यों कहे कि इतनी-इतनी बार मारे, काटे पीटे, ओर अंग-भंग किये जाने पर मरना चाहते हुए भी नहीं मर सकते। रोने-धोने, करुण-क्रन्दन, विलाप, चीत्कार या पुकार करने के सिवा उनके पास कोई चारा नहीं। पर उनकी करुण पुकार, प्रार्थना, विलाप या रुदन सुनकर कोई भी उनकी सहायता या रक्षा करने नहीं आता। न ही कोई सहानुभूति के दो शब्द कहता है। किसी को उनकी दयनीय दशा देखकर दया नहीं आती, पर परमाधामक असुर उन्हें रोने पीटने पर और अधिक क्रूर बनकर अधिकाधिक यातनाएँ देते हैं। उनके पूर्व जन्मकृत पापकर्मों की याद दिलाकर उन्हें लगातार एक के बाद एक यातनाएँ देते रहते हैं, जो उन्हें विवश होकर भोगनी ही पड़ती है।^{११}

नरकपालों द्वारा नारक जीवों पर किये जाने वाले अत्याचारों से एक प्रश्न उठता है कि नरक में नारकी जीव का शरीर चूर-चूर कर दिया जाता है, उनकी चमड़ी उधेड़ दी जाती है, मृत शरीर की तरह उन्हें उंधे मुंह लटका दिया जाता है, वे अत्यन्त पिसे, काटे, पीटे, और छीले जाते हैं, फिर भी वे मरते क्यों नहीं ?

इसका समाधान आगमों में किया है कि- 'सजीवणा नाम चिरद्वितिया'^{१२}

अर्थात् नरक की भूमि का नाम संजीवनी भी है। वह संजीवनी औषधि के समान जीवन देने वाली है, जिसका रहस्य यह है कि मृत्यु-सा दुःख आने पर भी आयुष्यबल शेष होने के कारण वहाँ नारक चूर-चूर दिये जाने या पानी की तरह शरीर को पिघाल दिये जाने पर भी मरते नहीं, क्योंकि नारक का शरीर पारे के समान बिखर कर पुनः मिल जाता है।^{१३}

९. नारकों के मन पर प्रतिक्रिया :-^{१४}

नारकीय जीवों को मिलने वाली ये सब यातनाएँ मुख्यतया शारीरिक होती

है। नारकों के मन पर इन यातनाओं का गहरा प्रभाव पड़ता है, जो आँखों से आँसुओं के रूप में और वाणी से रूदन विलाप और रक्षा के लिए पुकार के रूप में प्रकट होता है। नारकों को ये सब यातनाएँ और भयंकर वेदनाएँ उनके पूर्वजन्म में किये हुए पापकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होती हैं, इसलिए नरकों को यातना-स्थान कहना योग्य ही है।

१०. एक-अनेक-शस्त्रविकुर्वणा वेदना (विक्रिया द्वारा)

रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिक शस्त्र आदि का एक रूप भी बना सकते हैं और बहुत रूप भी बना सकते हैं। एक रूप बनाते हुए वे एक मुद्गर रूप बनाने में समर्थ हैं, इसी प्रकार एक भुसंडी (शस्त्रविशेष), करवत, तलवार, शक्ति, हल, गदा, मूसल, चक्र, बाण, भाला, तोमर, शूल, लकुट (लाठी) और भिण्डमाल (शस्त्रविशेष) बनाते हैं और बहुत रूप बनाते हुए बहुत से मुद्गर भुसंडी यावत् भिण्डमाल बनाते हैं। इन बहुत शस्त्र रूपों की विकुर्वणा करते हुए वे संख्यात शस्त्रों की ही विकुर्वणा कर सकते हैं, असंख्यात की नहीं। अपने शरीर से सम्बद्ध की विकुर्वणा कर सकते हैं, असम्बद्ध की नहीं, सदृश की रचना कर सकते हैं, असदृश की नहीं। इन विविध शस्त्रों की रचना करके वे एक दूसरे नैरयिक पर प्रहार करके वेदना उत्पन्न करते हैं। वह वेदना उज्ज्वल अर्थात् लेशमात्र भी सुख न होने से जाज्वल्यमान होती है—उन्हें जलाती है, वह विपुल है—सकल शरीरव्यापी होने से विस्तीर्ण है। वह वेदना प्रगाढ है—मर्मदेशव्यापी होने से अतिगाढ होती है। वह कर्कश होती है (जैसे पाषाणखंड का संघर्ष शरीर के अवयवों को तोड़ देता है, उसी तरह से वह वेदना आत्मप्रदेशों को तोड़-सी देती है। वह कटुक औषधिपान की तरह कड़वी होती है, वह परुष-कठोर (मन में रूक्षता पैदा करने वाली) होती है, निष्ठुर होती है, (अशक्य प्रतीकार होने से दुर्भेद्य) होती है, चण्ड होती है, (रौद्र अध्यवसाय का कारण होने से) वह तीव्र होती है, (अत्यधिक होने से) वह दुःखरूप होती है, वह दुर्लघ्य और दुःसह्य होती है। इस प्रकार धूमप्रभापृथ्वी (पाँचवी नरक) तक वेदना होती है।

वे परस्पर में तीव्र वेदना देते हैं इसलिए “परस्परोदीरित दुःखको वेदना वाले हैं।” इस विक्रिया द्वारा दूसरों को उज्ज्वल, विपुल, प्रगाढ, कर्कश, कटुक, परुष, निष्ठुर, चण्ड, तीव्र, दुःखरूप दुर्लघ्य और दुःसह्य वेदना देते हैं। यह विकुर्वणा रूप वेदना पाँचवी नरक तक होती है।

छठी और सातवीं पृथ्वी के नैरयिक बहुत और बड़े (गोबर के कीट के समान) लाल कुन्थुओं की रचना करते हैं, ये वज्रमय मुखवाले लाल और गोबर के कीड़े के समान, बड़े कुन्थुओं का रूप बनाकर एक दूसरे के शरीर पर चढ़ते हैं। उनके शरीर को बार बार काटकर दूसरे नारक के शरीर में अन्दर तक प्रवेश करके इक्षु का कीड़ा जैसे इक्षु को खा खा कर छलनी कर देता है, वैसे ही वे नारक के शरीर को छलनी जैसा करके वंदना पहुँचाते हैं, वैसे ही वे नारक के शरीर को छलनी जैसा करके वेदना पहुँचाते हैं और सौ पर्व वाले इक्षु के कीड़ों की तरह भीतर ही भीतर सनसनाहट करते हुए घुस जाते हैं और उनको असह्य वेदना उत्पन्न करते हैं।^{१६}

नरक में जितने भी साधन हैं वे उनके दुःख को बढ़ाने वाले होते हैं। नारकों को वैक्रिय लब्धि होती है देवों को भी होती है। परन्तु नारकों को वह उनके लिए अभिशाप के रूप में ही होती है। क्यों कि वे उसके प्रभाव से शस्त्रादि बनाकर परस्पर लड़ते हैं और दुःख पाते हैं।

यह विक्रिया दो प्रकार की होती है-१) पृथक् विक्रिया और २) अपृथक् विक्रिया। पृथक् विक्रिया देवों को प्राप्त होती है, जिसके प्रभाव से देव एक साथ अनेक शरीर बना सकते हैं। नारकों को अपृथक् विक्रिया प्राप्त होती है, जिसके प्रभाव से वे अपने शरीर से एक समय में एक ही विक्रिया कर सकते हैं और वह भी अशुभरूप विक्रिया ही। विक्रियारूप शरीर मूल शरीर से दुगुनी अवगाहना वाला बना सकते हैं। नारकी के जीव शुभ विक्रिया करना चाहते हैं, लेकिन होती है-अशुभ विक्रिया ही। यह उस नरकभूमि का प्रभाव है।^{१७}

११. नैरयिक के नरक भव का अनुभव

रत्नप्रभा आदि नरक भूमियों के नारक जीव क्षेत्रस्वभाव से ही अत्यन्त गाढ अन्धकार से व्याप्त भूमि को देखकर नित्य डरे हुए और शंकित रहते हैं, नित्य भूखे रहते हैं। परमाधार्मिक देव तथा परस्परोदीरित दुःखसंघात से नित्य त्रस्त रहते हैं। वे नित्य दुःखानुभव के कारण उद्विग्न रहते हैं, वे नित्य उपद्रवग्रस्त होने से तनिक भी साता नहीं पाते हैं। नित्य वधिक के समान क्रूर परिणाम वाले, नित्य परम अशुचि, अनन्य सदृश अशुभ और निरन्तर अशुभ रूप से उपचित नरकभव का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार सप्तम पृथ्वी तक हैं।

सातवीं पृथ्वी में पाँच अनुत्तर बड़े से बड़े महानरक कहे गये हैं, यथा-काल, महाकाल, रौरव, महारौरव और अप्रतिष्ठान । वहाँ जो सर्वोत्कृष्ट हिंसादि पाप कर्मों को करते हैं वे मृत्यु के समय मर कर अप्रतिष्ठान नरक में नैरयिक के रूप में उत्पन्न होते हैं । उदाहरण के रूप में यहाँ पाँच महापुरुषों का उल्लेख किया गया है जो अत्यन्त उत्कृष्ट स्थिति के और उत्कृष्ट अनुभाग का बंध कराने वाले क्रूर कर्मों को बाँधकर सप्तमपृथ्वी के प्रतिष्ठान नरकावास में उत्पन्न हुए हैं । वे हैं—

१. जमदग्नि का पुत्र परशुराम,
२. लच्छति पुत्र दृढायु (टीकाकार के अनुसार छातीसुत दाढापाल)
३. उपरिचर वसुराजा
४. कोरव्य गोत्रवाला अष्टम चक्रवर्ती सुभूम और
५. चुलनीसुत ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ।

ऐसा कहा जाता है कि परशुराम ने २१ बार क्षत्रियों का नाश करके क्षत्रियहीन पृथ्वी कर दी थी । सुभूम आठवाँ चक्रवर्ती हुआ, इसने सात बार पृथ्वी को ब्राह्मणरहीत किया । एसी किंवदन्ती है । तीव्र, क्रूर, अध्यवसायों से ही ऐसा हो सकता है । ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती अत्यन्त भोगासक्त या तथा उसके अध्यवसाय अत्यन्त क्रूर थे । वसु राजा उपरिचर के विषय में प्रसिद्ध है कि वह बहुत सत्यवादी था और इस कारण देवताधिष्ठित स्फटिक सिंहासन पर बैठा हुआ भी वह स्फटिक सिंहासन जनता को दृष्टिगोचर न होने से ऐसी बात फैल गई थी कि राजा प्राण जाने पर भी असत्य भाषण नहीं करता, इसके प्रताप से वह भूमि से ऊपर उठकर अधर स्थित होता है । एक बार पर्वत और नारद में वेद में आये हुए 'अज' शब्द के विषय में विवाद हुआ । पर्वत अज का अर्थ बकरा करता था और उससे यज्ञ करने का हिंसामय प्रतिपादन करता था । जबकि सम्यग्दृष्टि नारद 'अज' का अर्थ 'न उगने वाला धान्य' करता था । दोनों न्याय के लिए वसु राजा के पास आये । किन्हीं कारणों से वसु राजाने पर्वत का पक्ष लिया, हिंसामय यज्ञ को प्रोत्साहित किया । इस झूठ के कारण देवता कुपित हुआ और उसे चपेट मार कर सिंहासन से गिरा दिया । वह रौद्रध्यान और क्रूर परिणामों से मरकर सप्तम पृथ्वी के अप्रतिष्ठान नरकावास में उत्पन्न हुआ ।

उपर्युक्त पंच महापुरुष और ऐसे ही अन्य अत्यन्त क्रूरकर्मा प्राणी सर्वोत्कृष्ट पाप कर्म का उपार्जन करके वहाँ उत्पन्न हुए और अशुभ वर्ण-गंध-स्पर्शादिक की उज्ज्वल, विपुल और दुःसह्य वेदना को भोग रहे हैं ।^{१९}

१२. नारकों को पुद्गलपरिणाम का अनुभव :-

जो नरवृषभ वासुदेव-जो बाह्य भौतिक दृष्टि से बहुत महिमा वाले, बल वाले, समृद्धि वाले, कामभोगादि में अत्यन्त आसक्त होते हैं, वे बहुत युद्ध आदि संहाररूप प्रवृत्तियों में तथा परिग्रह एवं भोगादि में आसक्त होने के कारण प्रायः यहाँ सप्तम पृथ्वी में उत्पन्न होते हैं । इसी तरह तन्दुलमत्स्य जैसे भावहिंसा और क्रूर अध्यवसाय वाले, वसु आदि माण्डलिक राजा तथा सुभूम जैसे चक्रवर्ती तथा महारम्भ करने वाले कालसौकरिक सरीरवे गृहस्थ प्रायः इस सप्तम पृथ्वी में उत्पन्न हुए हैं ।^{१००} ऐसा उल्लेख किया गया है ।

नारकों की उत्कृष्ट विकुर्वणा अन्तर्मुहूर्त काल तक रहती है । तिर्यच और मनुष्यों की विकुर्वणा उत्कृष्ट चार अन्तर्मुहूर्त रहती है तथा देवों की विकुर्वणा उत्कृष्ट पन्द्रह दिन (अर्धमास) तक रहती है ।^{१०१}

जो अनिष्ट पुद्गल होते हैं, वे ही नैरयिकों के द्वारा आहारदि रूप में ग्रहण किये जाते हैं । उनके शरीर का संस्थान हुंडक होता है और वह भी निकृष्टतम होता है । यह भवधारणीय को लेकर है ।

सब नैरयिकों की विकुर्वणा अशुभ ही होती है । यद्यपि वे अच्छी विक्रिया करने का विचार करते हैं, तथापि प्रतिकूल कर्मोदय से उनकी वह विकुर्वणा निश्चित अशुभ ही होती है । उनका उत्तर-वैक्रिय शरीर और उपलक्षण से भवधारणीय शरीर संहनन रहित होता है, क्योंकि उनमें हड्डियों का ही अभाव है । उनका उत्तरवैक्रिय शरीर भी हुंडकसंस्थान वाला है, क्योंकि उनके भवप्रत्यय से ही हुण्डक संस्थान नामकर्म का उदय होता है ।^{१०२}

रत्नप्रभादि सब नरकभूमियों में कोई जीव चाहे वह जघन्यस्थिति का हो या उत्कृष्ट-स्थिति का हो, जन्म के समय भी असाता का ही वेदन करता है । पहले के भव में मरणकाल में अनुभव किये हुए महादुःखों की अनुवृत्ति होने के कारण वह जन्म से ही असाता का वेदन करता है, उत्पत्ति के पश्चात् भी असाता का ही अनुभव करता है, इतना ही नहीं संपूर्ण नारक का भव असाता

में ही पूरा करता है। उनको सुख का लेशमात्र भी नहीं है।^{१०३}

इन सब यातनाओं जन्य वेदना को देखते हुए ऐसा लगता है कि जहाँ मात्र दुःखों का ही साम्राज्य हो, वह है नरक।

१३. नारकों के दुःखों में अपवाद

प्रायः सर्वत्र प्रत्येक कार्य में कुछ न कुछ अपवाद भी दृष्टिगोचर होता ही है। इसी प्रकार यहाँ नारकियों को सदा दुःख ही दुःख होता है, परंतु उसका थोड़ा सा अपवाद भी है। वह निम्न प्रकार से-

उपपात-कोई नारक जीव उपपात के समय में साता की वेदना भी करता है। जो पूर्व के भव में दाह या छेद आदि के बिना सहज रूप में मृत्यु को प्राप्त हुआ हो वह अधित संक्लिष्ट परिणाम वाला नहीं होता है। उस समय उसके न तो पूर्वभव में बांधा हुआ आधिरूप (मानसिक) दुःख है और न क्षेत्रस्वभाव से होने वाली पीड़ा है और न परमाधामी कृत या परस्परोदीरित वेदना ही है। इस स्थिति में दुःख का अभाव होने से कोई जीव साता की वेदना करता है।

देवप्रभाव से-कोई जीव के प्रभाव से थोड़े समय के लिए साता का वेदन करता है। जैसे कृष्ण वासुदेव की वेदना के उपशम के लिए बलदेव नरक में गये थे। इसी प्रकार पूर्वसांगतिक देव के प्रभाव से थोड़े समय के लिए नैरयिकों को साता का अनुभव होता है। उसके बाद तो नियत से क्षेत्रस्वभाव से होने वाली या अन्य अन्य वेदनाएँ उन्हें होती ही हैं।

अध्यवसाय से-कोई नैरयिक सम्यक्त्व उत्पत्ति के काल में अथवा उसके बाद भी कदाचित् तथाविध विशिष्ट शुभ अध्यवसाय से बाह्य, क्षेत्रज आदि वेदनाओं के होते हुए भी साता का अनुभव करता है। आगम में कहा है कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय जीव को वैसा ही प्रमोद होता है जैसे किसी जन्मान्ध को नेत्रलाभ होने से होता है। इसके बाद भी तीर्थकरो के गुणानुमोदन आदि विशिष्ट भावना भाते हुए बाह्य क्षेत्रज वेदना के सहभाव में भी वे सातोदय का अनुभव करते हैं।^{१०४}

कर्मानुभव से-तीर्थकरो के जन्म, दीक्षा, ज्ञान तथा निर्वाण कल्याणक आदि बाह्य निमित्त को लेकर तथा तथाविध साता वेदनीयकर्म के विपाकोदय के निमित्त से नैरयिक जीव क्षणभर के लिए साता का अनुभव करते हैं।^{१०५}

नैरयिक जीव कुंभियों में पकाये जाने पर तथा भाले आदि से भेद्यमान होने पर भय से त्रस्त होकर छटपटते हुए पाँच सौ योजन तक ऊपर उछलते हैं। जघन्य से एक कोस और उत्कर्ष से पाँच सौ योजन उछलते हैं। ऐसा भी कहीं कहीं उल्लेख प्राप्त होता है।^{१०६}

इस प्रकार नैरयिक जीवों को, जो रात-दिन नरकों में पचते रहते हैं, उन्हें आँख मूंदने जितने काल के लिए (निमेषमात्र के लिए) भी सुख नहीं है। वहाँ सदा दुःख ही दुःख है, निरन्तर दुःख है

नारकों की मृत्यु-

अंत समय में नैरयिकों के वैक्रिय शरीर के पुद्गल उन जीवों द्वारा शरीर छोड़ते ही हजारों खण्डों में छिन्न-भिन्न होकर बिखर जाते हैं।^{१०७} इस प्रकार बिखरने वाले अन्य शरीरों का कथन भी प्रसंग से कर दिया है। तैजस, कार्मण शरीर, सूक्ष्म शरीर अर्थात् सूक्ष्म नामकर्म के उदयवाले पर्याप्त और अपर्याप्त जीवों के शरीर, औदारिक शरीर, वैक्रिय और आहारक शरीर भी चर्मचक्षुओं द्वारा ग्राह्य न होने से सूक्ष्म हैं तथा अपर्याप्त जीवों के शरीर जीवों द्वारा छोड़े जाते ही बिखर जाते हैं। उनके परमाणुओं का संघात छिन्न-भिन्न हो जाता है।^{१०८}

उन नारक जीवों को नरकों में अति शीत, अति उष्णता, अति तृषा, अति भूख अति भय आदि सैकड़ों प्रकार के दुःख निरन्तर होते रहते हैं।^{१०९}

इस प्रकार नैरयिकों में विकुर्वणा का अवस्थानकाल, अनिष्ट पुद्गलों का परिणामन, अशुभ विकुर्वणा, नित्य असाता, उपपात काल में क्षणिक साता, ऊपर छटपटते हुए उछलना, अक्षिनिमेष के लिए भी साता न होना, वैक्रियशरीर का बिखरना तथा नारकों को होने वाली सैकड़ों प्रकार की वेदनाओं होती है।

टिप्पण :-

१. स्थानांग ५ अ, पृ. २८७ से २८८, सूत्रकृतांग १/५/११ नरकविभक्ति ।
२. जीवाजीवाभिगम खं.१, पृ. ७६ विवेचन, प्रज्ञापना १ अध्याय में पृ. ७३ नं.
३. सूत्रकृतांग २ श्रू. ९अ०
४. प्रज्ञापनासूत्र मलय वृत्ति पत्रांक ४३
५. जैनेन्द्र कोष भा. २ पृ. ५६९

६. नंदीसूत्र, आवश्यक मलयगिरी 'नरान् कायन्ति योग्यता अनतिक्रमेणाऽऽकार-
यन्तिजन्तून स्वस्थाने इति नरकाः'
७. तत्त्वार्थसूत्र अ० ३/९. भगवतीसूत्र, शतक १, उद्देशक ६ ।
८. वही
९. वही
१०. वही
११. तिलोय-पण्णती २/३१३ से ३१६
१२. तिलोय-पण्णती २/३१५
१३. महापुराण भा. १ ९०/३३
१४. तिलोय-पण्णती २/३४१, हरिवंश पुराण ४/३६४, महापुराण १०/३९,
त्रिलोकसार १९४, ज्ञानार्णव ३६/८०.
१५. लोक-प्रकाश खंड २ सर्ग १४. गा. ४१
१६. राजवार्तिक ३/३१४/१६४/१४, जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १, पृ. ८५, प्रज्ञापना
ख. १ पृ. ९७.
१७. ति.प. २/३१८-३२१, स.सि. ३/४/२०८/६, रा. वा. ३/४/१/१६५/४,
१८. ह.पु.४/३६३, ज्ञा. ३६; ३७, वसु. श्रा. १६६१
१९. राजवार्तिक २/४७/४/१५२/११
२०. सवार्थ सिद्धि ३/३/२०७/४
२१. राजवार्तिक ३/३/४/१६४/१२, ह.पु. ४/३६८, महापुराण १०/ ३४, ९५.
२२. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ सू. ८७(२)
२३. काऊ य दोसु तइयाए मीसिया नीलिया चउत्थिए ।
पंचमियाए मीसा, कण्हा तत्तो परम कण्हा ॥ भगवती सूत्र, तत्त्वार्थसूत्र अ० ३/३
२४. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ ८८(२), प्रज्ञापना सूत्र भा. २ पृ. ५८
२५. वही ८७(१)
२६. वही ८७(२)
२७. वही ८८(२)

२८. वही ८८(२)
२९. प्रज्ञापना भा. २ पृ. ६९, ६१६१३.९ सूत्र.
३०. जीवाजीवाभिगम भा. १ पृ. २४२
३१. प्रज्ञापना ख. २ पृ. १०९ विवेचन.
३२. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र अभिनव टीका अ. ३ सू. ३.
३३. वही ८८(२)
३४. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा.१ २/५९ पृ. १६४. तत्त्वार्थसूत्र अ०३/५.
३५. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ. ७९.
३६. प्रज्ञापना सूत्र भा. २ पृ. ४५१
३७. षट्खंडागम ९/९/ सू. ६७९-८३/३१९-३२३
३८. तत्त्वार्थसूत्र अभिनव टीका ३.६ पृ. ४५
३९. तत्त्वार्थवृत्ति अ० ३ सू० ७
४०. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र अभिनव टीका अ० ३ सू० ७ पृ. ४५.
४१. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र अभिनव टीका अ० ६ सू० ४४ पृ.
४२. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र अभिनव टीका अ० ६ सू० ४५ पृ.
४३. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ. ९८.
तत्त्वार्थसूत्र पंडित सुखलालजी ३/६, पृ. ८७
४४. वही पृ. ८७
४५. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १, ३/६६, ठामं-७/२४१, प्रज्ञापना भा. २ पृ. ८२,
६/८/१.
४६. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ सू. ६९ पृ. १९७.
४७. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ विवेचन पृ. १९८.
४८. रत्नशर्कराबालुकाप्रंकथूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठां समाधोधः
पृथुतराः/तत्त्वार्थ० - तत्त्वार्थसूत्र अ. ३ सू. १.
४९. भगवतीसूत्र शतक १ उद्देशक ६ ।
५०. जीवाजीवाभिगम सूत्र संपा. मधुकर मुनि, पृ. २०९

५१. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ. २३१.
५२. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ सू. ८२(१) पृ. २२५.
५३. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ. २२७.
५४. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ. २२९.
५५. जीवाभिगम ३/७०. पृ. १९९.
५६. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ. २३०
५७. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ. २४६.
५८. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ. २३५ से २३८.
५९. वही
६०. सत्तट्टी पंचसया पणनउडसहस्स लक्खगुणतीसं ।
रयणाए सेट्ठिगया चायालसया उ तित्तीसं ॥१॥ जीवा. भाग १ पृ. १९९.
६१. सत्ता णउडसहस्सा चउवीसं लक्खं तिसय पंचऽहिया ।
बीयाए सेट्ठिगया छव्वीससया उ पणनउया ॥२॥ 'जीवाभिगम' भा. १ पृ. १९९ ।
६२. पंचसया पन्नारा अउनवडसहस्स लक्ख चोदस य ।
तइयाए सेट्ठिगया पणसीया चोदस सया उ ॥
—जीवाजीवाभिगम सूत्र पृ. १९९ विवेचन
६३. तेणउया दोण्णिण सया नवनउडसहस्स नव य लक्खा य ।
पंकाए सेट्ठिगया सत्तगया सत्तसया हुंति सत्तहिया ।
६४. सत्तसया पणतीसा नवनवडसहस्स दो य लक्खा य ।
धूमार सेट्ठिगया पणसट्ठा दो सया होंति ॥
६५. नवनउई य सहस्सा नव चव सया हवंति बत्तीसा ।
पुढवीए छट्टीए पडण्णमाणेस संखेवो ।
६६. पुव्वेण होइ कालो अवरेण अप्पइट्ठ महकालो ।
रोरू दाहिणपासे महारोरू ॥
—जीवाजीवाभिगमसूत्र विवेचन पृ. १९८ से २००
६७. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १, पृ. २१९.
६८. जीवाभिगम व्यावर पृ. २१९.

६९. जीवजीवाभिगम सूत्र भा. १ सू. ७३ पृ. २०३.
७०. उत्पादव्ययधौव्यमुक्तं सत् । द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु । — तत्त्वार्थसूत्र
७१. द्रव्यं पर्यायवियुतं, पर्याया द्रव्यवर्जिता । क्वकदा केन किंरूपा, दृष्टा मानेन केन वा ।
७२. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ. २१६.
७३. जीवाभिगम सूत्र पृ. २१५ विवेचन
७४. तत्त्वार्थसूत्र ३/६
७५. महापुराण भा. १. पर्व १० सू. ४५-५१.
७६. 'अहे खुरप्पसंठाणसंठिया, णिच्चंधयारतमसा, ववगयगह-चंद-सूर-
नक्खत्तजोइसणहा, मेयवसापूयरु हिरमंसचिक्खिल्लित्ताणुलेवणतला, असुहबीभच्छा,
परमदुब्धिगंधा काऊअ-गणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुहा नरएसा
वियाणा ।' —जीवाजीवाभिगम सूत्र पृ. २२७.
७७. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ मधुकर मुनि पृ. २२३ विवेचन.
७८. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ. २२४ विवेचन.
७९. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १. पृ. २४९.
८०. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ. २५०.
८१. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ. २४४.
८२. सूत्रकृतांग चूर्णि, प० १३३.
८३. ठाणं अ० १० सू० १०.
तत्त्वार्थाधिगम सूत्र अभिनव टीका अ० ३, सू० ३ पृ० २५.
८४. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र अभिनव टीका अ० ३ सू० ४ पृ. २९.
८५. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र अभिनव टीका अ० ३ सू० ५.
८६. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र अभिनव टीका अ० ३ पृ० ३७.
८७. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र अभिनव टीका अ० ३ सू० ५ विवेचन.
८८. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र अभिनव टीका अ० ३, सू० ५.
तत्त्वार्थसूत्र अ० २ सू० ५२
८९. स्थानांग नी चूर्णि पृ. १३१, वृत्ति, पत्र १३१, १

१०. सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १३५ से १३९.
११. (क) सूत्रकृतांग मूलपाठ टिप्पण (जम्बूविजयदी) पृ. ५८ से ६२
 (ख) सूत्रकृतांग शीलांग वृत्ति पत्रांक १३७
 (घ) 'औषपातिक चरमदेहोत्तमपुरूषाऽसंख्येय वर्षाऽऽयुषोऽनववर्त्यायुषः' तत्त्वार्थसूत्र
 अ० १ सूत्र ५३.
१२. सूत्रकृतांग श्रु. १ सू० मा० ३५५
१३. (क) 'संजीवणा-संजीवन्तीति संजीविनः सर्व एव नरकाः संजीवणा ।' सूत्रकृ०
 चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ५९
 (ख) 'संजीवनी-जीवनदात्री नरकभूमि'-सूत्रकृ० शीलांक वृत्ति पत्रांक १३७.
१४. सूत्रकृतांग श्रु० १ सू० गा० ३३५.
१५. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ. २४३.
१६. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ. २४३.
१७. 'प्रश्न्याकरण' अमर मुनिजी महाराज पृ. १०२.
१८. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ. २४५.
१९. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ. २४५.
१००. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ. २६१.
१०१. वही
१०२. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ. २६१.
१०३. वही
१०४. 'नेड्याणुप्पाओ गाउय उक्कोस पंचजोयणसयाइ' इति द्वचित् पाठः ।
१०५. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ. २६१
१०६. वही
१०७. वही
१०८. वही
१०९. जीवाजीवाभिगम सूत्र भा. १ पृ. २६२.



प्रकरण ५

स्वर्ग-नरक विषयक अन्य धर्मोंकी मान्यताएँ एवं तुलना

वैदिक धर्मानुसार लोक-वर्णन मर्त्यलोक

जिस प्रकार जैन मान्यतानुसार भूगोल का वर्णन है, लगभग उसी प्रकार हिन्दु-पुराणों में भी भूगोल का वर्णन पाया जाता है। विष्णु-पुराण के द्वितीयांश के द्वितीयाध्याय में बतलाया गया है कि इस पृथ्वी पर १ जम्बू, २ प्लक्ष, ३ शाल्मल, ४ कुश, ५ कौच, ६. शाक और ७. पुष्कर नाम वाले सात द्वीप हैं। ये सभी चूड़ी के समान गोलाकार और क्रमशः १) लवणोद, २) इक्षुरस, ३) मदिरारस, ४) घृतरस, ५) दधिरस, ६) दूधरस, ७) मधुरस वाले सात समुद्रों से वेष्टित हैं। इन सबके मध्य-भाग में जम्बूद्वीप है। इसका विस्तार एक लाख योजन है। उसके मध्य भाग में ८४ हजार योजन ऊँचा स्वर्णमय मेरु पर्वत है। इसकी नींव पृथ्वी के भीतर १६ हजार योजन है। मेरु का विस्तार मूल में १६ हजार योजन है और फिर क्रमशः बढ़कर शिखर पर ३२ हजार योजन हो गया है।^१

इस जम्बूद्वीप में मेरु-पर्वत के दक्षिण भाग में हिमवान, हेमकूट और निषध तथा उत्तर भाग में नील, श्वेत और शृंगी ये छः वर्ष-पर्वत हैं। इन से जम्बूद्वीप के सात भाग हो जाते हैं। मेरु के दक्षिणवर्ती निषध और उत्तरवर्ती नील पर्वत, पूर्व-पश्चिम लवण-समुद्र तक १ लाख योजन लम्बे, दो-दो हजार योजन ऊँचे और इतने ही चौड़े हैं। इनमें परवर्ती हेमकूट और श्वेत-पर्वत लवण-समुद्र तक पूर्व-पश्चिम में नब्बे (९०) हजार योजन लम्बे, दो हजार योजन ऊँचे और इतने ही विस्तार वाले हैं। इनसे परवर्ती हिमवान और शृंगी-पर्वत पूर्व-पश्चिम में अस्सी (८०) हजार योजन लम्बे, दो हजार योजन ऊँचे और इतने ही विस्तार वाले हैं। इन पर्वतों के द्वारा जम्बू-द्वीप के सात भाग हो जाते हैं। जिनके नाम दक्षिण की ओर से क्रमशः इस प्रकार हैं-

१. भारतवर्ष, २. किम्पुरुष, ३. हरिवर्ष, ४. इलावृत्त, ५. रम्यक ६. हिरण्यमय ७. और उत्तरकूरु^३ । इनमें इलावृत्त को छोड़कर शेष ६ का विस्तार उत्तर-दक्षिण में नौ-नौ हजार योजन है । इलावृत्त-वर्ष मेरू के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर इन चारों ही दिशाओं में नौ-नौ हजार योजन विस्तृत है । इस प्रकार सर्व पर्वतों वर्षों के विस्तार को मिलाने पर जम्बूद्वीप का विस्तार १ लाख योजन प्रमाण हो जाता है । यह जैन मान्यता के समान है ।

इस द्वीप को सब और से घेरकर मधुरोदक समुद्र अवस्थित है । इससे आगे प्राणियों का निवास नहीं है । मधुरोदक समुद्र से आगे उससे दूने विस्तार वाली स्वर्णमयी भूमि है । उसके आगे १० हजार योजन विस्तृत और इतना ही ऊँचा, लोकालोक पर्वत है । उसको चारों और से वेष्टित तमस्तम स्थित है । इस अण्डकटाह के साथ उपर्युक्त द्वीप-समूहों वाला यह समस्त भूमण्डल ५० करोड़ योजन विस्तार वाला है और इसकी ऊँचाई ७० हजार योजन है ।^३

इस भूमण्डल के नीचे दस-दस हजार योजन के ७ पाताल हैं । जिनके नाम इस प्रकार हैं-अतल, वितल, नितल, गभस्तिमत, महातल, सुतल और पाताल । ये क्रमशः शुक्ल, कृष्ण, अरूण, पीत, शर्करा, शैल और काञ्चन स्वरूप हैं । यहाँ उत्तम भवनों से युक्त भूमियां हैं और यहाँ दानव, दैत्य, यक्ष, एवं नाग आदि निवास करते हैं ।^४

पातालों के नीचे विष्णु भगवान का शेष नामक तामस शरीर स्थित है जो अनन्त कहलाता है । यह शरीर सहस्र फणों से संयुक्त होकर समस्त भूमण्डल को धारण करके पाताल-मूल में अवस्थित है । कल्पान्त के समय इसके मुख से निकली हुई संकर्षात्मक, रूद्र, विषाग्नि-शिखा तीनों लोकों का भक्षण करती है ।^५

नरक-लोक

पृथ्वी और जल के नीचे रौरव, सूकर, रौध, ताल, विशासन, महाज्वाल, तप्तकुम्भ, लवण, विलोहित, रुधिर, वैतरणी, कृमीश, कृमि-भोजन, असिपत्रवन, कृष्ण, अलाभक्ष, दारूण, पूयवह वह्नि-ज्वाल, अधःशिग, सैदेस, कालसूत्र, तम, आवीचि, श्वभोजन, अप्रतिष्ठा और अग्रवि इत्यादि नाम वाले अनेक महान भयानक नरक हैं । इनमें पापी जीव मरकर जन्म लेते हैं ।^६ वे वहाँ से निकल कर क्रमशः

स्थावर कृमि, जलचर, मनुष्य और देव आदि होते हैं । जितने जीव स्वर्ग में हैं उतने ही जीव नरकों में भी रहते हैं ।^{१०}

ज्योतिलोक

भूमि से १ लाख योजन दूरी पर सौर-मण्डल है । इससे १ लाख योजन ऊपर चन्द्रमण्डल, इससे १ लाख योजन ऊपर नक्षत्र-मण्डल, इससे २ लाख योजन ऊपर बुध, इससे २ लाख योजन ऊपर शुक्र, इससे २ लाख योजन ऊपर मंगल, इससे २ लाख योजन ऊपर बृहस्पति, इससे २ लाख योजन ऊपर शनि, इससे १ लाख योजन ऊपर सप्तर्षिमण्डल तथा इससे १ लाख योजन ऊपर ध्रुवतारा स्थित है ।^{१४}

महर्लोक (स्वर्गलोक)

ध्रुव से १ करोड़ योजन ऊपर जाकर महर्लोक है, यहाँ कल्प काल तक जीवित रहने वाले कल्पवासियों का निवास है । इससे २ करोड़ योजन ऊपर जनलोक है, यहाँ नन्दनादि से सहित ब्रह्माजी के प्रसिद्ध पुत्र रहते हैं । इससे ८ करोड़ योजन ऊपर तपलोक है । यहाँ वैराज देव निवास करते हैं । इससे १२ करोड़ योजन ऊपर सत्यलोक है । यहाँ कभी न मरने वाले अमर (अपुनमरिक्) रहते हैं । इसे ब्रह्मलोक भी कहते हैं । भूमि (भूलोक) और सूर्य के मध्य में सिद्धजनों और मुनिजनों में सेवित भुवर्लोक कहलाता है । सूर्य और ध्रुव के मध्य चौदह लाख योजन प्रमाण क्षेत्र स्वर्लोक नाम से प्रसिद्ध है ।^{१५}

भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक, ये तीनों लोक कृतक, तथा जनलोक, तपलोक, और सत्यलोक, ये तीन लोक अकृतक है । इन दोनों लोकों के बीच में महर्लोक है । यह कल्पांत में जन-शून्य हो जाता है, किन्तु सर्वथा नष्ट नहीं होता ।^{१६}

तुलना और समीक्षा

विष्णु-पुराण के आधार पर जो लोक स्थिति या भूगोल का वर्णन किया गया है उसका हम जैनसम्मत लोक के वर्णन से मिलान करते हैं तो अनेक तथ्य सामने आते हैं । जिनका दोनों मान्यताओं के नाम निर्देश के साथ यहाँ उल्लेख किया जाता है-

द्वीप

जैन मान्यता

१. द्वीप, समुद्र	असंख्यात
२. प्रथम द्वीप	जम्बूद्वीप
३. कुशक	पन्द्रहवाँ द्वीप ^{११}
४. क्रौंच	सोलहवाँ द्वीप ^{१२}
५. पुष्कर	तीसरा द्वीप

वैदिक मान्यता

द्वीप, समुद्र	७ द्वीप
प्रथम द्वीप	जम्बूद्वीप
कुश	चौथा द्वीप
क्रौंच	पाँचवा द्वीप
पुष्कर	सातवाँ द्वीप

समुद्र

१. लवणोद	प्रथम समुद्र	लवणोद	प्रथम समुद्र
२. वारूणी रस	चौथा समुद्र	मदिरा रस	तीसरा समुद्र
३. क्षीर सागर	पाँचवा समुद्र	दूध रस	छठा समुद्र
४. घृतवर	छठा समुद्र	मधुर रस	सातवाँ समुद्र
५. इक्षुरस	सातवाँ समुद्र	इक्षुरस	दूसरा समुद्र

क्षेत्र

१. भारतवर्ष	१. भारतवर्ष
२. हैमवत	२. किम्पुरुष
३. हरिवर्ष	३. हरिवर्ष
४. विदेह	४. इलावृत
५. रम्यक	५. रम्यक
६. हैरण्यपत	६. हिरण्यमय
७. ऐरावत	७. उत्तर-कुरू

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जैन मान्यतानुसार उत्तर-कुरू विदेह-क्षेत्र का एक भाग है। इलावृत ऐरावत का ही रूपान्तर है। हाँ, दूसरे हैमवत क्षेत्र के स्थान पर किम्पुरुष नाम अवश्य नया है।

पर्वत

जैन परम्परा	वैदिक परम्परा
१. हिमवान	हिमवान्
२. महाहिमवान	हेमकूट
३. निषध	निषध
४. नील	नील
५. रूक्मी	श्वेत
६. शिखरी	शृंगी

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि शिखरी एवं शृंगी ये दोनों एकार्थक नाम हैं। पाँचवें रूक्मी पर्वत का वर्ण जैन मान्यतानुसार श्वेत ही माना गया है, जो वैदिक मान्यता के श्वेत-पर्वत का ही बोधक है। केवल महाहिमवान के स्थान पर हेमकूट नाम नवीन है।

जैन और वैदिक दोनों ही मान्यताओं के अनुसार मेरू-पर्वत जम्बूद्वीप के मध्य भाग में स्थित है। अन्तर केवल ऊँचाई का है। वैदिक मान्यता के अनुसार मेरू चौरासी हजार योजन ऊँचा है। जबकि जैन मान्यता इसे १ लाख योजन ऊँचा मानती है।

नदियाँ

वैदिक मान्यतानुसार ऊपर जो नदियों के नाम दिये गये हैं वे प्रायः सब आधुनिक नदियों के नाम हैं। जैन मान्यतानुसार जम्बू-द्वीप के सात क्षेत्रों में १४ प्रधान नदियाँ हैं। उनमें नाम इस प्रकार हैं-गंगा, सिंधु, रोहित-रोहितास्या, हरित-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नारीकान्ता, स्वर्णकूला-रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा। भारत वर्ष आदि क्षेत्रों में क्रमशः उक्त दो नदियाँ बहती हैं। उनमें से पहली नदी पूर्व के समुद्र और दूसरी नदी पश्चिम के समुद्र में जाकर मिलती है। इस प्रकार दोनों ही मान्यताओं वाली नदियों के नामों में कोई समानता नहीं है।

नरक-स्थिति

जैन मान्यता के समान ही वैदिक मान्यता में भी अत्यन्त दुःख भोगने वाले नारकी-जीवों का अवस्थान इस धरातल के नीचे माना गया है। दोनों के कुछ

नामों में समानता है, और कुछ नामों में विषमता है ।

ज्योतिर्लोक

जैन मान्यतानुसार सम-भूमितल से सूर्य-चंद्र आदि की ऊँचाई का जो उल्लेख है उससे वैदिक मान्यता में बहुत भारी अन्तर है । जो दोनों के पूर्व वर्णनों से हम जान सकते हैं ।

स्वर्गलोक

दोनों ही मान्यताओं के अनुसार स्वर्गलोक की स्थिति ज्योतिर्लोक के ऊपर मानी गई है । वैदिक मान्यता में स्वर्गलोक का नाम महर्लोक दिया गया है तथा वहाँ के निवासियों को जैन मान्यता के समान कल्पवासी कहा गया है । वैदिक मान्यता में स्वर्गलोक की स्थिति सूर्य और ध्रुव के मध्य में चौदह लाख योजन प्रमाण क्षेत्र में है । जबकि जैन मान्यता से वह सुमेरू के ऊपर से लेकर असंख्यात योजन ऊपरी क्षेत्र तक बतलाई गई है ।

कर्मभूमि और भोगभूमि

जिस प्रकार जैनागमों में कर्मभूमि और भोगभूमि का वर्णन आया है उसी प्रकार हिन्दू-पुराणों में भी मिलता है, विष्णु-पुराण के द्वितीयांश के तीसरे अध्याय में कर्मभूमि का वर्णन निम्न प्रकार मिलता है :-

उत्तरं यत्समुद्रस्यः हिमाद्रेश्च दक्षिणम् ।

वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र संततिः ॥१॥

नवयोजनसाहस्रो विस्तारोऽस्य महामुने ।

कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गञ्च गच्छताम् ॥२॥

अतः सम्प्राप्यतेस्वर्गो मुक्तिमस्मात् प्रयान्ति वै ।

तिर्यक्त्वं नरकं चापि यान्त्यतः पुरुषा मुने ॥३॥

इतः स्वर्गश्च मोक्षश्च, मध्यं चान्तश्च गम्यते

त खल्वन्यत्र मर्त्यानां, कर्मभूमौ विधीयते ॥४॥

भावार्थ :- समुद्र के उत्तर और हिमादि के दक्षिण में भारतवर्ष अवस्थित है । इसका विस्तार नौ हजार योजन विस्तृत है । यह स्वर्ग और मोक्ष जाने वाले पुरुषों की कर्मभूमि है । इसी स्थान से यतः मनुष्य स्वर्ग और मुक्ति प्राप्त करते

हैं और यहीं से तिर्यच और नरक-गति में भी जाते हैं-अतः कर्मभूमि है । इस भारतवर्ष के सिवा अन्य क्षेत्र में कर्मभूमि नहीं है ।

अग्नि-पुराण के एक सौ अठारहवें अध्याय के द्वितीय श्लोक में भी भारतवर्ष को कर्मभूमि कहा गया है । यथा-

कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गञ्च गच्छताम् ।

विष्णु-पुराण के अन्त में कर्मभूमि का उपसंहार करते हुए लिखा है- कि भारतवर्ष में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र रहते हैं तथा वे क्रमशः पूजन-पाठ, आयुध-धारण, वाणिज्य-कर्म और सेवादि कार्य करते हैं । यथा-

ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्या मध्ये शुद्राश्च भागशः ।

इज्याऽऽयुध्वाणिज्याद्यैर्वर्तयन्तो व्यवस्थिताः ॥९॥

इस अध्याय का उपसंहार करते हुए कहा गया है कि भारतवर्ष के सिवाय अन्य सब क्षेत्रों में भोगभूमि है । यथा-

अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने ।

यतो हि कर्मभूरेषा ह्यतोऽन्या भोगभूमयः ॥

भावार्थ :- इस जम्बूद्वीप में भारतवर्ष सर्वश्रेष्ठ है । क्योंकि यहाँ पर स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करने वाली कर्मभूमि है । भारतभूमि के सिवाय अन्य सर्व क्षेत्र की भूमियाँ तो भोग-भूमियाँ हैं । क्योंकि वहाँ पर रहने वाले जीव सदाकाल बिना किसी रोगशोक बाधा के भोगों का उपभोग करते रहते हैं ।

मार्कण्डेय-पुराण के ५५ वे अध्याय के श्लोक २०-२१ में भी भोगभूमि और कर्मभूमि का वर्णन मिलता है ।

इस प्रकार जैन एवं हिन्दु मान्यताओं में कहीं साम्य है, और कहीं वैषम्य है ।

उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल

जैनागमों में काल के परिवर्तन स्वरूप का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि जिस समय मनुष्य की आयु, सम्पत्ति, सुख-समृद्धि एवं भोगोपभोगों की वृद्धि हो उसे उत्सर्पिणी काल कहते हैं और जिस समय उक्त वस्तुओं की हानि या ह्रास हो तो उसे अवसर्पिणी काल कहते हैं । दोनों प्रकार के कालों का परिवर्तन कर्मभूमि वाली पृथ्वियों में ही होता है-अन्यत्र भोग भूमिवाली पृथ्वियों

में नहीं । विष्णुपुराण में भी इसका उल्लेख इस प्रकार से मिलता है-

अवसर्पिणी न तेषां वै नचोत्सर्पिणी द्विज ।

नत्वेषाऽस्ति युगावस्था तेषु स्थानेषु सप्तसु ॥

अर्थात्-हे द्विज ! जम्बूद्वीपस्थ अन्य सात क्षेत्रों में भारतवर्ष के समान न काल की अवसर्पिणी अवस्था है और न उत्सर्पिणी अवस्था ही ।

वर्षधर पर्वतों पर सरोवर

जैन मान्यता के समान मार्कण्डेय पुराण में भी वर्षधर पर्वतों के ऊपर सरोवरों का तथा उनमें कमलों का उल्लेख इस प्रकार है-

एतेषां पर्वतानां तु द्रोण्योऽतीव मनोहराः ।

वनैरमलपानीयैः सरोभिरूपशोभिताः ॥

(अ० ५५ श्लोक १४-१५)

उक्त सरोवरों में कमलों का उल्लेख इस प्रकार है-

तदेतत् पार्थिवं पद्मं चतुष्पत्रं मयोदितम् ।

(अ० ५५ श्लोक २०)

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जैन मान्यता के समान ही पुराणकारने भी पद्म को पार्थिव माना है ।

बौद्धमतानुसार लोक वर्णन

लोक-रचना :-

आ० वसुबन्धु ने अपने अभिधर्म-कोश में लोक रचना इस प्रकार बतलाई है :-

लोक के अधोभाग में सोलह लाख योजन ऊँचा, अपरिमित वायुमण्डल है ।^{१३} उसके ऊपर ११ लाख बीस हजार योजन ऊँचा जल-मण्डल है । उसमें ३ लाख बीस हजार योजन कंचनमय भूमण्डल है ।^{१४} जल-मण्डल और कंचनमण्डल का विस्तार १२ लाख ३ हजार चार सौ पचास योजन तथा परिधि छत्तीस लाख दस हजार तीन सौ पचास योजन प्रमाण है ।^{१५}

कांचनमय भूमण्डल के मध्य में मेरू-पर्वत है । यह अस्सी हजार योजन नीचे जल में डूबा हुआ है तथा इतनी है ऊपर निकला हुआ है ।^{१६} इससे आगे

अस्सी हजार योजन विस्तृत और दो लाख चालीस हजार योजन प्रमाण परिधि से संयुक्त प्रथम सीता(समुद्र) है। जो मेरू को घेर कर अवस्थित है। इससे आगे चालीस हजार योजन विस्तृत युगन्धर पर्वत वलयाकार से स्थित है। इसके आगे भी इसी प्रकार से एक-एक सीता को अन्तरित करके आधे-आधे विस्तार से संयुक्त क्रमशः युगन्धर, ईशाधन, खदीरक, सुदर्शन, अश्वकर्ण, विनतक, श्री निमिन्धर पर्वत हैं। सीताओं का विस्तार भी उत्तरोत्तर आधा-आधा होता गया है।^{१७} उक्त पर्वतों में से मेरू चतुरस्रमय और शेष सात पर्वत स्वर्णमय है। सबसे बाहर अवस्थित सीता (महासमुद्र) का विस्तार तीन लाख बाईस हजार योजन प्रमाण है। अंत में लौहामय चक्रवाल पर्वत स्थित है।

निमिन्धर और चक्रवाल पर्वतों के मध्य में जो समुद्र स्थित है उसमें जम्बूद्वीप, पूर्वविदेह, अवरगोदानीय और उत्तरकूरु, ये चार द्वीप हैं। इनमें जम्बूद्वीप, मेरू के दक्षिणभाग में है, उसका आकार शकट के समान है। उसकी तीन भुजाओं में से दो भुजाएँ दो-दो हजार योजन और एक भुजा तीन हजार पचास योजन की है।

मेरू के पूर्व भाग में अर्ध-चन्द्राकार पूर्वविदेह नाम का द्वीप है। इसकी भुजाओं का प्रमाण जम्बूद्वीप की तीन भुजाओं के समान है।^{१८}

मेरू के पश्चिम भाग में मण्डल-भार अवरगोदानीय द्वीप है। इसका विस्तार अढ़ाई हजार योजन और परिधि साढ़े सात हजार योजन प्रमाण है।^{१९} मेरू के उत्तर भाग में सम चतुष्कोण उत्तरकूरुद्वीप है। इसकी एक-एक भुजा दो-दो हजार योजन की है। इनमें से पूर्वविदेह के समीप में देह-विदेह उहारकूरु के समीप में कूरु-कैरव जम्बूद्वीप के समीप में चामर, अवरचामर तथा गोदानीय द्वीप के समीप में शाट्य और उत्तरमन्त्री नामक अन्तद्वीप अवस्थित हैं। इनमें से चमरद्वीप में रक्षसों का और शेष द्वीप में मनुष्यों का निवास है।^{२०}

मेरू-पर्वत के चार परिखण्ड(विभाग) हैं। प्रथम परिखण्ड शीता-जल से दस हजार योजन ऊपर तक माना गया है। इसके आगे क्रमशः दस-दस हजार योजन ऊपर जाकर दूसरा, तीसरा और चौथा परिखण्ड है। इनमें से पहला परिखण्ड सोलह हजार योजन, दूसरा परिखण्ड आठ हजार योजन, तीसरा परिखण्ड चार हजार योजन और चौथा परिखण्ड दो हजार योजन मेरू से बाहर निकला हुआ है। पहले परिखण्ड में पूर्व की ओर करोट-पाणि यक्ष रहते हैं।

दूसरे परिखण्ड में दक्षिण की ओर मालाधर रहते हैं । तीसरे परिखंड में पश्चिम की ओर सदामद रहते हैं और चौथे परिखंड में चातुर्माहारजिक देव रहते हैं । इसी प्रकार शेष सात पर्वतों पर भी उक्त देवों का निवास है ।^{११}

जम्बूद्वीप में उत्तर की ओर बने कीयादि और उनके आगे हिमवान पर्वत अवस्थित है । हिमवान पर्वत से आगे उत्तर में पाँच सौ योजन विस्तृत अनवतस नाम का अगाध सरोवर है । इससे गंगा, सिंधु, वक्षु और सीता नाम की चार नदियाँ निकली हैं । इस सरोवर के समीप जम्बू-वृक्ष है, जिससे इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप पड़ा है । अनवतस-सरोवर के आगे गन्धमादक नाम का पर्वत है ।^{१२}

नरक लोक

जम्बूद्वीप के नीचे बीस हजार योजन विस्तृत अवीचि नाम का नरक है । उसके ऊपर क्रमशः प्रतापन, तपन, महारौरव, रौरव, संघात, कालसूत्र और संजीव नाम के सात नरक और हैं ।^{१३} इन नरकों के चारों पार्श्व-भागों में कुकूल, कुणप, क्षुर्मागादिक, (असिपत्रवन, श्यामसबलस्वस्थान अयः शाल्मलीवन) और खारोदक वाली वैतरणी नदी ये चार उत्सद हैं । अर्बुद, निर्बुद, अट्ट, उहहब, हुहूब, उत्पल, पद्म और महापद्म नाम वाले ये आठ शीत-नरक और हैं, जो जम्बूद्वीप के अधो-भाग में महानरकों के धरातल में अवस्थित हैं ।^{१४}

ज्योतिर्लोक

मेरू-पर्वत के अर्द्ध-भाग अर्थात् भूमि से चालीस हजार योजन ऊपर चन्द्र और सूर्य परिभ्रमण करते हैं । चन्द्र-मण्डल का प्रमाण पचास योजन और सूर्य-मण्डल का प्रमाण इक्यावन योजन है । जिस समय जम्बू-द्वीप में मध्याह्न होता है उस समय उत्तरकुरू में अर्धरात्रि, पूर्वविदेह में अस्तगमन और अवरगोदानीय में सूर्योदय होता है^{१५} । भाद्रमास के शुक्लपक्ष की नवमी से रात्रि की वृद्धि और फाल्गुन मास के शुक्ल-पक्ष की नवमी से उसके हानि का आरम्भ होता है । रात्रि की वृद्धि, दिन की हानि और रात्रि की हानि, दिन की वृद्धि होती है । सूर्य के दक्षिणायन में रात्रि की वृद्धि और उत्तरायण में दिन की वृद्धि होती है ।^{१६}

स्वर्गलोक

मेरू के शिखर पर त्रयस्त्रिंश (स्वर्ग) लोक है । इसका विस्तार अस्सी हजार योजन है । यहाँ पर त्रयस्त्रिंश देव रहते हैं । इसका चारों विदिशाओं में

वज्रपाणी देवों का निवास है ।^{२९} त्रयास्त्रिंशलोक के मध्य में सुदर्शन नाम का नगर है, जो सुवर्णमय है । इसका एक-एक पार्श्व भाग ढाई हजार योजन विस्तृत है । उसके मध्य-भाग में इन्द्र का अढाई सौ योजन विस्तृत वैजयन्त नामक प्रासाद है । नगर के बाहरी भाग में चारों ओर चैत्ररथ, पारुष्य, मिश्र और नन्दन ये चार वन हैं ।^{३०} इनके चारों ओर बीस हजार योजन के अन्तर से देवों के क्रीडा-स्थल हैं ।^{३१}

त्रयास्त्रिंश-लोक के ऊपर विमानों में याम, तुषित, निर्माणरति, और परिनिर्मित-वशवर्ती देव रहते हैं । कामधातुगत देवों में से चातुर्माहाराजिक और त्रयास्त्रिंश देव मनुष्य के समान कामसेवन करते हैं । याम, तुषित, निर्माणरति, परिनिर्मितवशवर्ती देव क्रमशः आर्लिंगन, पाणिसंयोग, हसित और अवलोकन से ही तुषि को प्राप्त होते हैं ।^{३०}

कामधातु के ऊपर सतरह स्थानों से संयुक्त रूपधातु हैं । वे सतरह स्थान इस प्रकार हैं । प्रथम स्थान में ब्रह्मकायिक, ब्रह्म-पुरोहित, और महाब्रह्म लोक हैं । द्वितीय स्थान में परिताभ, अप्रभाणाभ, और आभस्वर लोक हैं । तृतीय स्थान में परित्तशुभ, अप्रमाणशुभ और शुभकृतस्त्र लोक हैं । चतुर्थ स्थान में अनभ्रक, पुण्यप्रसव, बृहद्फल, पंचशुद्धावासिक, अवृह, अतप, सुदृश-सुदर्शन और अकनिष्ठ नाम वाले आठ लोक हैं । ये सभी देवलोक क्रमशः ऊपर-ऊपर अवस्थित हैं । इनमें रहने वाले देव ऋद्धि-बल अथवा अन्य देव की सहायता से ही अपने से ऊपर के देव-लोक को देख सकते हैं ।^{३१}

जम्बूद्वीपस्थ मनुष्यों का शरीर साढ़े तीन या चार हाथ पूर्व विदेहवासियों का ७-८ हाथ, गोदानीय द्वीपवासियों का १४-१६ हाथ और उत्तर-कुरुस्थ मनुष्यों का शरीर २८, ३२ हाथ ऊँचा होता है । कामधातुवासी देवों में चातुर्माहाराजिक देवों का शरीर १/४ कोश, त्रयास्त्रिंशों का १/२ कोश यामों का ३१४ कोश, तुषितों का १ कोश, निर्माणरति देवों का १ १/४ कोश और परिनिर्मितवशवर्ती देवों का शरीर १ १/२ कोश ऊँचा है । आगे ब्रह्मपुरोहित, महाब्रह्म, परिताभ, अप्रभाणाभ, आभस्वर, परित्तशुभ, अप्रमाणशुभ और शुभकृतस्त्र देवों का शरीर क्रमशः १, १ १/२, २, ४, ८, १६, ३२ और ६४ योजन प्रमाण ऊँचा है । अनभ्र देवों का शरीर १२५ योजन ऊँचा है । अनभ्र देवों के शरीर उत्तरोत्तर दूनी ऊँचाई वाले हैं ।^{३२}

क्षेत्र-माप

बौद्ध ग्रन्थों में योजन का प्रमाण इस प्रकार बतलाया गया है^{२३} :-

७ परमाणु	=	१ अणु
७ अणु	=	१ लौहरज
७ लोहरज	=	१ जलरज
७ जलरज	=	१ शशरज
७ शशरज	=	१ मेषरज
१ मेषरज	=	१ गोरज
७ गोरज	=	१ छिद्ररज
७ छिद्ररज	=	१ लिखा (लीखं)
७ लिखा	=	१ यव
७ यव	=	१ अंगुलीपर्व
२४ अंगुलीपर्व	=	१ हस्त
४ हस्त	=	१ धनुष
५०० धनुष	=	१ कोश
८ कोश	=	१ योजन

काल-माप

बौद्ध ग्रन्थों में काल का प्रमाण इस प्रकार बतलाया गया है^{२४} :-

१२० क्षण	=	१ तत्क्षण
६० तत्क्षण	=	१ लव
३० लव	=	१ मुहूर्त
६० मुहूर्त	=	१ अहोरात्रि
३० अहोरात्र	=	१ मास
१२ मास	=	१ संवत्सर

कल्पों के अन्तरकल्प, संवर्तकल्प और महाकल्प आदि अनेक भेद बतलाये गये हैं।^{३५}

तुलना और समीक्षा

बौद्धों ने दस लोक माने हैं—नरकलोक, प्रेतलोक, तिर्यकलोक, मनुष्यलोक और ६ देवलोक।^{३६} छह देवलोकों के नाम इस प्रकार हैं—चातुर्महाराजिक, त्रयास्त्रिंश, याम, तुषित, निर्माणरति और परनिर्मितवरावर्ती। प्रेतों को जैनो ने देवयौनिक माना है। अतएव इसे उक्त ६ देवलोकों में अन्तर्गत करने पर नरक तिर्यकलोक, मनुष्य और देव, ये चार लोक ही सिद्ध होते हैं, जो कि जैनाभिमत चारों गतियों का स्मरण कराते हैं।

बौद्धों ने प्रेत-योनि को एक पृथक गति मानकर पाँच गतियाँ स्वीकार की हैं। यथा—

नरकादिस्वनामोक्ता गतयः पंच तेषु ताः (अभिधर्मकोश ३, ४)

ऊपर बतलाये देवों में से चातुर्महाराजिक देव-इन्द्र का, तुषित-लौकान्तिक देवों का, त्रयास्त्रिंश देवों का तथा शेष भेद व्यन्तर-देवों का स्पष्ट रूप से स्मरण कराते हैं।

जैनों के समान बौद्धों ने भी देवों और नारकी जीवों को औपपातिक जन्म वाला माना है। यथा :-

नारका उपपादुकाः अन्तरा भव देवश्च ।

(अभि. कोश, ३.५)

बौद्धों ने भी जैनों के समान नारकी जीवों का उत्पन्न होने के साथ ही उर्ध्वपाद और अधोमुख होकर नरक-भूमि में गिरना माना है। यथा :-

एते पतन्ति निरय उद्धपादा अवंसिरा (सुत्तनिपात)

(ऊर्ध्वपादास्तु नारकाः) (अभिधर्मकोष १३, १५) ।

तिर्यचो विषयक हिन्दु-बौद्ध-जैन मान्यता

इस प्रकार हिन्दु, जैन और बौद्ध मान्यतानुसार लोक का वर्णन किया गया है। अब मनुष्य एवं तिर्यञ्च जीवों के निवास स्थान का वर्णन प्रस्तुत किया जा

रहा है ।

जैन धर्म में जैसे स्वर्ग-नरक की कल्पना है । उसी प्रकार अन्य धर्मों में स्वर्ग-नरक की कल्पना देखेंगे । स्वर्ग और नरक ये दोनों जीव के मृत्यु के बाद का लोक । मृत्युपरान्त जीव की जो विविध गतियाँ होती हैं, उनमें देव, प्रेत, और नारक ये तीनों अप्रत्यक्ष हैं । वैदिकों, जैनों और बौद्धों की देव, प्रेत एवं नारकियों संबंधी कल्पनाओं का यहाँ निरूपण किया जाएगा । मनुष्य और तिर्यञ्च योनियाँ तो सबको प्रत्यक्ष हैं, अतः इनके विषय में विशेष विचार करने की आवश्यकता नहीं रहती । भिन्न-भिन्न परंपराओं में इस संबंध में जो वर्गीकरण किया गया है, उसका उल्लेख इस प्रकरण में करेंगे ।

स्वर्ग-नरक ये परलोक की परिकल्पना है । कर्म और परलोक विचार ये दोनों परस्पर इस प्रकार सम्बन्धित हैं कि, एक के अभाव में दूसरे की संभावना नहीं । जब तक कर्म का अर्थ केवल प्रत्यक्ष क्रिया ही किया जाता था, तब तक उसका फल भी प्रत्यक्ष ही समझा जाता था । जिस तरह बालक पूर्वजन्म के संस्कार अथवा कर्म अपने साथ लेकर आता है, अतः इस जन्म में कोई कर्म न करने पर भी वह सुख-दुःख का भागी बनता है । इस कल्पना के बल पर प्राचीन काल से लेकर आज तक के धार्मिक गिने जाने वाले पुरुषों ने अपने सदाचार में निष्ठा और दुराचार की हेयता स्वीकार की है । उन्होंने मृत्यु के साथ ही जीवन का अंत नहीं माना, किन्तु जन्म-जन्मान्तर की कल्पना कर इस आशा से सदाचार में निष्ठा स्थिर रखी है कि, कृत-कर्म का फल कभी तो मिलेगा ही, और उन्होंने परलोक के विषय भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ की हैं ।

वैदिक-परंपरा में देवलोक और देवों की कल्पना प्राचीन है, किन्तु वेदों में इस कल्पना को बहुत समय बाद स्थान मिला कि देवलोक मनुष्य की मृत्यु के बाद का परलोक है । नरक और नारकों संबंधी कल्पना तो वेद में सर्वथा अस्पष्ट है । विद्वानों ने यह बात स्वीकार की है कि, वैदिकों ने परलोक एवं पुनर्जन्म की जो कल्पना की है, उसका कारण वेद-बाह्य प्रभाव^{३०} है ।

जैनों ने जिस प्रकार कर्म-विद्या को एक शास्त्र का रूप दिया, उसी प्रकार इस विद्या से अविच्छिन्नरूपेण सम्बन्धित परलोक-विद्या को भी शास्त्र का रूप प्रदान किया । यही कारण है कि जैनों की देव एवं नारक सम्बन्धी कल्पना में व्यवस्था और एक-सूत्रता है । आगम से लेकर आज तक के रचित जैन-साहित्य

में देवों और नारकों के वर्णन-विषयक महत्वहीन अपवादों की उपेक्षा करने पर मालूम होगा कि उसमें लेशमात्र भी विवाद दृग्गोचर नहीं होता। बौद्ध-साहित्य के पढ़ने वाले पग-पग पर यह अनुभव करते हैं कि बौद्धों में यह विद्या बाहर से आई है। बौद्धों के प्राचीन सूत्र-ग्रन्थों में देवों अथवा नारकों की संख्या में एकरूपता नहीं है। यही नहीं, देवों के अनेक प्रकार के नामों में वर्गीकरण तथा व्यवस्था का भी अभाव है, परन्तु अभिधम्म-काल में बौद्धधर्म में देवों और नारकों की सुव्यवस्था हुई थी। यह बात भी स्पष्ट है कि, प्रेतयोनि जैसी योनि की कल्पना बौद्ध-धर्म अथवा उसके सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं है, फिर भी लौकिक व्यवहार के कारण उसे मान्यता प्राप्त हुई।^{३८}

वैदिक स्वर्ग-नरक

इस लोक में जो मनुष्य शुभ कर्म करते हैं, वे मरकर स्वर्ग में यमलोक पहुँचते हैं। यह यमलोक प्रकाश-पुंज से व्याप्त है। वहाँ उन लोगों को अन्न और सोम पर्याप्त मात्रा में मिलता है एवं उनकी सभी कामनाएँ पूर्ण होती हैं।^{३९} कुछ व्यक्ति विष्णु^{४०} अथवा वरुणलोक^{४१} में जाते हैं। वरुणलोक सर्वोच्च स्वर्ग^{४२} है। वरुणलोक में जानेवाले मनुष्य की सभी त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं और वह वहाँ देवों के साथ मधु, सोम, अथवा घृत का पान करता है।^{४३} वहाँ रहते हुए उसे अपने पुत्रादि द्वारा श्राद्ध-तर्पण में अर्पित पदार्थ भी मिल जाते हैं। यदि उसने स्वयं इष्टापूर्त (बावड़ी, कुंआ, तालाब आदि जलस्थान) किया हो, तो उसका फल भी उसे स्वर्ग में मिल जाता है।^{४४}

वैदिक आर्य आशावादी, उत्साही और आनन्द-प्रिय लोग थे। उन्होंने जिस प्रकार के स्वर्ग की कल्पना की है, वह उनकी विचारधारा के अनुकूल ही है। यही कारण है कि, उन्होंने प्राचीन ऋग्वेद में पापी आदमियों के लिए नरक जैसे स्थान की कल्पना नहीं की। दास तथा दस्यु जैसे लोगों को आर्य लोग अपना शत्रु समझते थे, उनके लिए भी उन्होंने नरक की कल्पना नहीं की, किन्तु देवों से यह प्रार्थना की है कि वे उनका सर्वथा नाश कर दें। मृत्यु के बाद उनकी क्या दशा होती है, इस विषय में उन्होंने कुछ भी विचार नहीं किया।

ऐसी कल्पना है कि जो पुण्यशाली व्यक्ति मर कर स्वर्ग में जाते हैं, वे सदा के लिए वहीं रहते हैं। वैदिक काल में यह कल्पना नहीं की गई थी कि, पुण्य का क्षय होने पर वे पुनः मर्त्यलोक में वापिस आ जाते हैं। हाँ, बाह्यण-

काल में इस मान्यता का अस्तित्व था ।^{१५}

वैदिक असुरादि :-

सामान्यतः देवों और मनुष्यों के शत्रुओं को वेद में असुर, राक्षस, पिशाच आदि नाम-से प्रतिपादित किया गया है । पणि और वृत्र इन्द्र के शत्रु थे, दास और दस्यु आर्य प्रजा के शत्रु थे । किन्तु दस्यु शब्द का प्रयोग अन्तरिक्ष के दैत्यों अथवा असुरों के अर्थ में भी किया गया है और दस्युओं को वृत्र के नाम से भी वर्णित किया गया है । वृत्र, पणि, असुर, दस्यु, दास, नाम की कई जातियाँ थीं । उन्हें ही कालान्तर में राक्षस, दैत्य, असुर, पिशाच का रूप दिया गया । वैदिक काल के लोग उनके नाश के निमित्त देवों से प्रार्थना किया करते थे ।

वैदिक देव और देवियाँ :-

वेदों में वर्णित अधिकतर देवों की कल्पना प्राकृतिक वस्तुओं के आधार पर की गई है ।^{१६} प्रारम्भ में अग्नि जैसे प्राकृतिक पदार्थों को ही देव माना गया था, किन्तु धीरे-धीरे अग्नि आदि तत्त्व से पृथक् अग्नि आदि देवों की कल्पना की गई । कुछ ऐसे भी देव हैं, जिनका प्रकृतिगत किसी वस्तु से सरलता-पूर्वक संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता, जैसे कि वरुण आदि । कुछ देवताओं का संबंध क्रिया से है, जैसे कि त्वष्टा, धाता, विधातादि । देवों के विशेषण-रूप में जो शब्द लिखे गए, उनके आधार पर उन नामों के स्वतंत्र देवों की भी कल्पना की गई, जैसे कि विश्वकर्मा इन्द्र का विशेषण था, किन्तु इस नाम का स्वतंत्र देव भी माना गया । यही बात प्रजापति के विषय में हुई । इसके अतिरिक्त मनुष्य के भावों पर देवत्व का आरोप करके भी कुछ देवों की कल्पना की गई है, जैसे कि मन्यु, श्रद्धा आदि । इस लोक के कुछ मनुष्य, पशु और जड़ पदार्थ भी देव माने गए हैं, जैसे कि मनुष्यों में प्राचीन ऋषियों में से मनु, अथर्वा, दध्यच, अत्रि, कण्व, वत्स और काव्य उषणा । पशुओं में दधिक्रां सदृश घोड़े में दैवी भाव माना गया है । जड़-पदार्थों में पर्वत, नदी जैसे पदार्थों को देव कहा गया है ।

देवों की पत्नियों की भी कल्पना की गई है जैसे कि इन्द्राणी आदि । कुछ स्वतंत्र देवियाँ भी मानी गई हैं, जैसे कि उषा, पृथ्वी, सरस्वती, रात्रि, वाक्, अदिति आदि ।

वेदों में इस विषय में एक मत नहीं है कि भिन्न-भिन्न देव अनादिकाल से हैं या वे किसी समय उत्पन्न हुए हैं। प्राचीन कल्पना यह थी कि, वे द्यु और पृथ्वी की सन्तान हैं। उषा को देवताओं की माता^{५०} कहा गया है, किन्तु वह बाद में स्वयं द्यु की पुत्री मानी^{५१} गई।

अदिती और दक्ष को भी देवताओं के माता-पिता माना गया है।^{५२} अन्यत्र सोम को अग्नि, सूर्य, इन्द्र, विष्णु, द्यु और पृथ्वी का जनक कहा गया है। कई देवताओं के परस्पर पिता-पुत्र के संबंध का भी वर्णन है। इस प्रकार ऋग्वेद में देवताओं की उत्पत्ति के संबंध में एक निश्चित मत उपलब्ध नहीं होता। सामान्यतः सभी देवों के विषय में ये उल्लेख मिलते हैं कि वे कभी उत्पन्न हुए। अतः हम कह सकते हैं कि वे न तो अनादि हैं और न स्वतः सिद्ध। ऋग्वेद में बार-बार उल्लेख किया गया है, कि देवता अमर हैं, परन्तु सभी देवता अमर हैं अथवा अमरता उनका स्वाभाविक धर्म है, यह बात स्वीकार नहीं की गई। वहाँ ये उल्लेख प्राप्त हैं कि, सोम का पान कर देवता अमर बनते हैं। यह भी कहा गया है कि, अग्नि और सविता देवताओं को अमरत्व अर्पित करते हैं।

एक और देवताओं की उत्पत्ति में पूर्वापर-भाव^{५३} का वर्णन किया गया है और दूसरी ओर यह लिखा गया है कि, देवों में कोई बालक अथवा कुमार नहीं, सभी समान^{५४} हैं। यदि शक्ति की दृष्टि से विचार किया जाये तो देवों में दृष्टिगोचर होने वाले वैषम्य की सीमा नहीं है, किन्तु एक बात की सभी में समानता है, और वह है उनकी परोपकार वृत्ति। मगर यह वृत्ति आर्यों के लिए ही स्वीकार की गई है, दास या दस्युओं के विषय में नहीं। देवता यज्ञ करने वाले को सभी प्रकार की भौतिक सम्पत्ति देने में समर्थ हैं, वे समस्त विश्व के नियामक हैं और अच्छे व बुरे कामों पर दृष्टि रखने वाले हैं। किसी भी मनुष्य में यह शक्ति नहीं है कि वह देवताओं की आज्ञा का उल्लंघन कर सके। जब उनके नाम से यज्ञ किया जाता है, तब वे द्युलोक से रथ पर चढ़कर चलते हैं और यज्ञ-भूमि में आकर बैठते हैं। अधिकांश देवों का निवास स्थान द्युलोक है और वे वहाँ सामान्यतः मिल जुलकर रहते हैं। वे सोमरस पीते हैं और मनुष्यों जैसे आहार करते हैं। जो यज्ञ द्वारा उन्हें प्रसन्न करते हैं, वे उनकी सहानुभूति प्राप्त करते हैं। किन्तु जो व्यक्ति यज्ञ नहीं करते, वे उनके तिरस्कार के पात्र बनते हैं। देवता नीति-सम्पन्न हैं, सत्यशील हैं, वे धोखा नहीं देते। वे प्रामाणिक और चरित्रवान् मनुष्यों की रक्षा करते हैं, उदार और पुण्यशाली व्यक्तियों तथा उनके कृत्यों का बदला चुकाते

है, किन्तु पापी को दण्ड देते हैं। देव जिस व्यक्ति के मित्र बन जाएँ, उसे कोई भी हानि नहीं पहुँचा सकता। देवता अपने भक्तों के शत्रुओं का नाश कर उनकी सम्पत्ति अपने भक्तों को सौंप देते हैं। सभी देवों में सौंदर्य, तेज और शक्ति है। सामान्यतः देव स्वयं ही अपने अधिपति हैं, अर्थात् वे अहमिन्द्र हैं। ऋषियों ने जिस देव की स्तुति की है, फलतः वह उसे प्रसन्न करने के लिए है, अतः स्वाभाविक है कि उसके अधिक से अधिक गुणों का वर्णन किया जाय। अतः प्रत्येक देव में सर्वसामर्थ्य स्वीकार किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि, बाद में यज्ञ के लिए सब देवों की महत्ता समान रूप से स्वाकार की गई। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'—^{५२} विद्वान् एक ही तत्त्व का नाना प्रकार से कथन करते हैं—यह मान्यता दृढ़ हो गई। फिर भी यज्ञ-प्रसंग में व्यक्तिगत देवों के प्रति निष्ठा कभी भी कम नहीं हुई। भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न देवों के नाम से यज्ञ होते रहे। इसलिए हमें यह बात माननी पड़ती है कि, ऋग्वेद-काल में किसी एक ही देव का अन्य देवों की अपेक्षा अधिक महत्त्व नहीं था। ऋग्वेद काल में एक देव के स्थान पर दूसरे देव को अधिष्ठित कर देने की कल्पना करना असंगत है।^{५३}

सभी देव द्युलोक-निवासी नहीं हैं। वैदिकों ने लोक के जो तीन विभाग किए हैं, उनमें उनका निवास है। द्युलोकवासी देवों में द्यो, वरुण, सूर्य, मित्र, विष्णु, दक्ष, आश्विनो आदि का समावेश है। अन्तरिक्ष में निवास करने वाले देव ये हैं—इन्द्र, मरुत, रूद्र, पर्जन्य, आपः आदि। पृथ्वी पर अग्नि, सोम, बृहस्पति आदि देवों का निवास है।

उपनिषदों में स्वर्ग :-

बृहदारण्यक में आनंद की तरतमता का वर्णन है। उसके आधार पर मनुष्यलोक से ऊपर के लोक के विषय में विचार किया जा सकता है। उसमें कहा गया है कि स्वस्थ होना, धनवान होना, दूसरों की अपेक्षा उच्च पद प्राप्त करना, अधिक से अधिक सांसारिक वैभव होना, ये ऐसे आनन्द हैं जो इस संसार में मनुष्य के लिए महान् से महान् हैं। पितृलोक में जाने वाले पितरों को इस संसार के आनंद की अपेक्षा सौ गुना अधिक आनन्द मिलता है। गन्धर्वलोक में उससे भी सौगुना अधिक आनंद है। पुण्य-कर्म द्वारा देवता बने हुए लोगों का आनंद गन्धर्वलोक से सौ-गुना ज्यादा है। सृष्टि की आदि में जन्म लेने वाले देवों का आनन्द इन देवों की अपेक्षा सौ-गुना अधिक है। प्रजापति-लोक में

इस आनन्द से भी सौ-गुना और ब्रह्मलोक में उससे भी सौ-गुना अधिक आनन्द होता है । ब्रह्मलोक का आनन्द सर्वाधिक है ।^{५४}

उपनिषदों में नरक :-

ऋग्वेद-काल के आर्यों ने पापी पुरुषों के लिए नरक-स्थान की कल्पना नहीं की थी, किन्तु उपनिषदों में यह कल्पना विद्यमान है । नरक कहाँ है ? इस विषय में उपनिषद् मौन है, किन्तु उपनिषदों के अनुसार नरक लोक अन्धकार से आवृत्त है, उसमें आनन्द का नाम भी नहीं है । इस संसार में अविद्या के उपासक मरणोपरान्त नरक को प्राप्त होते हैं । आत्मघाती पुरुषों के लिए भी यही स्थान है और अविद्वान् की भी मृत्युपरान्त यही दशा है । बूढ़ी गाय का दान देने वालों की भी यही गति होती है । यही कारण है कि नचिकेता जैसे पुत्र को अपने उस पिता के भविष्य के विचार ने अत्यन्त दुःखी किया जो बूढ़ी गायों का दान कर रहा था । उसने सोचा कि, मेरे पिता इनके बदले मुझे ही दान में क्यों^{५५} नहीं दे देते ?

उपनिषदों में इस विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि, ऐसे अन्धकारमय लोक में जाने वाले जीव सदा के लिए वहीं रहते हैं अथवा वहाँ से उनका छुटकारा भी हो जाता है ।

पौराणिक स्वर्ग :-

वैदिक मान्यतानुसार तीनों लोकों में देवों का निवास है । पौराणिक-काल में भी इसी मत का समर्थन किया गया । योगदर्शन के व्यास-भाष्य^{५६} में उल्लेख है कि, पाताल, जलधि(समुद्र) तथा पर्वतों में असुर, गन्धर्व, किन्नर, किंपुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अपस्मारक, अप्सरस, ब्रह्मराक्षस, कुष्माण्ड, विनायक नाम के देव-निकाय निवास करते हैं । भूलोक के समस्त द्वीपों में भी पुण्यात्मा देवों का निवास है । सुमेरू पर्वत पर देवों की उद्यान भूमियाँ हैं, सुधर्मा नामक देवसभा है, सुदर्शन नामा नगरी है और उसमें वैजयन्त प्रासाद है । अन्तरिक्ष लोक के देवों में ग्रह, नक्षत्र और तारों का समावेश है । स्वर्ग लोक में महेन्द्र में छह देव-निकायों का निवास है-त्रिदश, अग्निष्वात्ता, याम्या, तुषित, अपरिनिर्मितवशवर्ती, परिनिर्मितवशवर्ती । इससे ऊपर महति लोक अथवा प्रजापति लोक में पाँच देव-निकाय हैं-कुमुद, ऋभु, प्रतर्दन, अंजनाभ, प्रचिताभ । ब्रह्मा के प्रथम जनलोक में चार देव निकाय हैं- ब्रह्म-पुरोहित, ब्रह्म-कायिक, ब्रह्म-

महाकायिक, अमर । ब्रह्मा के द्वितीय तपोलोक में तीन देव-निकाय हैं-आभास्वर, महाभास्वर, सत्यमहाभास्वर । ब्रह्मा के तृतीय सत्यलोक में चार देव-निकाय हैं-अच्युत, शुद्ध निवास, सत्याभ, सज्ञासंज्ञी ।

इन सब देवलोकों में बसने वालों की आयु दीर्घ होते हुए भी परिमित है । कर्म-क्षय होने पर उन्हें नया जन्म धारण करना पड़ता है ।

पौराणिक नरक :-

नरक के विषय में पुराणकालीन वैदिक परंपरा में कुछ विशेष विवरण मिलते हैं । बौद्ध और जैन मत के साथ उनकी तुलना करने पर ज्ञात होता है कि यह विचारणा तीनों परम्पराओं में समान ही थी ।^{१७}

योगदर्शन व्यास-भाष्य में सात नरकों के ये नाम बताए गए हैं-महाकाल, अम्बरीष, रौख, महारौख, कालसूत्र, अन्धतामिरव, अवीचि । इन नरकों में जीवों को अपने किए हुए कर्मों के कटुफल मिलते हैं और वहाँ जीवों की आयु भी लम्बी^{१८} होती है । अर्थात् दीर्घकाल तक कर्म का फल भोगने के बाद ही वहाँ से जीव का छुटकारा होता है, ऐसी मान्यता सिद्ध होती है । ये नरक हमारी अपनी भूमि और पाताल लोक के नीचे अवस्थित^{१९} हैं ।

भाष्य की टीका में नरकों के अतिरिक्त कुम्भीपाकादि उपनरकों की कल्पना को भी स्थान प्राप्त हुआ है । वाचस्पति ने इनकी संख्या अनेक बताई है किन्तु भाष्यवार्तिककार ने इसे अनन्त कहा है ।

भागवत में नरकों की संख्या सात के स्थान पर ८ बताई है और उनमें प्रथम २१ के नाम ये हैं-तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौख, महारौख, कुम्भीपाक, कालसूत्र, असिपत्रवन, सूकरमुख, अन्धकूप, कृमि-भोजन, संदेश, वज्रकण्टकशाल्मली, वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभाक्ष, सारमेयादन, अवीचिन तथा अयःपान ।^{२०} इसके अतिरिक्त कुछ लोगों के मतानुसार अन्य सात नरक भी हैं- क्षार-कर्दम, रक्षोगण-भोजन, शूलप्रोत, दन्दशूक, अवटनिरोधक, पर्योवर्तन और सूची सूचीमुख । इनमें अधिकतर नाम ऐसे हैं इससे यह ज्ञात हो जाता है कि उन नरकों में जीवों को किस प्रकार के कष्ट हैं ।

बौद्ध धर्म-परंपरा में स्वर्ग-नरक :-

भगवान् बुद्ध ने अपने धर्म को इसी लोक में फल देने वाला माना था और उनके उपलब्ध प्राचीन उपदेश में स्वर्ग, नरक संबंधी विचारों को स्थान ही

नहीं थी। यदि कभी कोई जिज्ञासु ब्रह्मलोक जैसे परोक्ष विषय के संबंध में प्रश्न करता, तो भगवान् बुद्ध सामान्यतः उसे समझाते कि, परोक्ष-पदार्थों के विषय में चिन्ता नहीं करनी चाहिए^{६१}। वे प्रत्यक्ष दुःख, उसके कारण और दुःख-निवारक मार्ग का उपदेश करते। परन्तु जैसे जैसे उनके उपदेश एक धर्म और दर्शन के रूप में परिणत हुए, वैसे-वैसे आचार्यों को स्वर्ग-नरक आदि समस्त परोक्ष पदार्थों का भी विचार करना पड़ा और उन्हें बौद्ध-धर्म में स्थान देना पड़ा। बौद्ध-पण्डितों ने कथाओं की रचना में जो कौशल दिखाया है, वह अनुपम है। उनका लक्ष्य सदाचार और नीति की शिक्षा प्रदान करना था। उन्होंने अनुभव किया कि, स्वर्ग के सुखों और नरक के दुःखों के कलात्मक वर्णन के समान अन्य कोई ऐसा साधन नहीं है जो सदाचार में निष्ठा उत्पन्न कर सके। अतः उन्होंने इस ध्येय को सन्मुख रखते हुए कथाओं की रचना की, उन्हें इस विषय में अत्यन्त महत्वपूर्ण सफलता भी प्राप्त हुई। इस आधार पर धीरे-धीरे बौद्ध-दर्शन में भी स्वर्ग, नरक संबंधी विचार व्यवस्थित होने लगे। निदान अभिधम्मकाल में हीनयान संप्रदाय में उनका रूप स्थिर हो गया, किन्तु महायान संप्रदाय में उनकी व्यवस्था कुछ भिन्नरूप से हुई।

बौद्ध अभिधम्म^{६२} में सत्त्वों का विभाजन इन तीन भूमियों में किया गया है—कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर। उनमें नारक, तिर्यच, प्रेत असुर ये चार कामावचर भूमियाँ अपायभूमि हैं, अर्थात् उनमें दुःख की प्रधानता है। मनुष्यों तथा चातुम्महारजिक, तावर्तिस, याम, तुसित, निम्मानरति, परिनिम्नितवसवत्ति नाम के देव-निकायों का समावेश काम-सुगति नाम की कामवचर भूमि में है। उनमें कामभोग की प्राप्ति होती है, अतः चित्त चंचल रहता है।

रूपावचर भूमि में उत्तरोत्तर अधिक सुखवाले सोलह देव निकायों का समावेश है, जिसका विवरण इस प्रकार है :-

प्रथम ध्यान-भूमि में -१. ब्रह्मपारिसज्ज, २. ब्रह्मपुरोहित, ३. महाब्रह्म
द्वितीय ध्यान-भूमि में -४. परित्ताभ, ५. अप्पमाणाभ, ६. आभस्सर
तृतीय ध्यान-भूमि में -७. परित्तसुभा, ८. अप्पमाणसुभा, ९. सुभकिण्हा
चतुर्थ ध्यान-भूमि में -१०. वेहप्फला, ११. असञ्जसत्ता, १२-१६ पाँच प्रकार के सुद्धावास।

सुद्धावास के ये पाँच भेद हैं—१२. अविहा, १३. अतप्पा, १४. सुदस्सा, १५. सुदस्सी, १६. अकनिट्टा ।

अरूपावचर भूमि में उत्तरोत्तर अधिक सुख वाली चार भूमि है—

१. आकासानयायतन भूमि
२. वित्राणञ्जायतन भूमि
३. अर्किचञ्जायतन भूमि
४. नेवसञ्जानासञ्जायतन भूमि

अभिधम्मत्थ-संग्रह में नरको की संख्या नहीं बताई गई है, किन्तु मज्झिमनिकाय में उन विविध कष्टों का वर्णन है जो नारकों को भोगने पड़ते हैं । (बालपण्डित-सुत्तन्त-१२९ देखें)

जातक (५३०)में ये आठ नरक बताए गए हैं—संजीव, कालसुत्त, संघात, जालरोव, धूमरोरूव, तपन, प्रतापन, अवीचि । महावस्तु (१, ४) में उक्त प्रत्येक नरक के १६ उत्सद (उपनरक) स्वीकार किए गए हैं । इस तरह सब मिलकर १२८ नरक हो जाते हैं । किन्तु पंचगति-दीपनी नामक ग्रन्थ में प्रत्येक नरक के चार उत्सद बताए हैं—माल्हकूप, फुक्कुल, असिपत्तवन, नदी (वेतरणी)^{६३} ।

बौद्धों ने देवलोक के अतिरिक्त प्रेतयोनि भी स्वीकार की है । इन प्रेतों की रोचक कथाएँ पेतवत्थु नाम के ग्रन्थ में दी गई हैं ।

सामान्यतः प्रेत विशेष प्रकार के दुष्कर्मों को भोगने के लिए उस योनि में उत्पन्न होते हैं । इन दोषों में इस प्रकार के दोष है—दान देने में ढील करना, योग्य रीति से श्रद्धा-पूर्वक न देना । दीघनिकाय के आटानाटिय सुत्त में निम्नलिखित विशेषणों द्वारा प्रेतों का वर्णन किया गया है—चुगलखोर, खूनी, लुब्ध, चोर, दगाबाज आदि: अर्थात् ऐसे लोग प्रेतयोनि में जन्म ग्रहण करते हैं । पेतवत्थु ग्रंथ से भी इस बात का समर्थन होता है ।

पेतवत्थु के आंरभ में ही यह बात कही गई है कि, दान करने से दाता अपने इस लोक का सुधार करने के साथ-साथ प्रेतयोनि को प्राप्त अपने संबधियों के भव का उद्धार करता है ।

प्रेत पूर्वजन्म के घर की दीवार के पीछे आकर खड़े रहते हैं । चौक में अथवा मार्ग के किनारे आकर भी खड़े हो जाते हैं । जहाँ महान् भोज की

व्यवस्था हो, वहाँ वे विशेष रूप से पहुँचते हैं। यदि जो लोग उनका स्मरण कर उन्हें कुछ नहीं देते, तो वे दुःखी होते हैं। जो उन्हें याद कर उन्हें देते हैं, वे उनका आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। क्योंकि प्रेतलोक में व्यापार अथवा कृषि की व्यवस्था नहीं है जिससे उन्हें भोजन मिल सके। उनके निमित्त इस लोक में जो कुछ दिया जाता है, उसीके आधार पर उनका जीवन-निर्वाह होता है। इस प्रकार के विवरण पेतवत्थु^{६४} में उपलब्ध होते हैं।

लोकान्तरिक नरक में भी प्रेतों का निवास है। वहाँ के प्रेत छह कोस ऊँचे हैं। मनुष्यलोक में निज्झामतण्ह जाति के प्रेत रहते हैं। इनके शरीर में सदा जलन होती रहती है। वे सदा भ्रमणशील होते हैं। इनके अतिरिक्त पालि ग्रंथों में खुप्पिपास, कालंकजक, उतूपजीवी नाम की प्रेत-जातियों का भी उल्लेख है।^{६५}

जैन-संमत स्वर्ग-नरक :-

जैनों ने समस्त संसारी जीवों का समावेश चार गतियों में किया है— मनुष्य, तिर्यञ्च, नारक तथा देव। मरने के बाद मनुष्य अपने कर्मानुसार इन चार गतियों में से किसी एक गति में भ्रमण करता है। जैन-संमत देव तथा नरकलोक के विषय में ज्ञातव्य बातें ये हैं—

जैन-मत में देवों के चार निकाय हैं—भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा वैमानिक।

भवनपति निकाय के देवों का निवास जम्बूद्वीप में स्थित मेरु पर्वत के नीचे उत्तर दक्षिण दिशा में है। व्यन्तर निकाय के देव तीनों लोकों में रहते हैं। ज्योतिष्क निकाय के देव मेरु पर्वत के समतल भूमिभाग से सात सौ नब्बे योजन की ऊँचाई से शुरू होने वाले ज्योतिश्चक्र में रहते हैं। यह ज्योतिश्चक्र वहाँ से लेकर एक सौ दस योजन परिमाण तक है। इस चक्र से भी ऊपर असंख्यात योजन की ऊँचाई के अन्तर उत्तरोत्तर एक दूसरे के ऊपर अवस्थित विमानों में वैमानिक देव रहते हैं।

भवनवासी निकाय के देवों के दस भेद हैं—असुरकुमार, नागकुमार, विद्युतकुमार, सुवर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार, और दिक्कुमार।

व्यन्तर निकाय के देवों के आठ प्रकार हैं-किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ।

ज्योतिष्क देवों के पाँच प्रकार हैं-सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्ण तारा ।

वैमानिक देव-निकाय के दो भेद हैं-कल्पोपपन्न, कल्पातीत । कल्पोपपन्न के बारह भेद हैं-सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण तथा अच्युत । एक मत सोलह भेद^{६६} स्वीकार करता है ।

कल्पातीत वैमानिकों में नव ग्रैवयक और पाँच अनुत्तर विमानों का समावेश है ।

नव ग्रैवयक के नाम :- सुदर्शन, सुप्रतिबद्ध, मनोरम, सर्वभद्र, सुविशाल, सुमनस, सौमनस, प्रियंकर, आदित्य ।

पाँच अनुत्तर विमानों के नाम ये हैं-विजय, वैजयन्त, जयन्त अपराजित सर्वार्थसिद्धि ।

इन सब देवों की स्थिति, भोग, सम्पत्ति, आदि का विस्तृत वर्णन प्रकरण ३ में किया है ।

जैन-मत में सात नरक माने हैं-रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा तथा महातमःप्रभा ।

ये सातों नरक उत्तरोत्तर नीचे-नीचे हैं और विस्तार में भी अधिक है । उनमें दुःख ही दुःख है । नरक परस्पर तो दुःख उत्पन्न करते ही है, इसके अतिरिक्त संक्लिष्ट असुर भी प्रथम तीन नरक भूमियों में दुःख देते हैं । नरक का विशद वर्णन प्रकरण ४ में दिया गया है ।

ईसाई धर्म के अंतर्गत प्लेटो और अरस्तु जैसे ग्रीक दार्शनिक यह स्वीकार करते हैं कि मृत्यु के पश्चात् भी जीवात्मा का अस्तित्व होता है, और उसके अनुसार स्थूल वातावरण मीनोई जहान में होती है ।^{६७}

वे यह स्वीकार करते हैं कि स्वर्ग इन्द्रियों को संतोष हो, ऐसा होता है । फिर भी वे विषयी या विलासी नहीं होते । वहाँ पहुँचने पर मनुष्य में पशुता रह नहीं सकती । मनुष्य वहाँ जा कर पूर्ण मनुष्यत्व को प्राप्त करता है । मार्क १२, २५ में स्वयं ईसा अपने प्रश्न-कर्ताओं को जवाब देते हैं कि मृत्यु के पश्चात्

की जिंदगी में मनुष्य लग्न नहीं करता किंतु स्वर्ग के फरिश्ते के समान जीवन व्यतीत करता है। ईसाई का स्वर्ग एक स्थान के रूप में वर्णित किया गया है। फिर भी 'नया करार' में स्वर्ग एक स्थान विशेष ही नहीं अपितु एक उच्च आत्मिक स्थिति हो ऐसा महसूस होता है। जो कि पवित्र मन धारण करेंगे, वे स्वर्ग में दिव्य सौंदर्य दर्शन निहार कर अवर्णनीय आनंद भोगेंगे। मेथ्यु के भागवत के १८ वें प्रकरण के १० वें श्लोक में कथन है कि-महात्मा ईशु छोटे बालकों की स्तुति करते हुए कहते हैं कि-स्वर्ग में उनके फरिश्ते मेरे पिता प्रभु का मुख सदा निहारते हैं।

इससे यह विदित होता की ईसाई धर्म श्रेय और नीति को बुद्धि की अपेक्षा श्रेष्ठ मान्य करते हैं। और स्वर्ग के फरिश्ते प्रभु को निर्मल बुद्धि रूप में नहीं परंतु परम पवित्रता के रूप में पूजते हैं। स्वर्ग में प्रभु की भक्ति सतत चालू रहती है।

इसके अतिरिक्त मि. हेरिस के मतानुसार स्वर्ग का दिव्य सौंदर्य दर्शन प्लेटो द्वारा कल्पित आदर्शमूर्ति विचारों से बहुत साम्य रखता है। प्रभु का स्वर्ग में होने वाला सतत चिंतन वह वस्तुतः एक महान् विचार पर होने वाले मनन जैसा ही है। उनका कथन है कि जब स्वर्गवासी आत्मा प्रभु में विलीन होता है, तब उसकी बुद्धि का भी अत्यन्त विकास होता है।

इस मत में यह स्वीकार किया गया है कि स्वर्ग की प्राप्ति मनुष्य को उसके गुण और पुण्य के कारण नहीं होती वरन् प्रभु की मर्जी और कृपा से ही होती है। जबकि जैन मत में इसके विपरीत स्वर्ग की प्राप्ति में जीव के गुण एवं पुण्य कर्म ही प्रधान कारण है।

ईसाई धर्म में जावेदान के स्वर्ग और नरक के विषय में वर्णन किया गया है। मेथ्यु २५, २६ में अनंत जीवन अर्थात् जावेदान के स्वर्ग विषयक संकेत है। और पुण्यशाली आत्माओं का वह धाम होगा, ऐसा उल्लेख है। ऐसा ही संकेत रोमन्स २, ७, और ५, २१ में भी है। रोमन्स में स्पष्टतः लिखा है कि पाप का बदला मौत तो है, परंतु ईश्वरीय कृपा यह अपने स्वामी ईशु द्वारा प्राप्त सनातन जीवन है। इसी प्रकार मेथ्यु २५, ४१ के अनुसार जो सवाबी कार्य नहीं करते वे शैतान और इसके इतों के लिये जो हमेंशा के लिये नरक की अग्नि तैयार की गई है, उसमें पड़ेंगे। इस अग्नि के विषय में मेथ्यु १८, ८ और मार्क

९, ४३ और ४५ में भी उल्लेख है ।

मार्क ३, २९ के अनुसार जो पवित्रात्मा की निंदा करते हैं, उसे कभी भी माफी नहीं मिलेगी और वह हमेशा नरकवासी होगा, ऐसा भय रहेगा । फिर भी जो ईशु ख्रिस्त का अनुयायी होगा तो वे उसे बचालेंगे, ऐसा अनेक स्थान पर उल्लेख है ।

इन सभी संदर्भों से यह भलीभांति ज्ञात होता है कि जो ईशु का अनुयायी है, उसे नरक गति में नहीं जाना पड़ेगा । जो उनका अनुयायी नहीं है, उनसे विमुख है, पापी है वही नरक में जाएगा ।

उनको प्रभु से दूर जावेदान के नरक में वास करना पड़ेगा ।

यहाँ ईसाई धर्म में स्वर्ग और नरक के विषय में उल्लेख तो प्राप्त होता है, तथा उसके कारणों पर भी प्रकाश पड़ता है, किन्तु स्वर्ग कहाँ है ? कैसा है ? वहाँ के लोग कैसे हैं ? कहाँ रहते हैं ? उनका शरीर आदि का वर्णन जैसे कि जैन मत में किया गया है, प्राप्त नहीं होता । तात्पर्य यहाँ यही है कि ईशु के कृपापात्र उनके अनुयायी स्वर्ग में तथा उनसे विमुख को नरक में जाना पड़ता है ।

स्वर्ग और नरक - जरथोशती धर्मानुसार

अन्य धर्मों के समान पैगम्बर जरथुशत्र भी यही स्वीकारते हैं कि-जैसी करणी-वैसी पार उतरनी । जैसा करोगे, वैसा भरोगे । हमम अपने आपको उच्च या निम्न दशा में ले जा सकते हैं । पैगम्बर जरथुशत्र या कोई ईसाइ या कोई अमेशास्पंद भी पापी मनुष्य का तारणहार या बचा नहीं सकता है । यहाँ यह मत जैन मत से साम्य रखता है कि गति कोई भी प्राणी को कर्मानुसार मिलती है, उसमें कोई ईश्वर या पुरुषोत्तम सहायक नहीं हो सकता ।^{६८}

इस मत में उल्लेख है कि जब जीव इस संसार से विदा होता है, तब वंदीदाद और दाहोख्त नरक के अनुसार जो यदि नेक मनुष्य होगा तो खुशबुदार और दिलखुश वातावरण में वह जाएगा और एक परीसूरत रूपसुंदरी के उसे दर्शन होंगे । पूछने पर पता चलेगा कि वह सुंदरी अन्य कोई नहीं, वह उस नेक मनुष्य का ही 'दअेना' अथवा अन्तःकरण है । वह उसके सुकृत्य का जोड़ है, उसके द्वारा की गई 'अषोई' का दिलपसंद स्वरूप है । वह खुशदीदार की

‘नोझनीन’ उसकी ‘गहबर’ बनकर ‘खुदाई इन्साफ’ की बैठक तक उसे ले जाती है ।^{६९}

इसके विपरीत पापी आत्मा दुर्गन्ध से आकुल व्याकुल होकर अंधकारमय मार्ग पर गिरता पड़ता आगे बढ़ता है । वहाँ उसकी नजर के सामने एक भयंकर बदसूरत डाकिन आकर उसे त्रास देती है । यह उसकी करनी का ही प्रतिबिम्ब है । पाप की परछाई है । वह मनुष्य अपनी ही करनी के मूर्त स्वरूप से घबरा कर वहाँ से भागने लगता है, किन्तु वह डरावनी स्त्री उसे छोड़ती नहीं है और यह उसका हाथ पकड़कर अहुरमझद का इन्साफ कराने के लिए उसे उस मालिक के दरबार में ले जाती है ।^{७०}

इस प्रकार यह सुंदर और बदसूरत स्त्री वह उस मृत्यु प्राप्त व्यक्ति की ‘किरदार’ अथवा ‘करणी’ कही जाती है । और मृत्यु के पश्चात् अपनी करनी भोगनी पड़ती है, उसका स्पष्ट आलंकारिक चितार है ।

चाहरम की बामदाद में ही मीनोई जहान में न्याय का कार्य शुरु होता है और अहुरमझद के नियुक्त किये हुए मेहेर, सरोश, और र्छे ईझदो (दैवी शक्तियाँ, फिरश्ते) के हाथ से ईन्साफ का कार्य शुरु होता है । इस इन्साफ का उल्लेख ‘दीनकर्द’ और ‘मीनोअेखेरद’ पश्चात्वर्ती साहित्य में मिलता है ।^{७१} सरोश जैसे ज्ञानी और बलवान् ईझद की पनाह के नीचे मेहेरदावर मुख्य न्यायाधीश बनते हैं । जब कि र्छे रास्त ईझद पाप सवाब का तौल करने को तराजु लेकर खड़े रहते हैं । मृत्यु प्राप्त का इन जहान में जो भले बुरे कार्य किये होते हैं, उसकी सूक्ष्म विगत पुस्तक में बेहमन अमेशास्पद (विशुद्ध मन दर्शाती एक महापवित्र दैवी शक्ति) रखती है । इन्साफ तौलने के समय पुस्तक प्रस्तुत किया जाता है । वह अंतिम न्याय संपूर्ण, अचूक और निष्पक्षपाती होता है ।^{७२}

एक मत के अनुसार मृत्युप्राप्त के कार्यों के अनुसार वह ब्हेश्त अर्थात् स्वर्ग एवं दोझख अर्थात् नरक के लायक है इसका निर्णय किया जाता है, तो अन्य मतानुसार प्रत्येक अच्छे या बुरे कार्यों का अलग अलग बदला उसे मिलता है ।^{७३}

मेहेर दावर, सरोश ईझद और र्छे रास्ते ईझद के हाथ से इन्साफ होने के पश्चात् वह जीव ‘चिनवत पुल’ के पास पहुँच जाता है । खाकी और मीनोई

दुनिया के बीच अनेक धर्मों में या तो नदियाँ या चिनवत जैसे पुलों की कल्पना की है। पापी जीव को वह चिनवत पुल छुरी की धार जैसा बारीक दिखाई देता है, जिसे देख वह कांप उठता है। उसका उल्लंघन करते हुए वह नीचे गिर पड़ता है, जहाँ दोझख-नरक दुःख, उसे भोगना पड़ता है। परंतु अषो मनुष्य अर्थात् पुण्यशाली जीव को वह चिनवत पुल नव नेजा की चौड़ाई वाला दिखाई देता है। सरोश आतर (अग्नि का फिरस्ता) और अपने ही अंतःकरण की रहबरी से वह सवाबी दिवंगत व्यक्ति उस पुल को सरलता से पार कर लेता है और स्वर्ग की शांति प्राप्त कर लेता है। चिनवत पुल पार करके स्वर्ग में जाना उसे 'पुलगुझार' होना कहा जाता है।^{१५}

यहां जैन मत से यह साम्य है कि जैन मत यह तो स्वीकार करता है कि सत्कार्य करने वाले पुण्यशाली को स्वर्ग तथा बहुत पाप करने वाले को नरक में जाना पड़ता है। किन्तु वहाँ जो चाहरम की बामदाद में जो इन्साफ किया जाता है, वैसी कोई व्यवस्था जैन मत स्वीकार नहीं करता। स्वर्ग और नरक में जाने के कारणों में समानता दृष्टिगत होती है।

अब स्वर्ग का वर्णन करते हैं कि जिसने वह पुल पसार कर लिया वह कहाँ जाता है? उसका उल्लेख है कि वह बहेशत में जाएगा। गाथा में एक ही बहेशत का बयान है और वह यह है 'गरोनमान' अथवा संगीत का मुकाम। परंतु अवेस्ता में हादोख्त नस्क के अनुसार बहेशत के चार तबक्के देने में आते हैं। पहला तबक्का वह हुमत (अच्छे विचार) का बहेशत। २. हुवत्त (अच्छे वचन) का बहेशत ३. हुवरशत (अच्छे कार्य) का बहेशत और अंतिम श्रेष्ठ मीनोई जगह वह 'गरोनमान', जहाँ अनघ्न २ ओच अथवा खुदा का अपार तेज झलक रहा है। सवाबी (पुण्यशाली) आत्माओं को स्वर्ग में बहेमन अमेशास्पंद (विशुद्ध मनरूपी फिरस्ते) हर्षभरा आवकार (सन्मान) देने को हाजिर रहता है। पहलवी शास्त्रों में तो और भी अधिक कहा गया है कि पहले बहेशत को सितम्पाये का, दूसरे कोम हापाय का और तीसरे को खुरशीद पाये का बहेशत माना गया है। मतलब कि पहला बहेशत सितारों में, दूसरा चंद्रमा में और तीसरा सूर्य के अपार तेज में कल्पित किया गया है। जैन मन्तव्यानुसार सूर्य, चंद्र और तारे देवगति में माने गये हैं। यहाँ जो देवगति के चार प्रकार देवों का उल्लेख है, उसी प्रकार इनमें भी चार तबक्के माने गये हैं।

यह दोड़ख-नरक के लिए गाथा में 'द्रुजो देमान' (बुरई का धाम) नामक एक ही दोड़ख मान्य किया है तो अवेस्ता में हादोख्त नस्क में दोड़ख भी चार विभाग में विभाजित किया गया है । १. दुशमत (बुरे विचारों का) २. दुदुख्त (बुरे वचनों का) ३. दुदुवरश्त (बुरे कार्यों का) ४. सब से भयानक और अत्यन्त दुःखमय स्थान है वह 'अनघ्र तेमह' अथवा अपार अंधकार का दोड़ख ।^{१५}

यह दोड़ख की जगह चिनवल पुल के नीचे कल्पित की गई है । वहाँ एहरेमन (शयतान) तिरस्कार और कटु वचनों से पापियों को आवकार देते हैं । जहाँ जैन मत में सात नरक मान्य की गई है, वहाँ इस मत में चार नरक माने हैं तथा परमाधामी के समान एहरेमन (शयतान) माना गया है । सातवीं नरक जिसका नाम ही तमस्तमानरक है और घोर अंधकार माना गया है वहाँ अनघ्र तेमह में भी घोर अंधकार स्वीकार किया गया है ।

पहेलवी पुस्तक के अरदाविराफनामा में कथन है, कि बहेश्त में उत्तम खुराक, दमामदार पोशाक, सुंदर वातावरण, मनोहर संगीत, दिलकश देखाव, ईझद अमशास्पदों (देवी शक्तियों, फिरश्तों) की महर और दावर अहुरमझद की मुहब्बत रहती है । इसी प्रकार दोड़ख (नरक) में साप, कनखजूग, बिच्छू, कीड़े और अन्य नाशकारक प्राणी पापियों को दुःख पहुँचाते हैं । किसी को तीक्ष्ण हथियारों से ईजा पहुँचाई जाती है तो किसी को उकलते प्रवाही से जलाया जाता है । किसी को भूखा मारा जाता है तो किसी को अत्यंत गंदा और नापसंद खाने को दिया जाता है ।

जिसके पाप और पुण्य एक समान होते हैं, उनका क्या होता है । वे कहाँ रहते हैं ? तो उनका पहेलवी साहित्य में, जैसे कि मीनोअखेरद आदि में इस प्रश्न की चर्चा है कि इस जगत् के और सितार पाये के बहेश्त की बीच में एक "हमेश्तगान" (Purgatory) नामक जगह ऐसे लोगों के लिये है । वह जगह बहुत कुछ इस जगत् के जैसा ही है । वहाँ न अधिक दुःख है और न अधिक सुख है । मात्र गर्मी या सर्दी की सख्ती का अनुभव कभी कभी होता है । जब तक 'रस्ताखीझ' (कयामत) होती है, तक उसे वहाँ रहना पड़ता है ।

स्वर्ग और नरक में जीव कब तक रहता है ? गाथा (यस्त्र ४६, ११) के अनुसार दोड़ख कायम अर्थात्, हमेशा रहता है । विद्वान थियोसोफिस्ट अखद खुरशेद दाबु बिलकुल अन्य रीति से पुनर्जन्म के अनुसार प्रस्तुत करते हैं-कि

दोझख कायम का नहीं हो सकता, क्योंकि गाथा में ही यस्त्र ३०, ११ और ३१, २० में 'दरेगेम आयू तेमंव्वहो' अथवा लंबे समय का अंधकार कहा है। इस प्रकार उन शास्त्रों में स्तारवी, सोशयोस (भविष्य के तारणहार) का आगमन और 'कशोकेरेती' (जगत् का नवसर्जन) होगा। अतः एक पापी आत्मा हमेशा ही नरक में नहीं रहेगी मात्र 'रस्तारवीझ' तक ही रहेगी, ऐसा जरथोशती धर्म का शिक्षण है।^{१६} इस प्रकार स्वर्ग और नरक कायमी नहीं है। कयामत तक ही रहेगे।

इस प्रकार जरथोशती धर्म में स्वर्ग और नरक की अवधारणा संप्राप्त होती है। वह जैन मत से कुछ साम्य और कुछ वैषम्य लिए हुए हैं।

ईस्लाम धर्म में स्वर्ग और नरक-

ईस्लाम धर्म में 'कुरान' को अल्लाह की कलाम प्रस्तुत करती किताब मान्य की गई है। स्वर्ग और नरक के विषय में जरथोशती धर्म के अनुसार ही मान्य किया गया है, परंतु जब तक कयामत नहीं होती तब तक वह स्वर्ग या नरक में नहीं जा सकता। ऐसा मझहबे ईस्लाम में उल्लेख है।^{१७} परंतु वह 'बरझख' नामक स्थिति में ही रहता है। उस मरणांत प्राणी के कब्र में मुनहर और नकीर नामक दो फरिश्ते आकर उससे ईमान संबंधी सवाल करते हैं। यदि वह साबित यकीन का मुस्लिम मालुम होता है तो वह शांति से सोता है और भविष्य में जन्नत (स्वर्ग) की खुशाली उसके लिए निर्माण हो जाती है। परंतु यदि उसका यकीन निर्बल होता है और वह दुष्ट दिखाई देता है, तो एक हथोड़ी से उसे मारा जाता है और धरती के भार से उसे कुचला जाता है, और वह नरक का स्वाद चखता है। मृत्यु के बाद काफिरो की भारी दुर्दशा होती है। वे मुनकर और नकीर नामक फरिश्तों के हाथ से मार खाने के उपरांत बड़े बड़े सर्पों के दंश की वेदना उन्हें सहन करनी पडती है।^{१८}

कयामत के बाद मुस्लिमों की मान्यता के अनुसार प्रत्येक मरणांत प्राणी के खंभे के ऊपर 'किराम उल कातिबीन' नामक दो फरिश्ते बैठते हैं। दांये खंभे पर बैठने वाला अच्छे कार्यों का तथा बांये कंधे पर बैठने वाला बुरे कार्यों का हिसाब रखता है। यह पोथी 'नामे अे अेअेमाल' अथवा कार्यों का चोपडा कहलाता है। यह कयामत के दिन खोला जावेगा। कुरान ४५, २६ के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र के अच्छे बुरे कार्यों की अलग किताब रखी जाती है। उसके बाद

एक तराजू जिसका एक पलड़ा स्वर्ग में और दूसरा पलड़ा नरक में पड़ेगा, उसकी मदद से मनुष्य के पुण्य और पाप तौले जाएंगे। पुण्य अधिक होंगे तो स्वर्ग में और पाप अधिक होंगे तो नरक में भेजे जाएंगे।

उनका शरीर अपने शरीर जैसा नहीं वरन् उनके भले बुरे कार्यों का बना होगा। वह शरीर धारण करके उसे 'अससिरात' नामक पुल पार करना होगा। जो कि बाल से भी बारीक तथा तलवार की धार से भी तीक्ष्ण होगा। जो सवाबी-पुण्यात्मा होगा, वह उसके उपर से सड़सडाट निकलकर स्वर्ग में चला जावेगा और पापात्मा गुड़क कर नीचे नरक में गिर पड़ेगा।^{१९}

जन्नत-स्वर्ग में सुख भोगने के लिये प्रत्येक मनुष्य को शारीरिक बल दिया जावेगा। स्वर्ग में तुबा नामक वृक्ष है, वह तुरंत इन्सान की कोई भी मुराद पूरी कर देगा। वे जन्नतवासी कीमती पोशाकें पहन कर सोनाचांदी के पात्रों में से मनपसंद भोजन करेंगे। तथा अमृत जैसे पेय पीयेगे। कुरान ५६, २२ के अनुसार काली आँखो वाली हुरियाँ उनको आनंद देगी। कुरान ५६-१७-१८ के अनुसार सुंदर-सोहामणे किशोर शराब के प्याले लेकर उनके बीच में फिरते रहेंगे।

स्वर्ग में चार प्रकार की नदियाँ बहेगी— १. रहीक (पानी की) २. तसनीय (दूध की) ३. कौसर (शराबकी) ४. सबसबील (मधु की)। स्वर्ग भी सात है— १. जन्नत अल फिरदौस (ईश्वर की फुलवाडी) २. जन्नत अल अदन (ईदन की वाडी) ३. जन्नत अल खुल्द (अनंतता की वाडी) ४. दार उल मुकाम (शांतिका धाम) ५. दार उल नईम (न्यायमत का धाम) ६. जन्नत उल मावा (रहेठाण की वाडी) ७. ईल्लीयून (सर्वोत्कृष्ट स्वर्ग)^{२०}

इनके मतानुसार स्वर्ग और नरक के बीच में एक दीवाल है, कुरान ७, ४४ में उल्लेख है कि उसका नाम उनल उनरफ है। जिन मनुष्यों का पुण्य और पाप तोल समान उतरता है, वह स्वर्ग या नरक में नहीं जाता, वरन् इस दीवार के पास खड़ा रहता है। यह जरथोशती के समान ही है।^{२१}

कुरान १९, ७२ में स्पष्टतः उल्लेख है कि सभी मनुष्य चाहे वह मुस्लिम हो या अमुस्लिम नरक में तो सभी को जाना ही पड़ेगा। किन्तु जो मुस्लिम है, उनको वहाँ की गर्मी का अनुभव नहीं होता। और वे थोड़े ही समय में वहाँ से निकल जाते हैं। जो अमुस्लिम हैं, वे बहुत लम्बे समय तक कदाचहमेंशा के लिये भी उसको वहाँ रहना पड़े। इस मत के अनुसार नरक की भयंकर

यातनाओं का तो कहना ही क्या ? वहाँ जब खाने के लिए मांगा जाता है 'झकुम' नाम का थुवर जैसा कांटे वाला खुराक तथा पीने के लिये 'हमीम' नाम का उकलता डाबर जैसा गरम पानी मिलता है । असंख्य पीड़ाकारी पशुओं से, डोकों से दोझखी आत्माओं को त्रास दिया जाता है । सबसे अधिक संताप तो नारकीय अग्नि का है, जो सतत जलती रहती है । वहाँ अग्नि से क्षणमात्र भी राहत नहीं मिलती । इस विषय में मौलाना मुहम्मद अली कहते हैं कि यह नरक का नाशकारक आतिश उस व्यक्ति के पोषित विकार और वासना की अग्नि है । इस अग्नि के लिये कुरान १०४, ६ में कथन है कि वह नारकों के हृदयों पर जलेगी । इसी प्रकार कुरान १७, ७४ में उल्लेख है कि जो इस जगत् में अंधा है, वह दूसरी दुनियां में भी अंधा होगा । यह अंधापन नैतिकता का है । कुरान ६९, ३२-३४ में कथन है कि नास्तिकों और दुष्टों को नरक में अग्नि में डालकर ६० हाथ लंबी सांकल से बांधा जाएगा यह सांकल उनके गत जन्म की हवस एवं विकारों का स्थूल स्वरूप ही है ।^{१२}

इनके अनुसार स्वर्ग में फल हैं, तो नरक में कांटे हैं । क्यों कि वह फल की नहीं वरन् पाप के बदले की या निष्फलता की भूमि है । नरक की अग्नि को पापियों का 'मौला'(कु. ५, १४), पापियों की 'मां' (कु. १०१, ६) भी कहा है ।^{१३}

नरक से नीकलने के लिये कथन है कि जब पश्चाताप से नरकवासी पूर्वतः पावन हो जावेगे तब स्वयमेव नरक को छोड़कर नीकल जाएंगे । इस विषय पर आयत की कलमों में ही मतभेद है । कहीं नरक कायम का तो कहीं कायम का नहीं है, ऐसा उल्लेख है । (कु. २, १६२, ५.४०-४१, २२.२२, २२.३२, २०) एवं (कु. ११.०५) । इसमें यह भी कि मुस्लिम तो अल्लाह की मरजी से नीकल भी जावेंगे, किन्तु अमुस्लिम तो नरक में ही रहेंगे ।^{१४}

जिस प्रकार स्वर्ग (बहेशत) सात है उसी प्रकार यहाँ दोझख (नरक) भी सात प्रकार का कहा गया है ।

१. पहले दोझख का नाम है 'जहन्नम'-जहाँ दुष्ट मुस्लिम ही जाते हैं । परंतु यह नरक एक प्रकार का 'हमेस्तगान' (Purgatory) है, क्योंकि वहाँ पाप के प्रमाण में सजा होती है, और अंत में वहाँ के रहीशों का छुटकारा हो जाता है ।

२. इस दोझख का नाम 'लझा' है और वह मात्र यहूदियों के लिये है ।
 ३. तीसरा दोझख हुतम नाम का मात्र ईसाईयों के लिये है ।
 ४. सईर नामक चौथा दोझख सेबयन के लिये है ।
 ५. पांचवाँ दोझख सकर नामका मात्र जरथोशितियों के लिये है ।
 ६. यह जहीम नामका है, उसमें मूर्तिपूजक दुःख पायेंगे ।
 ७. साँतवा दोझख है-हा विये, यह खासतौर पर ढोंगियों के लिये है ।
- मतलब कि जो बातेन से अमुस्लिम होने पर भी अपने आपको मुस्लिम होने का ढोंग करके दूसरों को छलते हैं, वे हाविये में सजा भोगेंगे ।^५

यहाँ मुस्लिम तथा अन्य धर्मावलम्बियों के लिये अलग अलग विधान किया गया है । जो अमुस्लिम है, उनको तो सदा ही नरक में रहना पड़ेगा । ऐसा मान्य किया गया है । फिर भी जो सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान, परमकृपालु, इन्साफी अल्लाह की शरण लेंगे, चाहे वे मुस्लिम होंगे या अमुस्लिम होंगे, वे यदि "उस मालिक की मर्जी के अनुसार ही सर्वत्र अमल हो "ऐसा जो सर्वमान्य शास्त्रवचन है, उसमें श्रद्धा रखकर, परस्पर प्रेम से वर्तन करेंगे तो सब कोई अपने अपने पुण्य के अनुसार देर अवेर से ईश्वर के कृपापात्र होंगे ।^६ जिस प्रकार जैन मत में सात नरक मान्य है उसी प्रकार मुस्लीम मत में भी सात ही संख्या नरकों की मानी है । किन्तु मत भिन्नता यह है कि सब के लिये अलग अलग नरक का विधान नहीं है । सदैव नरक में ही रहे ऐसी मान्यता जैन की नहीं है । संख्या में समानता अवश्य है ।

स्वर्ग की संख्या में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है । इतना अवश्य है कि जो सत्कार्य करके, पुण्योपार्जन करता है, वह स्वर्ग में एवं जो दंभ, पाप, माया आदि करता है, वह नरक की यातनाओं में पीडाता है ।

टिप्पण :-

१. विष्णु-पुराण द्वितीयांश, द्वितीय-अध्याय, श्लोक, ५-९ मार्कण्डेय पुराण अ० ५४ श्लोक ५-७.
२. विष्णु-पुराण द्वितीयांश द्वितीय अ० श्लोक १०-१५
३. विष्णु-पुराण द्वितीयांश चतुर्थ अ० श्लोक १३-१६

४. विष्णु-पुराण द्वितीयांश पंचम् अ० श्लोक २-४
५. विष्णु-पुराण द्वितीयांश पंचम् अ० श्लोक १३-१६.
६. विष्णु-पुराण द्वितीय षष्ठम् अ० श्लोक १३-१६, १-६.
७. विष्णु-पुराण द्वितीय अंश षष्ठम् अ० श्लोक ३४.
८. विष्णु-पुराण द्वितीय सप्तम अ० श्लोक १३-१६, १९-२०
९. विष्णु-पुराण द्वितीयांश षष्ठम् अध्याय श्लोक १२-१८
१०. विष्णु-पुराण द्वितीयांश षष्ठम् अध्याय श्लोक १९-२०
११. तिलोयपण्णत्ती अ०
१२. तिलोयपण्णत्ती अ०
१३. अभिधर्मकोश ३, ४५-१
१४. अभिधर्मकोश ३, ४६-१
१५. अभिधर्मकोश ३, ४५, ४८१
१६. अभिधर्मकोश ३, ५०
१७. अभिधर्मकोश ३, ५१, ५२
१८. अभिधर्मकोश ३, ५४१
१९. अभिधर्मकोश ३, ५५१
२०. अभिधर्मकोश ३, ५६८
२१. अभिधर्मकोश ३, ६३-६४.१
२२. अभिधर्मकोश ३, ४६१
२३. अभिधर्मकोश ३, ५८
२४. अभिधर्मकोश ३, ५९
२५. अभिधर्मकोश ३, ६०
२६. अभिधर्मकोश ३, ६१
२७. अभिधर्मकोश ३, ६५
२८. अभिधर्मकोश ३, ६६, ६७

२९. अभिधर्मकोश ३, ६८
३०. अभिधर्मकोश ३, ३९
३१. अभिधर्मकोश ३, ७१-७२
३२. अभिधर्मकोश ३, ७५, ७७
३३. अभिधर्मकोश ३, ८५, ८७
३४. अभिधर्मकोश ३, ८८, ८९
३५. अभिधर्मकोश ३, ९०
३६. नरक-प्रेत-तिर्यज्यो मानुषाः षड् दिवौकसः । (अभिधर्मकोष ३,१)
३७. **Ranade and Belvelkar : Creative Period p. 375**
३८. **Dr. Law, Heaven and Hell (Introduction) Buddhist conception of spirits.**
३९. ऋग्वेद १.११३.७ से
४०. वही १.१.५४.
४१. वही ७.८.५
४२. वही १०.१४,८; १०.१५.७.
४३. वही १०. १५४.१
४४. **Creative Period p. 26.**
४५. **Creative Period p. 27, 76**
४६. डॉ. देशमुख की **Religion in vedic Literature Chapter 9-13**
४७. देवानां माता-ऋग्वेद १.११३.१९.
४८. ऋग्वेद १.३०.२२
४९. देवानां पितरं : ऋग्वेद २.२६.३
५०. ऋग्वेद १०.१०९.४, ७.२१.७
५१. ऋग्वेद ८.३०.१
५२. ऋग्वेद १.१६४.४६.

५३. देशमुख की पूर्वोक्त पुस्तक पृ. ३१७-३२२ का सार
५४. बृहदा० ४.३.३३.
५५. कठ० १.१.३, बृहदा० ४.४.१०-११, ईश ३-९ १
५६. विभूतिपाद २६.
५७. गणधरवाद प्रस्तावना पृ. २५७.
५८. योगदर्शन व्यास-भाष्य, विभूतिपाद २६.
५९. भाष्यवार्तिककार ने कहा है कि, पाताल अवीचि नरक के नीचे हैं, किन्तु यह भ्रम प्रतीत होता है ।
६०. श्रीमद्भागवत् (छायानुवाद) पृ. १६४, पंचमस्कंध २६.५-३६.
६१. दीघनिकाय के तेविज्जुसुत्त में ब्रह्मसालोकता विषयक भगवान् बुद्ध का कथन देखें ।
६२. अभिधम्मत्थ-संग्रह परि० ५
६३. E R E-cosmogomy and cosmology शब्द देखें ।
महायान के वर्णन के लिए अभिधर्मकोष चतुर्थ स्थान में देखें ।
६४. पेतवत्थु १.५.
६५. Buddhist Conception of spirits p. 24.
६६. ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, शक्र, शतार ये चार नाम अधिक है ।
६७. मौत पर मनन ले. फिरोज़ टावर के आधार से ।
६८. वही पृ. १८०
६९. वही पृ. १८१
७०. वही पृ. १८१-१८२
७१. वही पृ. १८२
७२. वही पृ. १८२
७३. वही पृ. १८३
७४. वही पृ. १८३

७५. वही पृ. १८३.
७६. वही पृ. १८५
७७. पृ. २०३
७८. वही पृ. २०४
७९. वही पृ. २०४-२०५
८०. वही पृ. २०५
८१. वही पृ. २०५-२०६
८२. वही पृ. २०७
८३. वही पृ. २०७-२०८
८४. वही पृ. २०८
८५. वही पृ. २०९
८६. वही पृ. २०९-१०



संदर्भ ग्रंथ सूची

मूलग्रंथ

१. अन्तकृद्दशा सूत्र संपादक-श्री मधुकर मुनि, प्रथमावृत्ति
ब्यावर : श्री आगम प्रकाशन समिती, राज.
२. अनुत्तरौपपातिक दशा. संपा. श्री मधुकर मुनि, प्रथमावृत्ति वि. सं. २०३८
ब्यावर : श्री आगम प्रकाशन समिती, राज.
३. उवासगदसाओ संपा. युवाचार्य श्री मधुकर मुनि, प्रथमावृत्ति
ब्यावर : श्री आगम प्रकाशन समिती, राज.
४. औपपातिक सूत्र. संपा. युवाचार्य श्री मधुकर मुनि, प्रथमावृत्ति
ब्यावर : श्री आगम प्रकाशन समिती, राज.
५. जीवाजीवाभिगम सूत्र भाग १-२. संपा. श्री मधुकर मुनि, प्रथमावृत्ति २०४६
ब्यावर : श्री आगम प्रकाशन समिती, राज.
६. जम्बूदीव पण्णत्ति संगहो/अधिकार जैन संस्कृति संरक्षण, शोलापुर वि. सं.
२०१४
७. ठाणं संपा. युवाचार्य महाप्रज्ञ, लाडनूं : जैन विश्वभारती, प्रथमावृत्ति वि. सं.
२०३३
८. तत्त्वार्थसूत्र-उमास्वाति
 - (क) सर्वार्थसिद्धि-पूज्यपाद संपा. शास्त्री फूलचंद्र
वाराणसी : भारतीय ज्ञानपीठ, द्वितीय संस्करण १९७१
 - (च) तत्त्वार्थवृत्ति-श्रुतसागर संपा. महेन्द्रकुमार प्रथमावृत्ति १९१८
काशी : भारतीय ज्ञानपीठ
 - (छ) तत्त्वार्थसूत्र (विवेचन सहित) संपा. पं. सुखलाल संघवी
तृतीयावृत्ति वाराणसी : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
 - (ज) तत्त्वार्थाधिगम अभिनव टीका. मुनि दीप रत्नसागर
जामनगर : अभिनव श्रुत प्रकाशन -३२

९. तिलोयपण्णत्ति-यति वृषभाचार्य. संपा. उपाध्ये एवं जैन हीरालाल शोलापुर : संस्कृति रक्षकदल
१०. प्रज्ञापनासूत्र भाग १-२-३ संपा. युवाचार्य श्री मधुकरमुनि प्रथमावृत्ति ब्यावर : श्री आगम प्रकाशन समिति ।
११. मूलाचार आ. वट्टकेर वृत्ति-वसुनन्दि अनु-ज्ञानमतिजी नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ
१२. महापुराण. संपा. वैद्य पी. एल. अनु. जैन देवेन्द्रकुमार वाराणसी : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन ।
१३. राजवार्तिक (तत्त्वार्थसूत्र) अकलंकदेव संपा. जैन महेन्द्रकुमार काशी : भारतीय ज्ञानपीठ प्रथमावृत्ति १९५३, १९५७
१४. व्याख्याप्रज्ञप्ति भाग १-२-३-४ संपा. युवाचार्य श्री मधुकरमुनि प्रथमावृत्ति १९९३ ब्यावर : श्री आगम प्रकाशन समिति राज.
१५. सभाष्य (तत्त्वार्थसूत्र) सिद्धसेन गणि संपा. कापडिया हीरालाल रसिकदास बम्बई : जीवनचंद्र साकरचंद्र झवेरी प्रथमावृत्ति १९१५
१६. स्थानांग सूत्र, संपा. श्री मधुकर मुनि प्रथमावृत्ति १९८१ आगम प्रकाशन समिति (ब्यावर) राज.
१७. सूत्रकृतांग सूत्र भाग-१-२ संपा. युवाचार्य श्रीमधुकर मुनि ब्यावर : श्री आगम प्रकाशन समिति, प्रथमावृत्ति
१८. सूयगडो भाग १-२ संपा. युवाचार्य महाप्रज्ञ लाडनू : जैन विश्वभारती, प्रथमावृत्ति १९८४
१९. श्लोकवार्तिलंकार(तत्त्वार्थसूत्र) विद्यानंदी संपा. कोदय माणिकचंद्र कलकत्ता : भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था



अनुषंगिक ग्रन्थ सूचि

१. अमरमुनि-जैन तत्त्वकालिका; प्रथमावृत्ति; आत्म ज्ञानपीठ, मानसा मंडी (पंजाब)
२. मुनि श्री कन्हैलालजी 'कमल'-द्रव्यानुयोग भाग १,२ आगम अनुयोग ट्रस्ट, १५, स्थानकवासी सोसा, नारायणपुरा क्रोसिंग, अहमदाबाद
३. मुनि श्री कन्हैलालजी 'कमल'-जैनागम निर्देशिका, आगम अनुयोग प्रकाशन पो. बॉ. ११४१ दिल्ली - ७.
४. मुनि श्री कन्हैलालजी 'कमल'-गणितानुयोग, आगम अनुयोग ट्रस्ट, १५, स्थानकवासी सोसा, नारायणपुरा क्रोसिंग अहमदाबाद.
५. जगदीशचंद्र जैन-प्राकृत साहित्य का इतिहास भा. १; चौखम्बा विद्याभवन, बनारस.
६. जिनेन्द्रवर्णी-जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भा. १,२,३,४, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
७. पं. दलसुखभाई मालवणिया-गणधरवाद; राजस्थान प्राकृत भारतीय संस्थान, प्रथमावृत्ति
८. पं. दलसुखभाई मालवणिया-पणवणा भा. २; महावीर विद्यालय, बम्बई
९. पं. दलसुखभाई मालवणिया-जैन धर्म-चिंतन, प्राकृत जैन विद्या विकास फंड, अहमदाबाद
१०. धीरजलाल केशवलाल तुरखीया-श्री बृहत् जैन थोक संग्रह, चुनीलाल लक्ष्मीचंद शाह अहमदाबाद.
११. धीरजलाल टोकरशी शाह-जैन धर्मसार-जैन आराधक समिति गोकान्क (बेलगाँव) धवला पुस्तक सं-/खण्ड सं. अमरावती प्र. सं.
१२. मुनि नथमल-अंगसुत्ताणि भा-१; जैन विश्वभारती-लाडनू वि. सं. २०३)
१३. डॉ. मोहनलाल मेहता-जैन धर्म-दर्शन; पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान-वाराणसी
१४. युवाचार्य महाप्रज्ञ-आगम शब्दकोश भाग १; प्रथमावृत्ति, जैन विश्वभारती लाडनू (राज.)-त्रिलोकसार/गाथा; जैन साहित्य बम्बई प्र. सं. ई. १९१८.

१५. रंजन परमार-जैन तत्त्वज्ञान चित्रावलि प्रकाश; सुसंस्कार निधि ट्रस्ट-
अहमदाबाद
१६. पं. मुनिराज श्री रत्नचंद्रजी-सृष्टिवाद अने ईश्वरवाद, श्री जैन साहित्य प्रचारक
समिति; ब्यावर : राज.
१७. डॉ. सुरेखा श्री-जैन दर्शनमें सम्यक्त्व का स्वरूप; खरतरगच्छ जैन ट्रस्ट,
नवरंगपुरा- दादासाहेब का पगला - अहमदाबाद
१८. डॉ. सुदर्शनलाल जैन-उत्तराध्ययन सूत्र-एक परिशीलन- प्रका. सोहनलाल
जैनधर्म प्रचारक समिति-गुरू बाजार-अमृतसर
१९. डॉ. हीरालाल जैन-भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, प्रथमावृत्ति-
मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद-भोपाल
२०. डॉ. दामोदर शास्त्री-'भारतीय दर्शन परम्परायां जैनदर्शनाभिमतदेवतत्वम्'
भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली; यु. बी. बंगलो रोड, जवाहरनगर
२१. महोपाध्याय विनयसागर-'गणधरवाद' प्र. राजस्थान, प्राकृत भारती संस्थान,
जयपुर
२२. मुर्नि श्री प्रमाणसागर-जैन धर्म और दर्शन; श्री दिगंबर साहित्य प्रकाशन
समिति बेरला-जबलपूर
२३. डॉ. पी. एल. वैद्य, जिनसेनाचार्य-महापुराण भा. १ भारतीय ज्ञानपीठ काशी.
२४. आचार्य श्री भुवनभानुसूरिश्चरजी-जैन धर्म का परिचय-दिव्यदर्शन ट्रस्ट,
धोलका-अहमदाबाद



श्री कुशल विचक्षण संस्कार धाम
श्री जिनकुशलसूरि दादावाड़ी, रेल्वे स्टेशन के पास सांगानेर,
जयपुर-303902 (राज.)

वर्तमान युग की बदलती हुई परिस्थितियों में कुसंस्कारों की आंधी को रोकने के लिए जैन समाज में नई चेतना एवं जागृति की आवश्यकता बढ़ गई है। धर्म एवं समाज का सबसे मजबूत आधार हमारे सदसंस्कार हैं, जो हमें हमारे पुरखों से मिले हैं एवं इन्हें हमें धरोहर रूप में आने वाली नई पीढ़ी को सौंपना है।

इसी पावन लक्ष्य को ध्यान में रखकर प.पू. समतामूर्ति प्रवर्तिनी महोदया स्व. श्री विचक्षण श्री जी म.सा. की सुशिष्या शतावधानी प.पू. श्री मनोहर श्री जी म.सा., पू. श्री मुक्तिप्रभा श्री जी म.सा. के शुभ आशीर्वाद से साध्वी डॉ. सुरेखा श्री जी म.सा. के सफल दिशा निर्देश में कुशल विचक्षण संस्कार धाम की स्थापना श्री जिनकुशलसूरि दादावाड़ी, सांगानेर के शांत एवं सुरम्य परिसर में की गई है।

संस्कार धाम में हमारे भविष्य के कर्णधारों को स्कूली शिक्षा के अतिरिक्त धार्मिक शिक्षा, कम्प्यूटर शिक्षा, आवास, संतुलित सात्विक आहार एवं दैनिक व्यवस्थायें निःशुल्क उपलब्ध कराई जा रही है। सामायिक, पूजा, नवकारसी-पोरसी एकाशना, बियासना, आंबिल, उपवास आदि तप पर्वतिथि पर करके कर्मों की निर्जरा करने में सहायक हो रही है। रात्रि भोजन का सर्वथा त्याग करके दुर्गति का द्वार बंद कर सद्गति का पाथेय ले रहे हैं। प्रत्येक रविवारीय स्नात्र पूजा एवं प्रतिदिन प्रतिक्रमण-स्वाध्याय आदि करके आत्मोन्नति के साथ समाज सेवा में अग्रसर हो रहे हैं। इस प्रकार संस्कार धाम की अनुशासित दैनिक दिनचर्या के माध्यम से उनमें सदसंस्कारों का बीजारोपण भी किया जा रहा है।

जैन समाज के आर्थिक दृष्टि से कमजोर बालकों को प्रवेश हेतु प्राथमिकता दी गई है। समाजोत्थान में सहायक हो रही इस संस्था में तन-मन-धन से सहयोग देकर एवं बालकों को अधिक संख्या में भेजने की प्रेरणा दें। बालकों को प्रवेश मात्र पांचवीं से सातवीं कक्षा में दिया जा रहा है तथा दसवीं तक की शिक्षा प्रदान करने की समुचित व्यवस्था की गई है। अधिक जानकारी हेतु उपरोक्त पते पर अथवा पू. साध्वी जी डॉ. सुरेखा श्री जी म.सा. से सम्पर्क करें।